गोली
चतुरसेन

जिसने विना शस्त्र ग्रहण किए एक ही वर्ष में इतना वड़ा अखण्ड चक्रवर्ती राज्य स्थापित कर दिया—जितना न राम का था न कृष्ण का, न अशोक का था न अकवर का, न लहरों के स्वामी ब्रिटेन का। शरीर उसने अपनी इकलौती वेटी को सौंप दिया और चेतना अपनी जन्म-भूमि को अर्पित की। पुत्री रात-दिन सेवा-रत रहती। समय बचा कर सूत कातती। उसी सूत से उसका कुर्ता वनता, धोती वनती। और जब वह फट जाते तो पुत्री मणि उन्हीं को काट-कूटकर अपनी साड़ी-कुर्ती वनाती। यही था उस परम सत्व-का जीवन-वैभव! अपने ही में सम्पन्न, अपने ही में परिपूर्ण।
उन्हीं विश्व के अप्रतिम राजनीति-चक्रवर्ती सार्वभौम सरदार वल्लभ भाई पटेल की दिवंगत पावन आत्मा को मेरा यह उपन्यास सादर समर्पित है।

गोली
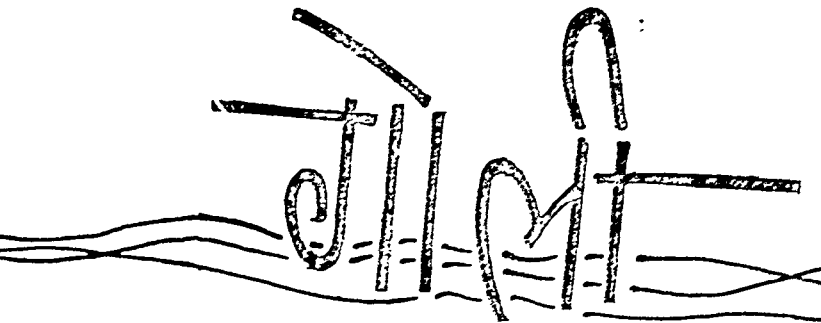
चतुरसेन

टूटे हुए सिंहासन चीत्कार कर उठे

इस वर्ष मैंने ६५वां वर्ष समाप्त कर ६६वें में पदार्पण किया। यह पदार्पण शुभ है या अशुभ, यह बात अदृष्ट और भविष्य पर निर्भर है। स्वास्थ्य मेरा निरन्तर गिरता जा रहा है और इस समय तो मैं अस्वस्थ हूं। गत जून मास में मसूरी गया था, वहीं से घुटनों का दर्द शुरू हो गया। इसी सप्ताह एक्सरे कराया तो पता लगा, जोड़ बढ़ गए हैं। मूल-ग्रन्थियों में भी विकार उत्पन्न हो गया है। इन कारणों से चलने-फिरने से लाचार और कमजोर भी हो गया हूं। मानसिक व्याधि शरीर-व्याधि से भी ऊपर है। फिर भी मैं चलता-फिरता हूं, काम भी करता हूं। शरीर-व्याधि की अपेक्षा मानसिक व्याधि पर मैंने अधिक सफलता प्राप्त की है। गत वर्ष इसी अवसर पर मैंने कहा था, 'मेरे आनन्द में सबका हिस्सा है, केवल मेरा दर्द मेरे लिए है।' आज भी मैं अपने इस वचन को दुहराता हूं। इन दिनों मैंने एक नई अनुभूति प्राप्त की है—दर्द का प्यार में विसर्जन। मेरी इसी नई अनुभूति ने मुझसे नया उपन्यास 'गोली' लिखा डाला है, जिसकी नायिका चम्पा का मैंने 'दर्द का प्यार में विसर्जन' की मनोभूमि में शृंगार किया है। इस शृंगार का देवता है किसुन। मैं जानता हूं, मेरी इस चम्पा को और उसके शृंगार के देवता किसुन को आप कभी भूलेंगे नहीं। चम्पा के दर्द की एक-एक टीस आप एक बहुमूल्य रत्न की भांति अपने हृदय में संजो कर रखेंगे। किसुन के दर्द की परवाह करने की आपको आवश्यकता नहीं है, क्योंकि देवताओं को दर्द व्यापता नहीं है।

एक बात और है। अपनी शारीरिक और मानसिक—दोनों ही व्याधिओं को मैंने अपने परिश्रम से थका डाला है। आप कदाचित् विश्वास न करें कि यह अस्वस्थ और भग्न पुरुष जीवन के समूचे भार को ढोता हुआ आज भी निरन्तर १२ से १८ घण्टे तक अपनी मेज पर झुका बैठा

रहता है। बहुधा उसका खाना-पीना और कभी-कभी सोना भी वहीं सम्पन्न हो जाता है। अपने मन को हल्का करने की मैंने अद्भुत विधि निकाली है। अपने आनन्द और हास्य को तो मैं अपने मित्रों में बिखेरता रहता हूं और दर्द को अपने पात्रों को बांट देता हूं। अपने पास कुछ नहीं रखता। इसके अतिरिक्त मुझे एक अकल्पित-अतर्कित दौलत भी मिल गई—मुन्नी। पैंसठ वर्ष की आयु में विधाता ने मुझे अचानक ही एक पुत्री का पिता बनाकर अच्छा मसखरापन किया। मुन्नी मुझे अब एक नया पाठ पढ़ा रही है, निर्द्वन्द्व हंसते रहने का। अब तक मेरी जीवन-संगिनी अकेली मेरी कलम थी, जो आधी शताब्दी से अखण्ड चल रही है। अब दो जीवन-संगिनी हो गईं—दूसरी हमारी मुन्नी। दोनों की दो राहें हैं—कलम रुलाती है, मुन्नी हंसाती है। आनन्द कहां अधिक पाता हूं,सो नहीं जानता। आप मुझे मूढ़ कह सकते हैं, सो मूढ़ तो मैं हूं ही।

जीवन से मोह मुझे सदा ही रहा, आज भी है। मुन्नी ने उसमें और इजाफा किया है। पर शरीर-धर्म तो अपनी राह चलेगा ही। मैं इन बातों पर ध्यान नहीं देता। पर इस जन्म-दिन ने मेरा ध्यान इधर खींच लिया। सो शरीर अपनी राह पर जाय, मुझे चिन्ता नहीं है, मैं तो अपना काम ईमानदारी से कर रहा हूं। जब तक सम्भव होगा करता रहूंगा। इस वर्ष परिश्रम मैंने बहुत-बहुत किया, पर नाम लेने योग्य ग्रन्थ तो एक ही दिया 'गोली'। परन्तु इसके अतिरिक्त भी इस जन्म-दिवस के क्षण में अपने चिर साध्य 'भारतीय संस्कृति के इतिहास' की पाण्डुलिपि की समाप्ति पर भी हस्ताक्षर किए।

जब से 'गोली' का साप्ताहिक हिन्दुस्तान में धारावाही रूप में छपना आरम्भ हुआ, मेरे पास इसके सम्बन्ध में पत्रों का तांता बंध गया। यह सिलसिला अब भी टूटा नहीं है। इनमें जो प्रशंसात्मक थे, उन्हें पढ़कर मैं खुश हुआ और चूमकर चुपचाप रख लिया, जवाब नहीं दिया। परन्तु जिनमें शंकाएं होती थीं, आलोचना होती थी या कुछ पूछा जाता था, उनका जवाब तो देना ही पड़ता था। फिर भी कुछ पत्र ऐसे आए हैं जिनका जवाब चुपचाप देना मैं उचित नहीं समझता। उन्हें मैं जवाब [illegible]

पास इस अभिप्राय के आए हैं जिनमें पूछा गया है कि इस उपन्यास को आपने क्यों लिखा है? कहीं आप राजा-महाराजाओं की पेन्शन तो बन्द कराना नहीं चाहते? या इन गोली—गुलाम दारोगाओं—को भी पेन्शन का हकदार बनाना चाहते हैं? कुछ पत्र इनसे भी दो कदम आगे हैं। उनका कहना है—कदाचित् आप ऐसा साहित्य लिखकर अपना मुंह बन्द करने के एवज में राजा-महाराजाओं से लाख-पचास हजार रुपया घूंस में ऐंठ लेना चाहते हैं।

अफसोस कि मेरा इस प्रकार का कोई उद्देश्य नहीं है। मैंने तो राजस्थान के साठ हजार निरीह नर-नारियों की एक इकाई के रूप में चम्पा और किसुन को आपके सामने उपस्थित किया है। चम्पा एक ऐसी नारी है जिसकी समता की स्त्री आप संसार के पर्दे पर नहीं ढूंढ़ सकते। जिसका व्यक्तित्व निराला है, जीवन निराला है, आदर्श भी निराले हैं, धर्म निराला है, सुख-दुःख और संसार निराला है। जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। उसका और जिन साठ हजार नर-नारियों का वह प्रतिनिधित्व करती है, यह अद्भुत-अतर्कित जीवन राजस्थान के राजाओं-रईसों ने दिया है। दुनिया में भारतीय राजाओं के बड़े-बड़े ऐश्वर्य के किस्से सुने होंगे। पर इन साठ हजार नर-नारियों की दर्दनाक चीत्कार तो मैं ही विश्व के कानों में पहुंचा रहा हूं। जिससे आप अनजाने थे, सभ्य संसार अनजाना था, और चम्पा का मुंह न खुलता तो अनजान ही रह जाता। यह मत समझिए कि चम्पा कोई कल्पित मूर्ति है। वह एक सजीव स्त्री है, जिसकी वाणी में साठ हजार नर-नारी बोल रहे हैं, जिनका मुंह शताब्दियों से सिया हुआ था। जिनके मुखों पर नहीं—आत्मा पर भी गुलामी के ताले जड़े हुए थे। आज उनका मुंह खुला है तो राजा-महाराजों के टूटे हुए सिंहासन भी चीत्कार कर उठे हैं। क्यों न करेंगे भला? उन जड़े हुए जवाहरात के नीचे से सड़ी दुर्गन्ध जो उठ खड़ी हुई है। उनके मुंह इतिहास के पृष्ठों में सदा के लिए काले जो हो रहे हैं। सम्भव है, इन ऐसे पत्रों के लेखक कोई भूतपूर्व राजा ही हों या राजकुमार, इस्तमरारदार, जागीरदार, माफीदार तथा ऐसे पुरुष हों जिनकी गुजर-बसर गन्दाओं की भांति उनकी छत्र-छाया में बिना परिश्रम किए होती रही

अब उन्हें पसीना बहाने की नौबत आई हो। उनका घबराना स्वाभाविक है। मेरा उन्हें जवाब है कि यद्यपि इस उपन्यास की रचना का तो यह उद्देश्य नहीं जैसा भय उन्होंने प्रकट किया है, पर मैं बिलाशक यह चाहता जरूर हूं कि अविलम्ब इन भूतपूर्व राजा-महाराजाओं की पेन्शनें जब्त कर ली जायं और वह रकम इन सताई हुई साठ हजार पवित्रात्माओं में बांट दी जाय। पर अफसोस है कि मैं भारत का प्रधानमन्त्री नहीं हूं, निरीह साहित्यकार हूं। केवल एक आवाज दुनिया के मनुष्यों तक पहुंचाने की ही शक्ति रखता हूं। सरकार हमारी अहिंसक है, समन्वयवादी है। पचमेल मिठाई उसकी दुकान है। लाल रंग से वह भड़कती है। तिरंगा झण्डा फहराती है, और तिरंगी चाल चलती है। उसके राज्य में भला राजाओं को क्या भय ?

मैं तो जरूर यह चाहता हूं कि जैसा मैं मेहनतकश हूं वैसे ही ये राजा लोग भी बनें। मुझे यदि एक बार प्रधानमन्त्री बना दिया जाय तो मैं पहली कलम इन सब राजाओं को भाखरा बांध पर एक-एक टोकरी और एक-एक कुदाल देकर भेज दूं। इससे उनका अपच भी दूर होगा और मरने से प्रथम कुछ दिन वे ईमानदारी से अपनी कमाई के टुकड़े खाएंगे। क्या आपने सुना नहीं, लालक्रान्ति के दूत लेनिन ने जार और उसके बाल-बच्चों को एक कलम गोली से उड़ा दिया था। आज अब रूस के प्रतापी जार के खानदान वाले इंग्लैण्ड और अमेरिका के होटलों में प्लेटें धोते हैं, रूस की शहजादियां दर्जीखाने में बैठकर मशीनें चला रही हैं या धोबी का धन्धा कर रही हैं, तब क्या कारण है कि इन राजाओं को मुफ्त का माल-मलीदा खाने को भारी-भारी पेन्शनें अभी तक दी जा रही हैं ? मैं पूछता हूं कि किस पुण्यकर्म के बदले में ? क्या आपकी आंखों ने देखा नहीं कि प्रतापी जर्मन सम्राट् कैसर को भी हालैण्ड में जाकर पेट के लिए आरा मशीन चलानी पड़ी थी ? पर इन राजाओं के तो रंग ही निराले हैं। रस्सी जल गई और ऐंठ अभी कायम है। सिंहासन टूट चुके हैं मगर राजा-महाराजा तो अभी भी मौज-मजा करते ही हैं। अब भी उनकी करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति विदेशी बैंकों में जमा है, जब कि पेंशनें भी मिलती हैं। मैं एक ऐसे राजा को जानता हूं जिसके आज भी चौदह ट्रक ठोस सोने और

जवाहरात से भरे तहखाने में न जाने कहां की तैयारी के प्रयास में लदे खड़े हैं—जब कि उनका स्वामी सुबह का चिराग हो रहा है।

आप जानते हैं, जूनागढ़ के नवाब के पास पाकिस्तान जाने से पूर्व ३००० कुत्ते थे, जिनमें १३ सौ विवाहित थे। पिछली बार निजाम हैदराबाद (विलय के बाद) जब राजप्रमुखों की मीटिंग में शरीक होने दिल्ली आए थे, तब पहले ही से उन्होंने ५५ ताबेदार दिल्ली रवाना कर दिए थे, ताकि वे निजाम पैलेस के १०० कमरों को उनके रहने योग्य आरास्ता कर दें। उनके साथ उनकी ७० बीवियों में से १५, ३६ शाहजादियों में से १० और ५६ डाक्टर-नर्स-हज्जाम और अगलम-बगलम साथ थे। गये दिनों बड़ौदा के राजा ने एक घोड़ा कोई चार लाख में खरीदा था। एक बार एक महाराजा ने खामखाह फ्रण्टियर मेल को एक स्टेशन पर महज अखबार पढ़ने के लिए ३७ मिनट लेट करने में ३७ हजार रुपये खर्च कर डाले थे। मुमकिन है कि इन बातों को सुनकर आपको हंसी आ जाय। क्योंकि आपके शरीर में लहू तो है नहीं, पानी है। लहू होता तो आज क्या राजा लोग आपके लोकराज्य में मुफ्त की पेन्शन खाते, जब कि आज आपकी फूल-सी बहू-बेटियां तक पेट के लिए मेहनत के मैदान में उतर चुकी हैं! और ये शर्मदार पत्रलेखक, जो पोतड़ों के रईस मालूम होते हैं, एक साहित्यकार को ऐसा खत लिखने का साहस करते? मैं लानत भेजता हूं, पेन्शन लेने और देने पर परन्तु मैं साहित्य का सृजन तुच्छ भावनाओं से नहीं करता। मैंने तो आपको यह दिखाया है कि मानव कहां आहत हुआ है। एक बार उसकी ओर देख तो लीजिए।

कुछ ऐसे भी पत्र आए हैं जिनके लेखक उनके अभी अब्बाजान मालूम होते हैं। उन्हें शक ही नहीं, करीब-करीब निश्चय है कि यह [illegible] लिखकर मैं डरा-धमकाकर राजाओं से लाख-पचास हजार रुपया [illegible] चाहता हूं। जी हां, लाख की बात तो नहीं कहता, पर ५०-५० [illegible] ढेरी पर तो मुझे लात मारने के अवसर आए हैं। मैं ४० साल [illegible] रहा हूं। भारत का कोई ही नामांकित राजा रहा होगा, [illegible] करने की प्रतिष्ठा मुझे न मिली हो। गया चिकित्सक [illegible] (?), आबरू और सैलाना [illegible] ने मुझे [illegible]

दिया कि उन बातों को तो मैं अब भी जबान पर ला नहीं सकता। सम्भव ही नहीं कि आप उन बातों पर विचार कर सकें। विश्वास कैसे कर सकते हैं आप? आप ठहरे मेहनत-मजदूरी करने वाले, बाल-बच्चों वाले सद्-गृहस्थ—सौ, दो सौ की आमदनी में जीवन चलाने वाले साधारण लोग। आप कैसे उन लोगों के जीवन की विचित्रता की कल्पना कर सकते हैं जो प्रति मास ५०-५० लाख खर्च कर दिया करते थे। ये भयानक खर्च कहां होते थे, किस मद में। आज राजस्थान के रंगीन महलों की सूनी दीवारें उस जमा-खर्च की गवाह हैं? कुछ आंखें अनहोनी घटनाएं देखने वाली अभी जिन्दा हैं। अवसर हुआ तो किसी दिन यह पुराना पानदान भी खोल दूंगा।

अस्वस्थ होने पर भी आज मैं अपनी ६५ वर्ष की अवस्था में १५-१६ घण्टे कड़ी मेहनत करता हूं। किसी रोज आधी रात को चुपके से आकर देख जाइए। फिर भी अच्छा और पुष्टिकर भोजन नहीं पा सकता। परिवार को ठीक-ठीक भोजन-वस्त्र भी नहीं जुटा सकता। बच्चों को स्कूल की फीस भी ठीक समय पर नहीं दे पाता। अभी-अभी अपनी ६६वीं वर्षगांठ के दिन मैंने अपने मित्रों को टूटे प्यालों में चाय पिलाई है। परन्तु इससे क्या? आज भी आप आइए, लाख-दो लाख की थैली लेकर और देखिए कि मेरी लात में वही दम-खम है जो चालीस साल पहले था। मैं इच्छा-दरिद्र साहित्यकार हूं—अपने में मस्त साहित्य-रचना करता हूं अपने लिए, अपनी आत्मतुष्टि के लिए। उसमें न प्रचार-भावना है, न द्वेष-भावना। केवल मनुष्य को प्यार करने और उसे सुखी और भयहीन देखने की मेरी कामना रहती है। वही कामना मेरे साहित्य की प्रेरक शक्ति है। उसीके बल से मैंने चम्पा जैसी स्त्री आपके सम्मुख ला खड़ी की है, ऐसी जैसी आज तक विश्व का कोई साहित्यकार नहीं पेश कर सका। आप खुशी से मेरी मगरूरी का तिरस्कार कर सकते हैं।

—चतुरसेन

जन्मजात कलंकिनी

मैं जन्मजात अभागिनी हूं। स्त्री जाति का कलंक हूं। स्त्रियों में अधम हूं। परन्तु मैं निर्दोष हूं, निष्पाप हूं। मेरा दुर्भाग्य मेरा अपना नहीं है, मेरी जाति का है, जातिपरम्परा का है। हम पैदा ही इसलिए होती हैं कि कलंकित जीवन व्यतीत करें। जैसे मैं हूं ऐसी ही मेरी मां थी, परदादी थी, उनकी भी दादियां-परदादियां थीं। मेरी सब बहिनें ऐसी ही हैं। मैंने जन्म से ही राजसुख भोगा, राजमहल में पलकर मैं बड़ी हुई, रानी की भांति मैंने अपने यौवन का शृंगार किया। हीरे-मोती मेरे लिए कंकर-पत्थर के ढेर थे। मैं मुहरें लुटाती थी, सुनहरी छपरखट पर सोती थी, नित नये छप्पन भोग खाती थी। जरी के पर्दों वाली सुखपाल पर बाहर निकलती थी या हाथी पर सुनहरे हौदे में बैठती थी। रंगमहल में मेरा ही अदल चलता था। दासियां और बांदियां हाथ बांधे मेरी सेवा में रहती थीं। राजा मेरे चरण चूमता था, मेरी भौंहों पर तनिक-सा बल पड़ते ही वह बदहवास हो जाता था। उसका प्रेम समुद्र की भांति अथाह था। प्रजा उसके आतंक से कांपती थी। वह अपने हाथों मेरा शृंगार करता मेहंदी लगाता, जूड़े में फूल गूंथता, इत्र और सुगन्धों की देशी-विलायती शीशियां मेरे अंग पर बिखेरता रहता। दिन में पांच बार मैं पोशाक ब[illegible]ती,

नित्य उवटना करती थीं, पान मेरे लिए महोवे से आते थे और साड़ियां वनारस से। दर्जी मेरी पौर में वैठकर मेरे लिए नित नयी पोशाकें सीता था। मेरा रसोड़ा अलग था। राजा मेरे ही साथ कांसा आरोगता था। मेरे जूठे टुकड़े उसे वहुत प्रिय थे। दिन में, रात में वह मुझे निहारता। कभी चन्दा कहता, कभी चांदनी। कभी चम्पा कहता, कभी चमेली। कभी गुलाव कहता, कभी मालती। उसकी उपमाएं कभी-कभी फूहड़ हो जाती थीं। पर इसकी उसे चिन्ता न थी। कलमुंहे विधाता ने मुझे जो यह जला रूप दिया, वह उस रूप का दीवाना था, प्रेमी-पतंगा था। एक ओर उसका इतना वड़ा राज-पाट और दूसरी ओर वह स्वयं भी मेरे चरण की इस कनी अंगुली के नाखून पर न्यौछावर था।

उससे मुझे पांच सन्तानें हुईं—तीन लड़कियां और दो लड़के। लड़कियाँ सव मेरी जैसी उजागरी थीं और लड़के उसके अनुरूप। मेरी ये पांचों सन्तानें राजा ही के ओर से हुईं, पर वह उनका पिता न था; पिता था मेरा पति, जिसका कर-स्पर्श मैंने केवल एक वार, जव मैं वीस वर्ष की थी, विवाह-मण्डप में किया था; उसके वाद वह मेरी चाकरी में हाजिर रहा। पूरे इक्कीस वर्ष जव तक मैं रंगमहल में रही, मेरा अंग-स्पर्श करना उसके लिए अवैध था, मेरे पलंग और मेरी पोशाकों की सार-सम्भाल करने की उसकी नौकरी थी। वह नित्य ही मेरी सुख-सेज को ताजे फूलों से सजाता था। हर वार मेरी नई पोशाक मेरी खिदमत में हाजिर करता और उतारी हुई को सहेजकर रखता। पर मेरी सेज पर वह अपनी अंगुली का भी स्पर्श नहीं कर सकता था। उसपर आरोहण करने का एकमात्र अधिकार था राजा का। राजा और मैं एक थाल में भोजन करते, उसमें वहुत-सी जूठन वच रहती। जव तक हम खाते रहते, विविध भोज्य पदार्थ अटाले के लोग परसते रहते। परीसगारी कुछ खाने न खाने पर निर्भर न थी, यह रिवाज ही था। हमारा जूठन से भरा थाल मेरे पति का ही हिस्सा था। वह उसे ही मिलता था, जिसकी वह सदैव अटाले की वाहरी पौर पर आतुरता से प्रतीक्षा करता रहता था। हमारे शयन-मन्दिर के वाहर वह रात-भर हाजिर रहकर पहरा देता था। अत्यन्त
[illegible] समझकर ही सौंपा गया था।

रात को दस पलंग-सेविकाएं हमारे शयन-मन्दिर में हाजिर रहती थीं। हमारी आवश्यकताओं की सूचनाएं वे उसे देतीं। कभी दारू की आवश्यकता होती, कभी झारी का पानी चुक जाता, कभी पानों की जरूरत पड़ती। ये सब सेवाएं वही करता था।

वह एक सुन्दर, तरुण, भावुक और प्रेमी पुरुष था। उसकी आंखें मेरे लिए प्यासी थीं, शरीर मेरे लिए भूखा था। उसकी भूख और प्यास मेरी आंखों से ओझल न थीं। राजा के जर्जर और रोगी तथा घावों से भरे हुए शरीर की अपेक्षा उसकी जवानी का भरा-पुरा गठीला परिश्रमी शरीर मेरे लिए कम लोभ की वस्तु न थी। फिर वह मेरा परिणीत पति था, मैं उसकी विवाहिता स्त्री थी। परन्तु मेरा धर्म मेरे साथ था। मैं उसे छू भी न सकती थी। उसकी प्यासी आंखें और भूखा शरीर देखकर बहुधा मुझे एक नशा जैसा हो जाता था, पर इससे क्या? मेरी सेज का स्वामी तो राजा था? उसके साथ तो मैं एक चाकर से अधिक व्यवहार नहीं कर सकती थी। बहुत बार उसने मेरे पैर दबाने की चाकरी करने की चिरौरी की। वह इसी बहाने मेरे शरीर को छूने का सुख लूटना चाह रहा था, पर मैंने स्वीकार न किया। कुछ अपने धर्म के भय से और कुछ इस भय से भी कि मेरा मन कहीं डिग न जाय। पर, मैं उसपर कृपा बहुत करती। हमारा जूठा थाल तो उसे नित्य मिलता ही था। राजा के सब उतारे हुए वस्त्र भी मैं उसे दे देती। रंगमहल की रद्दी और फालतू चीजें भी। उन सबसे उसने अपना घर सजाया था और उस सजे हुए घर का उसे बहुत गर्व था। उसने बहुत बार चिरौरी की कि एक बार मैं उसके घर को अपने चरणों से पवित्र करूं। पर इक्कीस वर्ष तक भी उसकी यह इच्छा मैं पूर्ण न कर सकी, अलबत्ता बच्चे सब उसीके पास रहते थे। उनकी पूरी सार-सम्भाल उसीपर थी। वह उनका पिता था। वे उसकी औरत से उत्पन्न नहीं हुए थे, वे उसकी पत्नी से उत्पन्न हुए थे। मैं उसकी पत्नी थी, पर मुझसे उन बच्चों का कोई सरोकार न था। पाठक-पाठिकाओं को मेरी यह कहानी निराली-सी लगेगी, अटपटी-सी लगेगी। अटपटी मुझे भी लगती है। स्त्री हूं, स्त्री-हृदय रखती हूं, कुछ बुद्धि भी है। इसीसे तो कहती हूं कि मैं जन्मजात अभागिनी हूं, स्त्रीजाति का कलंक हूं। स्त्रियों में

अधम हूं, परन्तु मैं निर्दोष हूं, निष्पाप हूं। मेरा दुर्भाग्य मेरा अपना नहीं है, मेरी जाति का है, जातिपरम्परा का है, क्योंकि मैं गोली हूं।

नाम नहीं बताऊंगी

देखिए, मैं अपनी समूची कहानी आपको बताने पर आमादा हूं। निस्सन्देह आपको वह अद्भुत और अनहोनी-सी लगेगी। कभी न सुनी हुई बातें और कभी न देखे हुए तथ्य आपके सामने आएंगे। मैं सब कुछ आपबीती आपको कह सुनाऊंगी। कुछ भी छिपाकर न रखूंगी। परन्तु न तो अपना असली नाम आपको बताऊंगी, न उस ठिकाने या ठाकुर का, जिसकी पर्यंकशायिनी मेरी मां थी। न उस राजा का. जहां मैंने रानी के समान इक्कीस वर्ष रंगमहल में बिताए। न मैं उस रियासत का नाम बताऊंगी जहां मैं थी। मेरे लड़के-बच्चे हैं। बहुत कुछ तो वे जानते हैं, परन्तु अपनी मां की कलंक-कहानी को जहां तक वे न जानें, न सुनें, यही अच्छा है। खास कर इसलिए भी कि अब न वे राजा रहे, न रियासतें। उन सबका गणराज्य में विलय हो गया। राजस्थान की शताब्दियों की गुलामी की बेड़ियां टूट गईं। वहां की प्रजा भी, जो कभी गूंगी, बहरी, असहाय और परममुखापेक्षी थी, अब वाचाल हो गई। अब तो राजस्थान में नया जीवन, नया रंग-ढंग, नया जोश लहरें मार रहा है। बुरी बातों की अब भी कमी नहीं है। पर सैकड़ों वर्षों की गुलामी की कलौंस मिटते-मिटते आखिर वक्त तो लगेगा ही। आजादी की इस हवा में हम गोलियां भी आजाद हो गई हैं, और हमारे लड़के-बच्चे भी, जिनका खून राजाओं और ठाकुरों के यहां बन्धक था, आजाद हो गये हैं। अब वे जितना चाहें पढ़-लिख सकते है, काम-धन्धा कर सकते हैं, नौकरी कर सकते हैं, खुद दूसरों को नौकर रख सकते हैं। वे अब स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र नागरिक हैं। मेरे लड़कों ने भी विश्वविद्यालय की उच्च उपाधियां प्राप्त की हैं। एक प्रसिद्ध एडवोकेट है, दूसरा अभी दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ रह

है। लड़कियों में एक एम० बी० बी० एस० पास करके राजस्थान के एक नगर में प्रसिद्ध डाक्टर है। उसने सम्भ्रान्त कुल के एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण से विवाह किया है। उसके दो फूल जैसे सुन्दर बच्चे भी हैं। दूसरी लड़की एक भूतपूर्व राजा की पत्नी है। ऐसी हालत में यह भला कहां मुनासिब होगा कि मैं अपना सही परिचय आपको दूं। और मेरे ये बच्चे, जो आज प्रतिष्ठित नागरिक हैं, यह जान जाएं कि वे एक गोली की औलाद हैं, जिसका रक्त पीढ़ियों की परम्परा से उसके राजपूत ठिकानेदार के घराने में बंधक था, जिसकी माता ने विवाह की वेदी के बाद पति का स्पर्श नहीं किया और जो स्वयं अपने ठिकानेदार की लड़की के विवाह में दहेज में दी गई और उस लड़की के पति राजा की भोग्य वस्तु रही, विवाहित पति का जिसे स्पर्श भी निषिद्ध था, जो इक्कीस वर्ष तक दहेज की दौलत की भांति एक कामुक राजा की पर्यंकशायिनी रही और जिसने अपनी अवैध सन्तान को अपने उस पति पर डालकर निर्लज्जता की पराकाष्ठा कर दी, जिससे उसने इक्कीस वर्ष सेवक की भांति व्यवहार किया।

नहीं-नहीं, ऐसी अधम औरत का सच्चा परिचय सभ्य पुरुष को नहीं दिया जा सकता और उसकी प्रतिष्ठित सभ्य नागरिक सन्तान को तो कतई नहीं। इसलिए मैं अपने जीवन की अद्भुत और रोमांचकारी कहानी तो सच्ची-सच्ची सबको सुनाऊंगी पर नाम-ठिकाने सब झूठे और काल्पनिक बताऊंगी, आप चाहे पढ़ें या न पढ़ें।

विगत इतिहास

जी हां, बीते हुए युग की बीती हुई बातों का इतिहास भी आप जरा सुन लीजिए। राजपूती जीवन के शौर्य, वीरत्व और तलवार की यशो-गाथा तो आपने बहुत सुनी होगी, पर सामन्तशाही की [illegible] चारिता ने उनके घरेलू जीवन में भी भीषण कलंक उत्पन्न कर दि[illegible]

हमारी गोलियों की जाति थी। हम जन्मजात गुलाम थे। हमें न अपनी सन्तानों पर कोई अधिकार था, और न हम कोई निजू सम्पत्ति रख सकते। न पति का पत्नी पर अधिकार था, न पत्नी का पति पर। हमें भेड़-बकरियों के रेवड़ की भांति बेचा जा सकता था, दहेज में दान दिया जा सकता था। एक-एक राजपूत राजा और ठिकानेदार की लड़की के विवाह पर १०, २०, ५०, १०० तक गोलियां दहेज में दी जाती थीं। गोले-गोलियों का महत्त्व दहेज के हाथी-घोड़ों तथा वस्त्र-रत्न सबसे अधिक था। दहेज में आकर सब गोलियों को उस राजपूत कन्या के पति की उपपत्नी या रखैल की भांति रहना पड़ता था। उनका जूठा भोजन करना, उनके उतरे कपड़े पहनना, उनकी चरण-सेवा करना और उनकी उचित तथा अनुचित सभी आज्ञाओं का निर्विरोध पालन करना, हम सब गोले-गोलियों का धर्म था। यह नौकरी न थी धर्म था, जिसका पालन न करने पर हमें नरक में जाने का भय था। तिस पर भी बीते हुए युग में, जब तक अंग्रेजों के बनाए हुए क़ानूनी अंकुश का प्रभाव राजस्थान पर न हुआ, तब तक बहुत-सी गोलियों को राजा के मरने पर सती भी होना पड़ता था। बहुत करके तो दहेज या दान में आई हुई गोलियों का विवाह हमारी ही जाति के किसी गोले से कर दिया जाता था। पर वह विवाह केवल इसलिए होता था कि हमारी सन्तान का वह केवल वैधानिक पिता बन जाय। जिस गोले से गोली का विवाह होता था, वह बूढ़ा भी हो सकता था, नपुंसक भी हो सकता था। खास कर सुन्दरी और तरुण गोलियों के लिए तो ऐसा ही दूल्हा तजवीज किया जाता था। पति से पत्नी का, गोले से गोली का शरीर सम्बन्ध प्रायः नहीं हो पाता था। गोली ठाकुर की, राजा की पर्यंक-शायिनी, चरण-सेविका या पलंग-दासी के रूप में रहती थी। राजा-रानी, ठाकुर-ठकुराइन जब परस्पर सम्भोग-रत रहते थे, तब भी हम गोलियों को उपस्थित रहना पड़ता था और उन्हें शराब पिलाना या उनकी वासना को भड़काने वाली दूसरी सेवाएं करनी पड़ती थीं। गरज, हमसे ठाकुर-राजा का कुछ भी गोपनीय न था। विवाह हमारा इसलिए किया जाता था कि जो सन्तान उत्पन्न हो, वह विवाहित पति की घोषित कर दी जाय और उसकी जाति गोला-गोली ही रहे, वह राजपूत न कहलाए। वह

गुजारा पाने की हकदार हो न रियासत की दावेदार। परन्तु किसी-किसी गोली दासी पर राजा या ठिकानेदार विशेष कृपा करते थे। उन्हें वे पड़दायत बना लेते थे। ये पड़दायत बाकायदा अर्थात् घोषित पासवानियां कहलाती थीं। वे पर्दे में रहती थीं। अपनेको साधारण गोली से अधिक इज्जतदार समझती थीं और राजा या ठाकुर के मर जाने पर उनके साथ चिता में भी जलती थीं। ऐसे भी उदाहरण राजपूताने के इतिहास में हैं जब कि एक-एक राजा के साथ ५०-१०० पड़दायतें सती हुई हैं। जहां राजा की रानियां सती होने पर सुप्रतिष्ठित होती थीं, वहां ये पासवानें भी राजा के साथ जल मरना अपनी शान और अपना धर्म समझती थीं। इन पड़दायतों का विवाह नहीं होता था, न कोई गोली-गुलाम उनका पति होता था। न उनकी सन्तान गोला-गोली कहलाती थी परन्तु वह सन्तान शुद्ध राजपूत भी नहीं कहला सकती थी। न वह राजा हो सकती थी, न राजा का उत्तराधिकार पा सकती थी। उसका दर्जा राव राजा का होता था। आपने राजस्थान के अनेक राव राजाओं के नाम सुने होंगे। उन्हें कुछ गुजारा राजा देता था, पर विवाह इनका भी गोलियों में ही होता था। राजपूत की बेटी से ये विवाह नहीं कर पाते थे। इनमें से अनेक राजसी ठाठ से रहते या राजा के बड़े ओहदेदार भी होते थे, परन्तु न तो [illegible], न योग्यता ही उन्हें राजपूतों के बराबर बना सकती थी। राजपूत होने से ही उनके भाग्य का कलंक नहीं मिट सकता था। वे राजा और ठाकुर के विलास-व्यभिचार से दासियों और उपपत्नियों से उत्पन्न फालतू सन्तान थे।

राजस्थान-विलय के समय हमारी ज
गोले-गोलियां राजाओं और ठाकुरों के रनव
और विलास-वासना का शिकार बने हुए थे
अब भी, स्वतन्त्र भारत में भी इन गोलियों
गया है। रस्सी जल गई है, पर उसके बल न
नहीं रहे, ठिकानेदार नहीं रहे। उनकी रा
सत्ता खत्म हो गई। पर उनके घरों में अब भ
का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अधिक नहीं।

में भी इन भूतपूर्व राजाओं की विवाह-शादियों में गोलियां दहेज में दी गई हैं, जिनकी तरफ राजस्थान के समारोह-उद्घाटन-शूर मन्त्रियों को ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं मिली।

यह दुराचार निस्सन्देह राजपूतों के उस कठिन और अनिश्चित जीवन की प्रतिक्रियास्वरूप पैदा हुआ था जो उन्होंने मध्य युग में व्यतीत किया था। तव प्रत्येक राजपूत को नंगी तलवार रखकर सोना पड़ता था और किसी भी क्षण वह समर में जूझ सकता था। मरना और मारना ही उसका पेशा था, ध्रुव ध्येय था। इसीसे राजपूत अपने बुद्धिवैभव को नहीं वढ़ने देते थे। अफीम का घोल पीते थे, शराव में धुत रहते थे, जिससे वे मरने-जीने की वात सोच-समझ न सकें और जव चाहें कट मरें। अफीम का नशा तीर और तलवारों की लड़ाई के लिए अधिक उपयुक्त था, क्योंकि इससे एक प्रकार की जड़ता शरीर में आती थी और तीर तलवार के आघात की वेदना की अनुभूति कम होती थी। युद्ध से लौटने पर शिकार और स्त्री दो ही उनकी भोग-सामग्री होती थी। मुसलमानों के हरमों में हजारों स्त्रियों की भीड़-भड़भड़ इन हिन्दू राजाओं की ही देखा-देखी वढ़ी- और इनकी शुरुआत हुई दक्षिण से, जहां विजयनगरम के राजा के रंगमहल में ८ हजार स्त्रियां थीं। उनके अनुकरण पर वहमनी वादशाहों ने भी स्त्रियों के रेवड़ भरे। फिर इस हरम का परिष्कृत रूप मुगलों के ऐश्वर्य का प्रमुख चिह्न वन गया, जवकि उनका साम्राज्य सुदृढ़ पायों पर स्थापित हो गया था। मुगलों ने राजपूतों से मेल किया, रोटी-वेटी का व्यवहार किया, राजनीतिक और सांस्कृतिक सहयोग किया। तव यह स्वाभाविक ही था कि उन अशक्त और मुगलों के दरवारी राजाओं पर मुगल ऐश्वर्य का भी सीधा सांस्कृतिक प्रभाव पड़ता, और ऐसा ही हुआ भी। वहुपत्नीत्व तो था ही धार्मिक रूप में निर्वाध, मुसलमानों में भी और हिन्दुओं में भी। उधर मुगलों के खिराज में भी सुन्दर लड़कियों का एक अनुपात अनिवार्य हो गया था। देश-देश के सूवेदार अपने-अपने प्रान्त से छांट-छांट कर सुन्दर लड़किया मुगल दरवार में वार्षिक खिराज के साथ भेजते थे, जो मुगल हरम की शोभा वढ़ाती थी, वादशाहों और शाहजादों की अंकशायिनी और प्रिय साकी होती थीं। ...

आदि भी थे। ऐसी हालत में, जबकि इन राजपूतों की लड़कियां मुगलों की प्रधान बेगम और बादशाहों की मां बन गई थीं, क्यों न बुराइयों के बीज उनके रंगमहल में उगते ? वे उगे, जिनके फलस्वरूप हमारी—गोलियों की, गोलों की—गुलाम जाति बनी। इनकी लड़कियां राजपूत ठाकुरों और राजाओं की रखेलियां, उप-पत्नियां और भोग-दासियां थीं और लड़के टुकड़-खोर गुलाम दास। राजपूतों की दासता और स्वेच्छाचारिता की पूर्ति ही इनका धर्म था।

अंग्रेजी शासन में कुछ दशा बदली थी, क्योंकि इस प्रथा को कायम रखना उन सिद्धान्तों के प्रतिकूल था, जिनपर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार प्रतिष्ठित थी। व्यक्तिगत स्वाधीनता का अधिकार और अपने जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार बनाए रखने का हक दूसरों को भी उसी प्रकार की स्वाधीनता देते हुए स्वीकार किया गया और व्यवहार में लाया जाने लगा। इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाकरों पर मालिकों का अधिकार मानने से इन्कार कर दिया। उसने इन स्वत्वों को अस्वीकृत ही नहीं किया, अपितु एक कानून बनाकर उन स्वत्वों का उपभोग करना एक जुर्म करार दे दिया। इस प्रकार ब्रिटिश राज्य की सब रियासतों में तो चाकरों और गोलों के ऊपर मालिकों के अधिकार का खातमा हो गया और सब गोले चाकर फिर से स्वतन्त्र हो गये, पर यह कानून उस भूभाग में प्रचलित नहीं हुआ जो देशी राज्यों के अधिकार में था। वहां यह प्रथा बराबर जारी रही। इन राज्यों की प्रजा शिक्षा की कमी के कारण अपने अधिकारों से बेखबर थी, इसलिए हमारे मालिक राजपूत अपने अधिकारों पर दृढ़ता के साथ जमे रहे और उनका उपभोग करते रहे। चाकरों ने, गोलों ने भी कभी इनका विरोध नहीं किया। गोलों को चाकर कहा जाता था, नौकर नहीं। नौकर स्वेच्छा से नौकरी कर और छोड़ सकता था पर चाकर ऐसा नहीं कर सकता था। मालिक गोलों को खाना-कपड़ा [illegible]
आदि का खर्च देते थे। मौसर का खर्चा सिर्फ घरज[illegible]
मिलता था। घरजा चाकर वह था जो घर ही में उत्प[illegible]
किसी भी हालत में न मालिक की आज्ञा का उल्लंघ[illegible]
सेवा छोड़ सकते थे। चाकरों की सन्तान पर मालिक क[illegible]

में भी इन भूतपूर्व राजाओं की विवाह-शादियों में गोलियां दहेज में दी गई हैं, जिनकी तरफ राजस्थान के समारोह-उद्‌घाटन-शूर मन्त्रियों को ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं मिली।

यह दुराचार निस्सन्देह राजपूतों के उस कठिन और अनिश्चित जीवन की प्रतिक्रियास्वरूप पैदा हुआ था जो उन्होंने मध्य युग में व्यतीत किया था। तब प्रत्येक राजपूत को नंगी तलवार रखकर सोना पड़ता था और किसी भी क्षण वह समर में जूझ सकता था। मरना और मारना ही उसका पेशा था, ध्रुव ध्येय था। इसीसे राजपूत अपने बुद्धिवैभव को नहीं बढ़ने देते थे। अफीम का घोल पीते थे, शराब में धुत रहते थे, जिससे वे मरने-जीने की बात सोच-समझ न सकें और जब चाहें कट मरें। अफीम का नशा तीर और तलवारों की लड़ाई के लिए अधिक उपयुक्त था, क्योंकि इससे एक प्रकार की जड़ता शरीर में आती थी और तीर तलवार के आघात की वेदना की अनुभूति कम होती थी। युद्ध से लौटने पर शिकार और स्त्री दो ही उनकी भोग-सामग्री होती थी। मुसलमानों के हरमों में हजारों स्त्रियों की भीड़-भड़भड़ इन हिन्दू राजाओं की ही देखा-देखी बढ़ी-और इनकी शुरुआत हुई दक्षिण से, जहां विजयनगरम के राजा के रंगमहल में ८ हजार स्त्रियां थीं। उनके अनुकरण पर बहमनी बादशाहों ने भी स्त्रियों के रेवड़ भरे। फिर इस हरम का परिष्कृत रूप मुगलों के ऐश्वर्य का प्रमुख चिह्न बन गया, जबकि उनका साम्राज्य सुदृढ़ पायों पर स्थापित हो गया था। मुगलों ने राजपूतों से मेल किया, रोटी-बेटी का व्यवहार किया, राजनीतिक और सांस्कृतिक सहयोग किया। तब यह स्वाभाविक ही था कि उन अशक्त और मुगलों के दरबारी राजाओं पर मुगल ऐश्वर्य का भी सीधा सांस्कृतिक प्रभाव पड़ता, और ऐसा ही हुआ भी। बहुपत्नीत्व तो था ही धार्मिक रूप में निर्बाध, मुसलमानों में भी और हिन्दुओं में भी। उधर मुगलों के खिराज में भी सुन्दर लड़कियों का एक अनुपात अनिवार्य हो गया था। देश-देश के सूबेदार अपने-अपने प्रान्त मे छांट-छांट कर सुन्दर लड़कियां मुगल दरबार में वार्षिक खिराज के साथ भेजते थे, जो मुगल हरम की शोभा बढ़ाती थी, बादशाहों और शाहजादों की अंकशायिनी और प्रिय साकी होती थी। फिर गुलाम (लौंडी, खोजा)

आदि भी थे। ऐसी हालत में, जबकि इन राजपूतों की लड़कियां मुगलों की प्रधान बेगम और बादशाहों की मां बन गई थीं, क्यों न बुराइयों के बीज उनके रंगमहल में उगते? वे उगे, जिनके फलस्वरूप हमारी—गोलियों की, गोलों की—गुलाम जाति बनी। इनकी लड़कियां राजपूत ठाकुरों और राजाओं की रखेलियां, उप-पत्नियां और भोग-दासियां थीं और लड़के टुकड़-खोर गुलाम दास। राजपूतों की दासता और स्वेच्छा-चारिता की पूर्ति ही इनका धर्म था।

अंग्रेजी शासन में कुछ दशा बदली थी, क्योंकि इस प्रथा को कायम रखना उन सिद्धान्तों के प्रतिकूल था, जिनपर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार प्रतिष्ठित थी। व्यक्तिगत स्वाधीनता का अधिकार और अपने जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार बनाए रखने का हक दूसरों को भी उसी प्रकार की स्वाधीनता देते हुए स्वीकार किया गया और व्यवहार में लाया जाने लगा। इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाकरों पर मालिकों का अधिकार मानने से इन्कार कर दिया। उसने इन स्वत्वों को अस्वीकृत ही नहीं किया, अपितु एक कानून बनाकर उन स्वत्वों का उपभोग करना एक जुर्म करार दे दिया। इस प्रकार ब्रिटिश राज्य की सब रियासतों में तो चाकरों और गोलों के ऊपर मालिकों के अधिकार का खात्मा हो गया और सब गोले चाकर फिर से स्वतन्त्र हो गये, पर यह कानून उस भूभाग में प्रचलित नहीं हुआ जो देशी राज्यों के अधिकार में था। वहां यह प्रथा बराबर जारी रही। इन राज्यों की प्रजा शिक्षा की कमी के [illegible] अधिकारों से बेखबर थी, इसलिए हमारे मालिक राजपूत अपने [illegible] पर दृढ़ता के साथ जमे रहे और उनका उपभोग करते रहे। [illegible] गोलों ने भी कभी इनका विरोध नहीं किया। गोलों को [illegible] था, नौकर नहीं। नौकर स्वेच्छा से नौकरी कर [illegible] चाकर ऐसा नहीं कर सकता था। मालिक गोलों [illegible] आदि का खर्च देते थे। मौसर का खर्चा [illegible] मिलता था। घरजा चाकर वह था जो घर ही [illegible] किसी भी हालत में न मालिक की आज्ञा [illegible] सेवा छोड़ सकते थे। चाकरों की सन्तान [illegible]

उनकी जिन लड़कियों को मालिक अपनी लड़की के दहेज में देते थे, वे लड़कियां भी अन्य सामान के साथ दहेज की सम्पत्ति हो जाती थीं। कभी-कभी कुटुम्ब का कुटुम्ब दहेज में दे डाला जाता था।

मेरी मां

मेरी मां के अन्नदाता एक छोटे-से ठिकाने के ठाकुर थे। उनके ठिकाने की आय बहुत सीमित थी जिसकी पूर्ति वह डाके डलवा कर करते थे। उनके अमल-पानी और रनवास के खर्चे इसीसे चलते थे। उनके अधीन जोरावर धाड़ेमार डाकुओं की टोलियां थीं। ये टोलियां ठिकाने में डाका नहीं डालती थीं, दूसरे राज्यों में ऊंटों पर चढ़कर लूट-मार करती थीं। लूट के माल में से एक तिहाई ठाकुर को मिलता था, शेष डाकू लोग बांट लेते थे। इन डाकुओं की बदौलत ठिकाने में भी ठाकुर की भारी धाक थी। ठिकाने का कोई बनिया या दूसरी जाति की रैयत अपने बेटे-बेटी का विवाह उस समय तक नहीं कर सकता था, जब तक ठाकुर को 'लाग' न दे दे। लाग में एक छकड़ा-भर आटा, मैदा, घी, चीनी, चावल, कपड़ों के थान और कुछ नकद रुपये भी होते थे। रैयत की हैसियत के अनुसार इस लाग की मात्रा कम या अधिक होती थी। लाग लेकर लड़के या लड़की वाला ठाकुर की गढ़ी में हाजिर होकर अरदास करता था कि उसके बेटे-बेटी का विवाह मंजूर होने का हुकुम फर्माया जाय। तब ठाकुर लाग की जिन्सों की पड़ताल करते थे। सन्तोषजनक होने पर विवाह की स्वीकृति देते थे। जो कोई लाग नहीं देता था उसकी बरात लूट ली जाती थी या दुलहिन उड़ा दी जाती थी। विवाह होने के बाद दुलहिन को सबसे पहले ड्योढ़ियों में हाजिर होना पड़ता था, पसन्द आने पर कभी-कभी ठाकुर ही सर्वप्रथम दुलहिन का कौमार्य भंग करते थे। केवल ठाकुर के सजातीय, राजपूत और ब्राह्मण ही इस लाग-डांट से मुक्त थे।

मेरी मां सपरिवार माता-पिता के साथ यहां दहेज में आई थी।

उस समय उसकी आयु केवल पन्द्रह वर्ष की थी। मेरी मां के माता-पिता, भाई-बहन सब मिलाकर सात जने थे। मेरी मां सबसे छोटी और सुन्दर थी। ठाकुर की उसपर शुरू से ही नजर थी। मेरी मां के पिता एक वीर पुरुष थे। तलवार चलाने में उनके जोड़ का आदमी आसपास न था। अपनी शूरता की विशेषता के कारण ही वह सपरिवार घोड़ा और तलवार सहित दहेज में दिए गये थे। विवाह के समय कुंवरी की आयु भी मेरी मां के समान कच्ची थी। वह मेरी मां को बहुत मानती भी थीं। ससुराल आकर मेरी मां कुंवरी की खास खवासिन के रूप में रात-दिन चाकरी में हाजिर रहती थी। आगे चलकर वह पलंग-सेविका बना दी गई, और फिर पैर में सोना देकर पड़दायत बना दी गई। पड़दायत बना देने के कारण मेरी मां का विवाह किसी गोले से नहीं हुआ। वह ठाकुर की रखै-लियों में रही। यह गोले-गोलियों के लिए कम सम्मानजनक बात न थी। पड़दायत का मामला भी एक खास घटना के कारण हुआ। एक दिन ठाकुर एक युद्ध में गये। यह युद्ध वास्तव में एक धाड़ थी। किसी दूसरी रियासत के राजा की एक बरात ठिकाने की सीमा में होकर गुजर रही थी। सूचना पाकर धाड़ेती लोग सांडनियों पर सवार होकर उसके पीछे लग गये पर बरात के साथ काफी सिपाही और लाव-लश्कर था, इसलिए ठाकुर स्वयं भी इस मुहिम पर डाकुओं के साथ गये। इस समय मेरी मां के पिता घोड़े पर सवार ठाकुर की रकाब के साथ थे। बरात पर धाड़ पड़ी तो बरात के लोगों ने डटकर डाकुओं का मुकाबला किया। उसमें ठाकुर के प्रायः सभी साथी डाकू मारे गये। ठाकुर भी घायल होकर घोड़े से नीचे गिर गये। मेरी मां का पिता भी ठाकुर की रक्षा करने में वीरतापूर्वक लड़कर घायल हुआ। पर वह ठाकुर को रणक्षेत्र में गिरता देख, उन्हें मरा हुआ समझ, उनके घोड़े पर बैठ अपने प्राण लेकर घर लौट आया और उसने ठाकुर के मरने की खबर आ सुनाई। ठाकुर के मरने की खबर सुनकर गढ़ी में रोना-पीटना मच गया। ठकुराइन ने पीले वस्त्र पहने, हाथों में मेहंदी रचाई, मांग में सिंदूर दिया और चिता सजवाकर वह उसमें बैठ गई। सती रानी की जय-जयकार से दिशाएं गूंज [illegible] रानी जलकर खाक हो गई। पर अभी चिता ठण्डी भी नहीं [illegible]

ठाकुर घायल अवस्था में गिरते-पड़ते आ पहुंचे। ठाकुर को जीता-जागता देखकर सब लोग सक्ते की हालत में रह गये। जब ठाकुर ने ठकुराइन के सती होने का समाचार सुना, तब उन्होंने अपने सिर के बाल नोंच डाले। बड़ी कठिनाई से ठाकुर के कोप से मेरी माता के पिता की रक्षा हुई और तभी से उन्होंने मेरी मां को बाकायदा ठाकुर का भेंट कर दिया। मेरी मां के अद्वितीय रूप और सौन्दर्य पर ठाकुर तो पहले से ही लट्टू थे, उसने उसके पैरों में सोना देकर पड़दायत बना लिया। किन्तु उन्होंने मेरी मां के पिता की तलवार और घोड़ा छीन लिया और यह आन फेर दी कि अब से कोई गोला ठिकाने में कभी न घोड़े पर चढ़ने पाएगा, न तलवार बांध सकेगा।

ठाकुर की तीन ठकुरानियां और थीं, पर वे सब निकम्मी थीं। एक तो बूढ़ी और कुरूप एवं मूर्खा थी। ठाकुर का उससे आमना-सामना कभी-कभी साल-छह महीने तक नहीं होता था। ठकुरानियों के अतिरिक्त दो पड़दायतें और भी थीं, पर उम्र उनकी भी अधिक हो गई थी। इनके अतिरिक्त इक्कीस खवास गोलियां भी थीं। पर उन सबके विवाह हो चुके थे। वे सब बारी-बारी से रनवास में ठाकुर की सेवा करती थीं और फिर अपने घर चली जाती थीं। प्रतिदिन बारह खवासिनें रनवास में चाकरी करतीं। छः दिन को और छह रात को। जिनकी चाकरी की बारी नहीं होती वे अपने घर अपने धनी के साथ रहतीं। उनके घर भी ड्योढ़ियों में ही थे। घर क्या थे, कोठरियां थीं। इन खवासिनों के जो बच्चे होते थे, उनके पिता उनके विवाहित पति ही होते थे। लड़कियां गोली तथा लड़के चाकर कहलाते थे।

दोनों पड़दायतों के कोई सन्तान न हुई थी, न तीनों ठकुरानियों से ही सन्तान हुई। ठिकाने के उत्तराधिकारी के लिए ही ठाकुर ने इस कुंवरी से व्याह किया था। नई ठकुराइन बड़ी भावुक और सुन्दरी थी। ठाकुर उसपर रीझे थे। व्याह के दूसरे ही साल नई ठकुराइन ने एक कन्या को जन्म दिया था। इतने दिन बाद कन्या के जन्म से ठाकुर ने बड़ी खुशी मनाई थी। परन्तु ठाकुर के मरने की खबर सुन अकेली नयी ठकुराइन को अत्यन्त क्लेश हुआ और वे कुछ ही घण्टों बाद स्वर्गस्थ हुईं। दूसरी स्त्रियों ने

इसका दुःख नहीं माना।

ठाकुर को नयी ठकुराइन के मरने का बड़ा रंज हुआ। पर मेरी मां को पाकर वह शीघ्र ही सब कुछ भूल गए और तब मेरा जन्म हुआ। मेरी मां पड़दायत के प्रतिष्ठित पद पर थी। इसलिए मेरे पिता के स्थान पर ठाकुर की ही मुहर लगी। मैं गोली तो थी पर चाकर न थी, क्योंकि मेरा बाप गोला दारोगा नहीं, ठाकुर था। मेरी मां को इसका गर्व था। मां पर अब दो बच्चों के पालने का भार था। एक मेरा, दूसरी कुंवरी की लड़की का, जो अब तीन बरस की हो गई थी।

ठाकुर के घर में रसोड़ा सबका अलग-अलग था। खवास और चाकर तो अपने-अपने घर खाते ही थे। तीनों ठकुराइनों और दोनों पड़दायतों की भी रसोई अलग-अलग बनती थी। कोई किसीका शरीक न था। रसोड़ा मेरी मां का भी अलग था। और अब अपने माता-पिता से उसका कोई सरोकार न था। ठाकुर का रसोड़ा भी अलग था। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि सबका भोजन पृथक्-पृथक् बनता था। परन्तु आप यह जानकर भी आश्चर्य करेंगे कि सबको प्रतिदिन एक दिन का 'पेटिया' अटाले से मिलता था। पेटिया का अभिप्राय आटा, दाल, चावल, घी, ईंधन, तरकारी आदि है। ठाकुर की गृहस्थी पीढ़ी दर पीढ़ी से इसी तरह चलती आई थी। प्रतिदिन सबको केवल एक दिन का पेटिया मिलता और सब अपना-अपना भोजन अपने सेवकों-चाकरों से बनवाकर खाते-पीते।

भोजन ठाकुर का भी अलग होता। उनका शयनागार भी पृथक् था। खवास, गोली, चाकर और इधर-उधर के माल तो उनके अपने ही एकान्त शयनागार में सेवा करते थे। जिस दिन वह किसी ठकुराइन या पड़दायत के यहां रात्रि व्यतीत करने को जाते थे, उस दिन तीसरे पहर एक लोटा भांग उस स्त्री के यहां भेजी जाती थी। भांग बहुत बढ़िया मेवा आदि डालकर बनती थी। यह इस बात का संकेत होता था कि आज रात ठाकुर की उसके शयनागार में अवाई है। बस, तत्क्षण सिंगार-पटार, सार-सम्हाल की धूम मच जाती थी। शयनागार फूलों से सजाया जाता, इत्र से सुवासित किया जाता। दारू की बोतलें मंगाई जातीं। पान तैयार कि

जाते, गजल तैयार होतीं। पलंग की चादरें बदली जातीं। तकियों की तादाद बढ़ाई जाती। मसनदें करीने से लगतीं। ठाकुर काफी रात तक बाहर अपने गोले खवासों की जीहुजूरियों में घिरे गढ़े किस्से और उलटी-सीधी खबरें सुनते रहते। कभी-कभी डाकू साथियों के आ जाने पर वह देर तक माल-टाल का बंटवारा करते। चाभी-कूची सब गोले खवासों के पास रहतीं। रुपये-पैसे और उनका हिसाब भी वे ही रखते थे। उनकी ओर से तनिक भी दगाबाजी की सम्भावना न थी। बहुत रात बीते वह रनवास में आते। ठकुराइन या पड़दायतें उनका स्वागत करतीं। मेरी मां मुझे और कुंवरानी को खूब सजाकर गुड़िया-सी बना देती। ठाकुर आकर हमें प्यार करते, खिलाते फिर मेरी मां के संकेत पर खवासिन हमें दूसरे कमरे में ले जाकर सुला देतीं। इसके बाद शयनागार में पलंग-दासियां हाजिर होतीं। किसीके हाथ में ठण्डे पानी की झारी, किसीके हाथ में पंखा-मोरछल। किसीके हाथ में मद्य-पात्र और प्याले। मद्य का प्रथम प्याला मेरी मां डालकर ठाकुर को देती। ढाढिनें मांड़ गातीं—'दारुड़ो दाखांरे पियो उमराव।' फिर खवासें भर-भरकर जाम मेरी मां को और ठाकुर को देतीं और वे दीन-दुनिया को भूल रस-रंग में डूब जाते। ऐसा ही राजपूती जीवन का ढर्रा उन दिनों राजस्थान में चला करता था।

चारणों का प्रभाव

कुंवरानी और मैं शीघ्र ही हिल-मिल गईं। कुंवरानी मुझसे ढाई-तीन साल बड़ी थी। सुन्दरी मैं अधिक थी, मेरा रंग गोरा था। कुंवरानी सांवली थी, राजपूतों में बहुत कम गोरा रंग मिलता है। मैं जरा नाजुक भी थी, मेरे नाक-नक्श सब सुडौल थे। कुंवरानी जरा भारी शरीर की थी। नाक उसकी जरा चपटी थी, पर आंखें बड़ी पानीदार थीं। मां हम दोनों को समान भाव से रखती, पालती थी। मैं तो उसकी बेटी थी ही, कुंवरानी बिना माता की तथा मां के स्वामी और स्वामिनी की बेटी थी। कुंवरानी की

मां के साथ मेरी मां का भी लगभग वही रक्त-सम्बन्ध था, जो मेरा कुंव
रानी का था। इसीसे मां का कुंवरानी पर विशेष प्यार था, आदर भ
मुझसे अधिक था। वह कपड़े भी मुझसे बढ़िया पहनती थी। खाना मु
अभी भी बहुधा कुंवरानी के जूठे रूप में ही मिलता था। पर कुंवरानी मे
जूठा न खा सकती थी। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था। कुंव
रानी के सभी पुराने वस्त्र मुझे मिलते थे। कुछ तो काट-छांटकर तभी मे
लिए ठीक कर लिए जाते थे कि बड़ी होने पर काम आएंगे। ठाकुर मु
भी बहुत प्यार करते थे। असल बात यह थी कि मेरी मां ने उनका म
मोह लिया था। ठकुराइन के जीते जी वह उतना खुलकर मेरी मां
साथ घनिष्ठता नहीं बरत सकते थे। उसके मरने पर उन्होंने मां क
पड़दायत बनाकर और पैरों में सोना देकर बहुत बड़ी इज्जत दी थी
आप हंस सकते हैं, परन्तु हम गोलियों के लिए सचमुच यह बड़ी प्रतिष्
की चीज थी। आजकल प्रतिष्ठा का मापदण्ड बदल गया है। तब ह
गोला गुलामों की प्रतिष्ठा का यही मापदण्ड था। किसी गोली का पड़
दायत पद पर जाना और पैरों में सोना पहनना सचमुच ही गौरव औ
प्रतिष्ठा की चरम सीमा थी।

धीरे-धीरे हम दोनों ही बड़ी होने लगीं। हमारे पिता ठाकुर पह
ही काफी उम्र के थे, अब वह वृद्ध होने लगे। राजपूतों का जीवन बड़
असंयत और अस्त-व्यस्त होता है। एक प्रकार की रूक्षता, कर्कशता औ
कठोरता उनके जीवन में घुली-मिली रहती है। ठाकुर साहब का जीव
भी ऐसा ही था। साधारणतः वह पढ़े-लिखे व्यक्ति थे। स्नान, पूजा-पाठ
नित्य करते थे। मुझे बचपन के वे दिन याद आते हैं, जब हमारे घर
पुरोहित पोपले मुंहवाले बूढ़े ब्राह्मण नित्य प्रातःकाल गंगोदक और अक्ष
लेकर ड्योढ़ियों में आते और 'जय पृथ्वीनाथ' कहकर ठाकुर साहब क
अभिनन्दन करते थे। उनके सिर पर पवित्र गंगोदक और अक्षत का मार्ज
करते थे। संस्कृत के श्लोक उच्च स्वर से पढ़कर रोली-चन्दन का तिल
देते थे और ठाकुर साहब नतमस्तक हो ब्राह्मण का यह सब प्रसाद ग्र
करते थे। ब्राह्मण हमारे ऊपर भी अक्षत-पुष्प का मार्जन करते थे।
पोपला मुंह मुझे बहुत अच्छा लगता था। जब वह 'जय हो' का

करके मेरे माथे पर और कुंवरानी के मस्तक पर अक्षत-पुष्प डालते थे, ह
लोगों को हंसी आ जाती थी। ठाकुर साहेब शैव थे। नित्य शिवाले
जाकर लिंगार्चन करते थे। संस्कृत के बहुत श्लोक, भक्ति के कवित्त अं
दोहे उन्हें याद थे। डिंगल की कविता का उन्हें शौक भी था। कदाचित् व
डिंगल की कविता कभी-कदास करते थे। ठाकुर साहेब के घराने क
चारण साल में एक-दो बार ठिकाने में आता। वह बहुत बूढ़ा चारण थ
उसकी सफेद दाढ़ी थी। लाल आंखें थीं। पर वह बड़े डील-डौल क
शानदार आदमी था। कवित्त पढ़ने का ढंग उसका बड़ा प्रभावशाली थ
उसकी वाणी सतेज और चेष्टा उत्तेजक होती थी। जब वह वीररस क
कविता-कवित्त, दोहे ऊंचे स्वर में पढ़ता, तब अपने भाई-बन्दों के सा
दरबार में बैठे ठाकुर झूम-झूम जाते। विदायगी में चारण को एक र
एक रुपया, एक पाग और सिरोपाव मिलता था। प्रशस्ति में चारण
उच्चारण करता था, उसका अभिप्राय यह होता था कि आपके बाप-दा
ने हमारे बाप-दादों को एक करोड़ पसाव बख्शाया था, आपका यह द
भी करोड़ पसाव से कम नहीं है। मुझे याद आता है कि कुंवरानी
विवाह में ठाकुर ने इस चारण को घोड़ी दी थी, और उन महाराज क
ओर से, जिन्होंने कुंवरानी को ब्याहा था, इसे एक हाथी और एक ग
दिया गया था।

उन दिनों राजस्थान में चारणों का बड़ा मान था। कोई राजा-ठाकु
चारण का अपमान करने का साहस नहीं कर सकता था। यह भी ए
विचित्र-सी बात है कि जैसे राजपूतों से हम गोलों-गोलियों, चाकरों अ
गुलामों की जाति उत्पन्न हुई, जो ठाकुरों की खरीदी सम्पत्ति के सम
गुलाम की भांति जीवन-यापन करते थे—वैसे ही, उन्हींमें से इन चार
की भी जाति का उदय हुआ था। ठाकुर-राजा जहां हम चाकरों से चर
सेवा कराते थे, तहां इन चारणों की स्वयं चरण-सेवा करते थे। वे ब्राह्म
का भी सत्कार करते थे, पर वह सत्कार दान-मान तक ही सीमित था।
चारणों का सत्कार दूसरे ही ढंग का होता था। बहुत बार तो चारणों क
पालकी में राजा को कन्धा लगाते सुना गया है। चारण केवल राजपूत क
का दान अंगीकार करता तथा उसीका अन्न ग्रहण कर सकता था, कि

अन्य जाति का नहीं।

यहां मैं चारणों की मर्यादा की एक कहानी सुनाऊंगी। दाता के पिता बड़े कांटे के ठाकुर थे। वह उस जमाने के पुरुष थे, जिस जमाने में राजपूतों की तलवार में जंग नहीं लगती थी। उनका ठिकाना तो आज से भी छोटा था, पर ठसक बहुत थी। एक बार ऐसा हुआ कि प्रसिद्ध चारण कवि करणीदास जी ठिकाने में आए। करणीदास जी बड़े भारी कविराज थे। बड़े-बड़े राजदरबारों में उनका मान था। अनेक राजाओं ने उन्हें करोड़ पसाव दान दिया। वह जिस राजा का यश बखानते थे, वह राजस्थान में विख्यात हो जाता था। वह हर ठिकाने जा-जाकर कीर्तिगान स्वयं करते थे। बड़े-बड़े छत्रपति उन्हें दान-मान से सन्तुष्ट करके उनसे अपना कीर्ति-गान कराते थे। चारण की वाणी द्वारा ही राजाओं और ठाकुरों की कीर्ति अमर रहती थी।

ठाकुर ने जब चारण की अवाई की सूचना सुनी, तब वह वेश बदलकर सोलह कोस चलकर गये और उन्होंने चारण की पालकी में कन्धा लगाया। चारण को इस बात की कुछ भी खबर न पड़ी। जब गांव का सिवाना निकट आ गया, तब चारण ने क्रुद्ध होकर कहा, "अरे, यह ठाकुर तो बड़ा घमण्डी प्रतीत होता है। हम उसके सिवाने में आ पहुंचे और वह अभी तक हमारी खोज-खबर को नहीं आया। हमारी सवारी यहीं से लौटा दो, हम इस गांव में नहीं जाएंगे।"

यह सुनते ही ठाकुर पालकी से हटकर कविराज के सामने आये और बोले, "बाबा जी, मैं तो सोलह कोस से आपकी पालकी में कन्धा दिये आ रहा हूं।" ठाकुर का परिचय पा और उनकी ऐसी सेवा देख चारण प्रसन्न हो गये। एक रात उन्होंने ठिकाने में वास किया। जब चले तब बोले, "ठाकुर, मेरा एक नियम है। जब कोई राजपूत या तो युद्ध में जय प्राप्त करता है या वीरगति को प्राप्त होता है, तभी मैं उसका यशगान करता हूं। नहीं तो नहीं। सो मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूं। परन्तु मेरी वाणी तुम्हारे यश में तभी फूटेगी, जब तुम या तो वीरता से युद्ध-जय करो या रणभूमि में काम आओ।"

इतना कहकर चारण चले गये और ठाकुर के मन में बात घर कर

गई। उन दिनों लड़ाई-झगड़े तो होते ही रहते थे, पर अंग्रेजी राज के प्रताप से युद्ध नहीं होते थे। राजपूतों का प्राचीन जीवन अब खत्म हो रहा था। राजस्थान ज्यों-ज्यों अंग्रेजों की छत्रछाया में आता जाता था, राजपूत आलसी होते जाते थे। दिन पर दिन और वर्ष पर वर्ष बीत गए, पर ठाकुर को युद्ध में जाने का प्रसंग हाथ न लगा। चारण से कीर्तिगान सुनने की उसकी तीव्र अभिलाषा थी, पर वह पूर्ण न हुई। मैं पहले ही बता चुकी हूं कि डाका और धाड़ की वारदातें होती रहती थीं, पर ऐसे अभियान प्रशंसनीय नहीं होते थे, न चारण उन्हें वीरता में परिगणित करते थे।

इसी बीच चारण मर गये। पर मरते समय अपनी पत्नी से वसीयत कर गये कि ठाकुर की सेवा का ऋण मेरे ऊपर है, यदि तेरे जीवित रहते ठाकुर वीर कृत्य करे तो तू उसकी बिरद बखानना। एक दिन ठाकुर को कुछ ऐसा ही सुयोग लग गया। उन्होंने सुना कि मराठों की सेना उनके सिवाने में होकर अभियान कर रही है। बस, वह अपने बारह भाई-बन्दों को संग ले उस विपुल वाहिनी का मार्ग रोक खड़े हो गये। मराठा सरदार ने बहुत समझाया-बुझाया, लोभ-लालच दिया, पर ठाकुर ने एक न सुनी और युद्ध करके वह वीरगति को प्राप्त हुए। यह सूचना चारणी ने पाई तो उसने उनकी बिरद बखानी, जो सारे राजस्थान में गाई जाने लगी। ऐसा ही उन दिनों चारणों का प्रताप और राजपूतों की सनक थी।

यौवन की देहरी पर

हम दोनों चन्द्रकला की भांति बढ़ती गईं। ज्यों-ज्यों हम बढ़ती गईं, हमारा रूप निखरता गया। खास कर मेरे रूप की ख्याति सारे ठिकाने में फैल गई। कुंवरी तो ठिकानेदार की बेटी ही थी, पर मैं बेटी होने पर भी बेटी नहीं थी। रूप-गुण में श्रेष्ठ होने पर भी तथा एक ही पिता की संतान होने पर भी, मैं कुंवरी की बराबरी नहीं कर सकती थी। मैं उसकी जूठन खाती और उतरन पहनती थी। वह छपरखट पर सोती, मैं गुदड़ी पर। फिर भी कुंवरी के मन में छोटे-बड़े का कोई भाव न था। वह मुझे बहुत

स्थिति नहीं अखरी। अपनी गुलामी मुझे चुभी नहीं। यहां तक कि जब कुंवरी के व्याह में सब गोलियों के साथ मुझे भी दहेज में दे दिया गया और समूचे जीवन पर गुलामी की मुहर लग गई, तब भी मुझे कुछ बुरा न लगा। डोली में बैठती वार कुंवरानी जैसा हौंस मुझे भी थी। मैंने कभी यह अनुभव नही किया कि विवाह मेरा नहीं कुंवरानी का हुआ है, यद्यपि मैं अब यौवन की देहरी पर खड़ी थी।

नजर बाग में

उनकी अवाई की गढ़ी में धूम मच गई। वह राजा थे, राज-राजेश्वर थे, उनकी सवारी के आगे धौंसा बजता था, ग्यारह-तोपों की सलामी होती थी। आगे-पीछे फौज चलती थी। भाट और चारण विरद बखानते थे। बाईजीराज के साथ उनके व्याह की चर्चा थी, इसी चर्चा को क्रियात्मक रूप देने वे गढ़ी में पधारे थे। ठाकुर का ठिकाना उनकी ही रियासत में था। ठाकुर उनका जागीरदार और रैयत ही था। इससे गढ़ी में राजा के स्वागत-सत्कार की भारी धूम मच गई।

मैं सहमी-सी कुछ चाव में, कुछ भय में, कुछ उद्वेग में डूबी-सी न जाने मन में कैसी भीतरी उथल-पुथल अनुभव कर रही थी। मुझे कोई हुक्म न था, मुझे कोई काम न था, मेरे ऊपर किसीका ध्यान न था। गढ़ी में जैसे और सब थे वैसी ही मैं भी थी, फिर भी न जाने क्यों एक अजीव गुदगुदी मेरे मन में हो रही थी। अकारण ही मैं हंसने लगती, मन में ऐसा समझती जैसे वहुत व्यस्त हूं। कभी-कभी दौड़-धूप करने लगती। विना काम काम में फंस जाती। वाईजीराज की अटारी गढ़ी में जनानी ड्योढ़ियों की सबसे ऊपरी मंजिल पर थी। वहां वड़ी धूमधाम थी। कुंवरी कुछ खुश थीं या नहीं, मैं नहीं कह सकती। पर वह न मेरी तरह हंसती थीं न चुलबुलाहट से इधर-उधर दौड़ लगाती थीं, एक प्रकार से सुस्त-सी, कुम्हलाई-सी वहुधा पलंग पर पड़ी रहतीं। जब मैं उनके पास जाती तब वह अपनी कमल-सी वड़ी-वड़ी आंखें उठाकर जैसे होंठों ही होंठों में कुछ कहतीं। क्या कहतीं, यह मैं नहीं जानती थी, पर उनको इस तरह देखने पर मैं मुंह में आंचल ठूंसकर हंस देती और वहां से भाग खड़ी होती थी। हकीकत यह थी कि महाराज की अवाई की गढ़ी में जब से धूम मची थी, मेरा मन उन्हें देखने को मानो सबसे अधिक आतुर था। उसी भांति कुंवरी का भी। सच पूछो तो उनका इस तरह मेरी ओर देखने का अर्थ था, उन्हें किसी तरह देखने-भर की इच्छा। जैसे वह आंखों ही आंखों में पूछ रही थीं, 'क्यों री, वह कैसे हैं जिनके आगे धौंसा वजता है, पीछे तोपें छूटती हैं। वरकंदाज, सिपाही, प्यादे दौड़ते हैं, सरदार-हाकिम जी-हजूरी करते हैं, जिसपर मोर्छल ढरता है, चारण-भाट विरद वखानते हैं, और सबसे अधिक यह कि वावू-ठाकुर हमारे दाता उन्हें अन्नदाता कहकर पुकारते और उनकी चर्चा करते हैं।'

उनके साथ इतनी भीड़ गढ़ी में घुस पड़ी कि तिल धरने को जगह न रही। चारों ओर जहां तक आंखें जातीं भीड़ ही भीड़, आदमी ही आदमी, सिर ही सिर। कहीं हाथी मैदान में खड़े सूंड़ हिला रहे हैं, कहीं घोड़े हिनहिना रहे हैं पांत की पांत। अवलक, सब्जा, कुम्मैत, वछेरा, पचकल्यानी। जगह-जगह यही चर्चा। सईस घोड़ों की मलाई-दलाई कर रहे हैं। घोड़े घी और रातव खा रहे हैं। हाथियों के लिए रोट सेके जा रहे

हैं, भिश्ती बराबर मैदान में पानी छिड़क रहे हैं, पर धूल दबती नहीं है। गढ़ी का सारा मैदान रावटियों से भर गया। उनमें राजपूत हैं, सरदार हैं, गुमाश्ते हैं, कारभारी हैं, सिपाही हैं, बरकंदाज हैं। हे राम, एक आदमी के साथ इतने आदमी? हाथी, घोड़े, पियादे, सिपाही? पर वह आदमी कहां है? यही तो असल बात थी, जिसे मैं जानना चाहती थी, देखना चाहती थी। पर यह क्या मुझ गोली के लिए कुछ आसान बात थी?

कुंवरी का मन ठीक न था। कभी ठीक रहता भी न था। सदैव से ही वह मितभाषिणी थीं। काम की बात बोलती थीं। बहुत कम हंसती थीं ; तो मैं कह ही चुकी हूं कि रंग उनका सांवला था। मैं गोरी-चिट्टी ;र भी वह रानी, मैं बांदी। कोई भी देखते ही यह पहचान जाता। ता बहुत व्यस्त थे। सभी मेहमानों की खातिर-तवाजह का भार था। वह अपने कामदार तनसुखराय के साथ सलाह-मशविरा , बातचीत करने में व्यस्त थे। कभी-कभी चिंतित भी दीखते। अपने और वस्त्र का भी उन्हें ध्यान न था।

ाले में रसोई की जबरदस्त तैयारी थी। कितने बकरे, मेंढे काटे भांति-भांति के मांस-व्यञ्जन बन रहे थे। दिल्ली और जयपुर के हलवाई पकवान और मिठाइयां बना रहे थे। मैं सब देख आती । देखती, कुंवरी को आ सुनाती। सुनकर कुंवरी कुछ कहती नहीं। सी भांति बड़ी-बड़ी आंखों से मुझे देखती। उस देखने का अर्थ था न—क्या उन्हें देखा तूने? और मैं जैसे भी बने उन्हें देखने को हां मे भाग जाती।

ांझ का झुटपुटा हो गया था। गढ़ी में दीपावली की तैयारियां हो । खवास और नाई मसालों को जलाकर कुप्पियों से उनपर तेल हे थे। बहुत लोग इधर से उधर, भीतर से बाहर और बाहर से जा-आ रहे थे। अन्नदाता इस समय कहां होंगे, यही मन में सोच- करती हुई ड्योढ़ियों के पिछवाड़े मैं नजरबाग में जा पहुंची। ;योढ़ियों के पिछवाड़े वाले बड़े कमरे ही में ठहरे थे, यह मुझे मालूम ई दिन से ड्योढ़ियों का वह हिस्सा सजाया जा रहा था। दो नये ाए गये थे, नया रंग-रोगन किया गया था; नये पलंग, कुर्सी और

पंखे लगाये गये थे। कई वार मैं स्वयं जाकर वहां की धूमधाम देख चुकी थी। इसलिए यह तो मैं जानती ही थी कि राजा का डेरा यहीं, इसी कमरे में है। कमरे की एक खिड़की इसी नजरवाग में थी। उसी खिड़की की राह राजा को देखने के इरादे से मैं नजरवाग में जा पहुंची थी। अभी अंधेरा नहीं हुआ था। पर सब कुछ धुंधला-सा लग रहा था। वारी में से होकर कमरे की तेज रोशनी छन रही थी। कमरे में विलायती झाड़ी की रोशनी का प्रवन्ध किया गया था। यह मैंने देखा था। यह वारी वहुत ऊंची थी। वारी से कैसे राजा को देखा जाय? कुछ क्षण मैं असमंजस में पड़ी खड़ी रही। वारी के पास ही हरसिंगार का एक झाड़ था। झाड़ की घनी डालियां वारी तक पहुंच रही थीं। वहुत वार खेल-खेल में मैं इस हर-सिंगार की डालियों पर चढ़कर ढेर-से फूल चुन लाई थी। इस वार भी मैं राजा को देखने के इरादे से झाड़ पर चढ़ गई। चढ़कर उस खिड़की की ओर वढ़ी हुई डाल पर आगे को झुककर मैं खिड़की के भीतर झांकने लगी। भीतर राजा क्या कर रहा है, यह देखने की उत्सुकता में मैं भूल गई कि यह अकेली डाल मेरा भार सहन भी कर सकेगी या नहीं। आखिर वालवुद्धि ही तो ठहरी। अपने शरीर का सारा वोझा डाल पर डालकर मैं खिड़की पर झुक गई। पर वह डाल चरमराकर टूट गई और मैं औंधे मुंह धरती पर आ रही। मेरे मुंह, वाल और कपड़ों में धूल भर गई। चोट भी लगी। मैं उठ ही रही थी और खीझ तथा चोट के दर्द से रोना चाह रही थी कि किसीने अंक में भरकर मुझे उठा लिया। मेरे कपड़ों की धूल झाड़ी और मुझे पकड़कर खड़ा कर दिया। और तभी मैंने सुना एक सर्वथा अपरिचित कण्ठ-स्वर। "चोट तो नहीं लगी?" रोना और चोट का दर्द मैं भूल गई और मैंने उलटकर देखा—उस अंधेरे में भी उनके कान के हीरे साफ चमक रहे थे। उज्ज्वल परिधान, कुसुमल पाग, कण्ठ में मोतियों की माला, यत्न से संवारी और कान की ओर चढ़ाई हुई मूंछें वड़ी-वड़ी तेजपूर्ण आंखें, भव्य व्यक्तित्व!

मैं वालिका थी। अनाड़ी थी, मूर्खा थी। पर यह समझने में मुझे एक क्षण की भी देर न लगी कि स्वयं महाराजाधिराज ही सम्मुख विराजमान हैं। उन्होंने मेरी मूर्खतापूर्ण करतूत देख ली है, उन्होंने मुझ मूर्खा को दया

करके उठाया है। उन्हींका सुख-स्पर्श और उन्हींका कृपा-वचन मुझे उपलब्ध हुआ है। मैंने राज-परिवार में अदब-कायदा-तमीज की शिक्षा पाई थी ही सो मैंने सिर झुकाकर, हाथ बांधकर अरदास की, "घणी खम्मा अन्नदाता !"

राजा ने कोमल स्वर से कहा, "चोट तो नहीं लगी ?"

"नहीं, अन्नदाता !"

"कौन है तू ?"

"चाकर, अन्नदाता !"

"यहां क्या कर रही थी ?"

"घणी खम्मा, तकसीर माफ हो अन्नदाता, मैं हुजूर के दर्शन करने के इरादे से बारी में झांक रही थी।"

राजा ने आगे बढ़कर मेरा हाथ पकड़ लिया। अरे, वह हाथ तो मुझ-से भी अधिक नर्म-गर्म था। वह मुझे खींचते हुए-से एक ओर ले चले। पतंग जैसे डोर से आप ही खिची चली जाती है, मैं उनके साथ हो ली। नजरबाग में एक मकराने की चौकी पड़ी थी। वहां बैठकर उन्होंने मुझे-सिर से पैर तक देखा। एक स्मित रेखा उनके होंठों पर और आनन्द की चमक उनकी आंखों में व्याप गई। कुछ देर वह मुझे देखते रहे—उस अर्ध अंधकार में, जैसे कुछ निश्चित, कुछ अनिश्चित भाव से। फिर बोले, "तेरा नाम क्या है ?"

"मैं चम्पा हूं, अन्नदाता !"

"किसकी चाकरी में है तू ?"

"बाईजीराज की, अन्नदाता !"

राजा कुछ क्षण चुप रहे। फिर हंसकर बोले, "तेरी बाई ने तुझे यहां भेजा था ?"

"नहीं अन्नदाता, यह तकसीर तो मैंने ही की, मुझसे ही यह चूक हुई।" मैंने हाथ बांधकर कहा और सिर नीचा किए खड़ी रही।

बहुत देर तक राजा बोले नहीं। शायद मेरे रूप, मेरे नवयौवन, मेरे विनय को मन ही मन तोलते रहे। फिर जैसे भावावेश के स्वर में बोले, "चम्पा, जा मेरे लिए दारू ले आ।"

और मैं 'घणी खम्मा अन्नदाता' कहकर एक बार अच्छी तरह उन्हें प्रणाम करके तेजी से चल दी।

"..................."

दारू मैंने कभी पी नहीं, हाथ से छुई भी नहीं। कुंवरी की अटारी में दारू का निषेध था। राजपुरोहित पंडित सोमनाथ ने कुंवरी को दारू के गुण-दोष बताए थे, वे मैंने भी समझे थे। कुंवरी बहुत कोमल, समझदार और एक प्रकार से भावुक स्त्री थीं। वह दारू से घृणा करती थीं। कभी-कभी दारू के विरुद्ध मत भी प्रकट करती थीं। मेरा मत भी कुंवरी से मिलता था। पर मां को मैंने दाता को दारू देते देखा था। दाता सदैव मां के यहां आकर दारू नहीं पीते थे। नित्य वह मां के कमरे में जाते भी नहीं थे। जब आते थे तब, बहुत देर बाद केवल सोने के लिए आते थे। उनका आरोगना, दारू पीना, खाना-पीना सब बाहर ही होता था। उनके गोले-चाकर उन्हें यह सब बाहर ही जुटाते थे; पर कभी-कभी ऐसा भी होता था कि दाता मां के कमरे में ही दारू पीते, खाना भी आरोगते और वहीं रात्रि को सोते भी थे। उस दिन मां को बहुत-से नये प्रबन्ध करने पड़ते। मां उबटना लगाकर आचूड़ स्नान करती थी। नई पोशाक धारण करती थी, इत्र-फुलेल लगाती थी। बढ़िया पान के बीड़े लगते थे, माली बहुत-सी फूल-मालाएं व गजरे लाता था। रसोड़े में विविध पकवान और मांस पकते थे, हम सब उस दिन इन सब तैयारियों में जुटे रहते थे। दारू की बोतलें तीसरे ही पहर को निकलवाकर बर्फ में दबा दी जाती थीं। उस दिन दाता भी बड़े ठाठ से मां के यहां आते थे। वह स्नान करके नई पोशाक धारण करते थे। उनके साथ दो-चार गोले-खवास भी आते थे। मिठाइयां, इत्र, फूलमालाएं वह भी लाते थे। उस दिन सूर्यास्त से कुछ पहले ही दाता जनाने में पधार जाते थे। पधारने पर पहरे लग जाते थे, ऊपर चांदनी में जाजिम बिछ ज-

मसनदें जग जातीं। और भुने हुए मांस प्लेटों में चुन लिए जाते। उस दिन मां बहुत व्यस्त रहती थी। व्यस्त हमें भी रहना पड़ता था। पर जब दाता मसनद पर विराजमान हो जाते तब मां हमें एक संकेत करती थी और हमें छुट्टी मिल जाती थी। दाता के गुलाम-चाकर भी छंट जाते थे। एकाध पहरे पर हाजिर रहता। एकाध गोली भीतर। यों दाता मां के साथ अकेले रहना पसन्द करते थे। परन्तु इन सब बातों से, इस प्रबन्ध से मुझे बड़ा कौतूहल था। दारू के विषय में बुराई तो बहुत सुनती थी, पर दारू की इतनी धूम-धाम देख मन में होता था—दारू है कोई भारी चीज। और वह कैसे पी जाती है, यह देखने-जानने की दुर्दम्य लालसा बहुधा मैं मन में दबा नहीं पाती थी तथा बहुधा छिपकर बहुत रात तक मां का और दाता का दारू पीना देखती रहती थी। बहुत-सी बातें मैं जान गई थी। बहुत-सी समझ गई थी। दाता आग्रह करके मां को दारू पिलाते, उसकी जूठी आप पीते, एक-दो पैग पीने पर दोनों की चेष्टाएं बदलजातीं। उसकी बात-चीत, भाव-भंगी, व्यवहार सब छिपकर मैं देखती तो बिना पिए ही मुझे भी दारू का नशा हो जाता। और कलेजा धड़कने लगता। फिर मैं अपनी गुदड़ी में आ पड़ती और सोचा करती कि इसी प्रकार कभी न कभी दारू मुझे भी पिलानी पड़ेगी, किसी न किसीको पर किसको? मैं यह सोचने लगती थी, पर उत्तर न पाती थी। सो आज अचानक, अकस्मात् अन्नदाता ने जो मुझसे दारू मांगी और उन संक्षिप्त दो शब्दों की आज्ञा के साथ उनके नेत्रों से जो चमक निकली, उससे तो मेरा कलेजा बांसों उछलने लगा और मैं पसीने में नहा गई। मेरा रोम-रोम थर्रा उठा। मैंने सोचा, 'हे राम, आज अभी अन्नदाता को दारू पिलानी होगी। मेरे शरीर के प्रत्येक रोमकूप नेत्र बन गए थे और उन सब चित्रों को विविध रंगों में देख रहे थे जो मैंने छिपकर मां और दाता के दारू आरोगने के समय देखे थे। इन सब चित्रों पर मेरा नवयौवन, मेरी चाह, मेरी लालसा और साथ ही भीति, आशंका, घबराहट इन सबने मिलकर मुझे अधमरी कर डाला था।

मैं भागी आ रही थी, जैसे सूखा पत्ता आंधी की झपेटा में घूमता पेंच खाता उड़ता है। पर मैं जाऊं कहां? दारू मुझे कहां मिलेगी। कुंवरी की अटारी में तो है नहीं। दाता से कहना सम्भव नहीं। वहां भीड़-भाड़ में

के दर्शन कहां हुए ?"

"नजर वाग में ।"

"वहां तू क्या करने गई थी ?"

मैंने घवड़ाकर कहा, "मैं···मैं···यों ही उधर चली गई थी ।"

"अन्नदाता क्या वहां थे ?"

"वह नजर वाग में टहल रहे थे ।"

"और कोई भी वहां था ?"

"अकेले दरवार ही थे, और कोई वहां न था ।"

"यह कितनी देर की वात है ?"

"इसी शाम की ।"

मां ने दीवार की घड़ी पर नजर डाली । ६ वज रहे थे । उसने कहा, "अव तो नौ वज रहे हैं ।" मैंने भी घड़ी की ओर देखा । इतना समय बीत गया, इसका मैंने ध्यान भी नहीं किया था । नहाने-धोने, सिंगार करने में तीन घण्टे वर्वाद हो चुके थे । मैं भय से पीली पड़ गई । मां ने कहा, "मूर्खा, तुझे तुरन्त मुझसे कहना था ।" वह झपटकर पलंग से उठ खड़ी हुई । खवासिन को उसने आवाज देकर अपनी खास बांदी केसर को तुरन्त भेज देने को कहा ।

कुछ ही देर में केसर आ गई । कोई पच्चीस वरस की छरहरी युवती थी । मां की पलंग-दासी । सुन्दरी, चतुर और राजसेवा में दक्ष । केसर के आने से पहले मां ने धीरे से मुझसे पूछा, "कुंवरी से तो नहीं कहा ?"

मैंने कहा, "नहीं ।"

"कहना नहीं । और होशियार रहना, दरवार को नाराज न कर देना, अकल से काम करना, मैं केसर को तेरे साथ भेजती हूं । लेकिन वह वाहर ही रहेगी ।" यह कहकर उसने वर्फ में दवी दो श्रेष्ठ मेवे की दारू की वोतलें निकालकर तौलिये में लपेटकर मुझे पकड़ा दीं और मैं उन्हें वगल में दवाकर वोली, "मां, इतनी देर जो हो गई, दरवार सो न गए होंगे ?"

"यह सव पूछताछ केसर कर लेगी । पर तू क्या दारू देना जानती

है ?"

मैंने सिर हिला दिया। मां ने क्षण-भर मुझे नख से शिख तक देखा। फिर झटपट एक-दो गहने मेरे कण्ठ में डाल दिए। एक मोती की लड़ मेरे बालों में खोंस दी। आंख का फैला हुआ काजल आंचल से पोंछ दिया। गालों पर फिर पाउडर लगा दिया। और कहा, "जा, पर घोड़ी की तरह दौड़ न लगाना, जिससे पसीना-पसीना हो जाय। कायदे से जा।"

मैंने डरते हुए कहा, "मां, अन्नदाता गुस्सा करेंगे तब ?"

"केसर सब ठीक कर लेगी, जा।" मां ने संकेत ही से केसर को सब कुछ कह-सुन दिया।

और मैं चल दी उन दोनों बोतलों को बगल में दबाए। कलेजा मेरा धड़क रहा था, रक्त की प्रत्येक बूंद उछल रही थी, यन्त्रवत् मेरे पैर उड़े जा रहे थे। मेरे होश-हवास ठिकाने पर थे या नहीं, नहीं कह सकती। मैं जैसे हवा में उड़ी चली जा रही थी अथवा गरम तवे पर चल रही थी।

राजा के शयन-कक्ष में

ड्योढ़ियों पर पहुंचकर केसर ने ड्योढ़ीदार से बहुत आहिस्ता-से कहा, "अन्नदाता से अर्ज कर दो कि चम्पा खिजमत में हाजिर है।" ड्योढ़ीदार एक बूढ़ा राजपूत था। उसकी सफेद दाढ़ी हवा में फहरा रही थी। वह सफेद पायजामे पर सफेद अंगा और उसपर उदयपुरी कोट पहने था। पाग भी उसकी सफेद थी। बड़ी-बड़ी मूंछ कान में उलझी थीं। वह तलवार गोद में धरे अपनी विशाल ढाल के सहारे ऊंघ रहा था। केसर का स्वर सुनकर उसने सावधान होकर और मन्द स्मित स्वर में नेत्रों से एक विशेष प्रकार का संकेत करते हुए कहा, "जाओ भीतर, हुक्म है तुम्हारे लिए, अन्नदाता जाग रहे हैं।"

द्वार पर मोटा कमख्वाब पर्दा लटक रहा था। उसने

राह दिखाई। पहले केसर और पीछे उसकी परछाईं की भांति—जैसे उसकी पीठ पर चिपकी हुई होऊं—बिना पद-ध्वनि किए मैं भी भीतर कक्ष में जा पहुंची। राजा के वहां ठहरने से पहले मैं उस कमरे को देख आई थी। तब उसकी सजावट हो रही थी। पर इस समय तो उसके ठाठ ही कुछ और थे। अन्नदाता पलंग पर पौढ़े थे, एक हलके पीले रंग की रेशमी रजाई उनके पैरों पर पड़ी थी और दो-तीन तकियों के सहारे कुछ उठंगे हुए वह किसी अंग्रेजी पत्रिका के चित्र देख रहे थे। गंगाजमनी काम का आदमी के कद के बराबर पेचवान पास रखा था और उसमें से खमीरी तमाखू की मस्त सुगन्ध उठकर कमरे में महक रही थी। एक गोला युवक

उनके पैर दबा रहा था और बूढ़ा चाकर हाथ बांधे एक कोने में खड़ा था। अन्नदाता थोड़ी देर में पेचवान का कश लेकर छत की ओर धुएं का बवण्डर छोड़ देते थे। कमरे में सन्नाटा था और दीवार की घड़ी की खट-खट मुझे अपने ही हृदय की धड़कन-सी लग रही थी। पलंग के पायताने

कुछ कम्बल, कुछ धुस्से करीने से तह किए रखे थे। खिड़कियों पर [illegible]
छींट के पर्दे पड़े थे और उनके पास पुष्पाधारों में ताजे फूलों के [illegible]
सजे थे। पलंग के नीचे चांदी की [illegible] पर [illegible]
से बिछी थी। कभी-कदास दरबार उसमें [illegible] होते थे।

केसर ने चुपचाप निकट जा अन्नदाता के चरणों में सिर [illegible]
दी। मैंने भी कांपते-कांपते आगे बढ़कर उसका अनुकरण किया। फिर
केसर ने संकेत से चाकर को बुला एक चौकी [illegible]
रखवाई, उसपर गजक और भुने हुए गोश्त की [illegible]
दीं। केसर के संकेत से मैंने दारू की दोनों बोतलें चौकी पर रख दीं। फिर
एक तरफ हटकर मैं जड़वत् खड़ी हो गई। केसर के संकेत से [illegible]
बर्फ और सोडे की बोतलें लाकर चौकी पर रख दीं। फिर केसर ने सुवा-
सित पानों के बीड़ों से भरा हुआ चांदी का पानदान [illegible]
चौकी पर रख दिया। संकेत से मुझे समझा दिया कि ये पान हैं। [illegible]
तरुण गोला चरण-सेवा छोड़ चुपचाप उठ खड़ा हुआ। केसर ने [illegible]
से एक ओर बुलाकर पूछा, "सिगरेट कहां है?" [illegible]
से भरा चांदी का डिब्बा और दियासलाई लाकर चौकी पर रख दी। [illegible]
केसर ने आंख उठाकर चारों ओर देखा और [illegible]
"सब ठीक है न और कुछ?" [illegible]
है।"

अन्त में उसने जल की झारी को अच्छी तरह जांच कर देखा। चांदी की झारी जल से भरी हुई थी। गिलास पास रखे थे। उसने दारू पीने के पैग और गिलासों की ओर देखा, संकेत से मुझे दिखाया। तीन-चार तौलिए भी उसने वहां रख दिए।

यह सब काम खतम कर उसने एक बार फिर कमरे में चारों ओर देखा और सन्तोष की सांस ली। फिर उसने साभिप्राय मेरी ओर देखा। मैं तो भीता-चकिता हरिणी की भांति उन साभिप्राय आंखों को ताकती ही रह गई। रास्ते-भर उसने बहुत-सी सीख दी थीं, उनमें से कुछ मैंने समझीं, कुछ नहीं समझीं। जब वे सब बातें और आगे-पीछे होने वाली घटनाएं इतनी तेजी से मेरे मस्तिष्क में घूमने लगीं कि मेरा सिर चकरा उठा, तब मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मैं कभी बेहोश होकर गिर जाऊंगी। परन्तु इसी समय केसर ने आगे बढ़कर अन्नदाता के चरणों में प्रणाम किया और स्थिर-शान्त स्वर में कहा, "मैं हुजूर की खिदमत में ड्योढ़ियों पर हाजिर हूं!" और वह एकदम मुंह फेरकर चल दी और पर्दा उठाकर कमरे से बाहर हो गई। कमरे में अब मैं ही अकेली राजा के साथ रह गई। मैं पीपल के पत्ते की भांति कांप रही थी। मेरा शरीर पसीने से भीग गया था। जीभ तालू से सट गई थी और मैं किसी भी क्षण बेहोश हो सकती थी।

राजा ने अब पत्रिका एक ओर फेंक दी। वह तकिये के सहारे जरा उठकर बैठ गए।

पेचवान से कश लेते हुए एकटक मेरी ओर देखते रहे। फिर उन्होंने कहा, "तू किसकी चाकरी में है?"

"बाईजीराज की, अन्नदाता!"

"यहां तू उनकी इजाजत से आई है?"

"मैं अन्नदाता के हुक्म से आई हूं।"

"किससे पूछकर?"

"मां से।"

"कुंवरानी से नहीं पूछा?"

"नहीं सरकार!"

राजा ने फिर कश पेचवान से लिया और धुएं का बादल छत की ओर बनाया। फिर पूछा, "वह औरत कौन है?"

"मां की पलंग-दासी है, अन्नदाता!"

"क्या नाम है?"

"केसर है, सरकार!"

"उसे तू साथ लाई?"

"मां ने भेजा है, सरकार!"

राजा ने पेचवान छोड़ दिया। करवट बदली। तकिया उठाकर सीने पर रखा और बिना देखे ही कहा, "सिगरेट दे।"

मैंने आगे बढ़ बक्स से एक सिगरेट निकाली, उसे राजा के होंठों से लगाया, दियासलाई से सुलगाकर और दियासलाई ऐश-ट्रे में डाल दी। राजा चुपचाप सिगरेट के धुएं के छल्ले बनाते और छत की ओर फेंकते रहे। इतनी बातचीत और पहली सेवा की सफलता से उत्साहित होकर मेरा मन जरा ठहर गया। दिल की धड़कन कम हो गई, साहस लौट आया। मैंने केसर की सीख; अपने अनुभव और सहज ज्ञान का सहारा लिया। गिलास में बर्फ और सोडा डाला और एक पैग दारू उंडेलकर गिलास ले, राजा के निकट आई और कांपते हाथों गिलास को मूक-मौन भाव से उनके आगे बढ़ा दिया। देखकर राजा मुस्कराए, उन्होंने मेरी ओर एक विचित्र दृष्टि से देखा। पैग लिया और एक-दो सिप लेकर गिलास मेरी ओर बढ़ा दिया। आगे बढ़कर मैंने पैग थाम लिया। राजा सिगरेट के धुएं के बादल बनाते रहे। मैं पैग लिए खड़ी रही। जब इशारा पाती गिलास बढ़ा देती, राजा एक सिप लेकर पैग मुझे थमा देते और सिगरेट पीते। सिगरेट खत्म हुई। मैंने दूसरी सुलगा दी। पैग खत्म हुआ, मैंने दूसरा भरा।

पैग हाथ में लेकर राजा तकिए पर कोहनी टेक एक ओर को जरा और उठंग गए। हुक्म दिया, "बैठ।" हुक्म के साथ उन्होंने पलंग पर जगह बताते हुए आंख से संकेत किया। मैं डरती-सी जरा टिककर बैठ गई। इस बार राजा अपने ही हाथ में पैग लिए

...?"

"नहीं सरकार।"

"नहीं क्यों ?"

"वाईजीराज की अटारी में दारू नहीं आती।"

राजा ने हुंकारा भरा। पैग खाली हो गया। मैंने तीसरा भरकर बढ़ायी। राजा ने कहा, "तू पी।"

"अन्नदाता, मैंने कभी नहीं पी।"

"आज पी।"

"अन्नदाता......"

"हमारा हुक्म है," उन्होंने गिलास हाथ में लेकर मेरे मुंह से लगा दिया। मैंने एक घूंट पी। एक लकीर-सी कलेजे तक खिंच गई। राजा ने गिलास उसी तरह मेरी मुट्ठी में दबा हुआ, अपने मुंह की ओर बढ़ाया। मैंने अरदास की, "सरकार, मैं दूसरा पैग हजूर की खिजमत में पेश करती हूं।"

राजा ने मेरी मुट्ठी में दबे उस गिलास को जैसे और भी कसकर दबाते हुए कहा, "दूसरा क्यों ? यही दे।" और उन्होंने एक ही सांस में पैग खाली करके कहा, "पान।"

मैंने चार बीड़े पान पानदान से निकालकर अपने ही हाथ से राजा के मुंह में रख दिए। राजा ने पेचवान की ओर नजर की। मैं दौड़ी हुई द्वार तक गई, फुसफुसाकर केसर से बोली, "सरकार शायद पेचवान पीना चाहते हैं।" और दूसरे ही क्षण केसर नई चिलम में खमीरी तमाखू डालकर रख गई। मैं चौथा पैग तैयार करने लगी। राजा ने कहा, "ठहर, यहां बैठ।"

और मैं उनके सिरहाने तकिये के सहारे बैठ गई। मेरे चारों ओर का वातावरण अम्बरी तमाखू के सौरभ से महक रहा था। घड़ी टिक्-टिक् करके एक-एक सैकिण्ड आगे बढ़ी जा रही थी, ढलती रात की ओर। साहस मेरा बढ़ रहा था। मैंने फिर पैग भरे और उन्होंने उसी भांति पहले मुझे पिलाया। अब दारू मेरे मस्तिष्क में एक नवी उत्तेजना उत्पन्न कर रही थी। सारे शरीर से एक नयी सिहरन उठ रही थी। मैं ढीठ और

साहसी होती जाती थी। रात ढल रही थी और पैग खाली हो रहे थे। पान, सिगरेट और पेचवान अपनी-अपनी बारी से आते थे, जाते थे। उस एक ही रात के कुछ क्षणों में जैसे मैं जन्म-जन्म की पलंग-सेविका बन गई थी। एक अवश आसक्ति मेरे हृदय में भरती जा रही थी। और जब'''।

जब मैं लौटी

तारों की छांह में ही केसर मुझे उठाकर वहां से ले चली। उसने एक [रे]शमी चादर पलंग से उठा ली थी, उसे अच्छी तरह मेरे शरीर पर लपेट[क]र एक प्रकार से मुझे अपने अंग में भर वह चुपचाप निःशब्द वहां से चल [द]ी। उनसे उसने एक शब्द भी नहीं कहा। वह भी बोले नहीं। उसी भांति [स]ोते रहे अथवा जगते-अधजगते पड़े रहे। मेरा अंग-अंग कांप रहा था, चलने की शक्ति मुझमें नहीं थी। चल रही थी या सो रही थी, यह मैं नहीं जानती थी।

केसर ने अपनी कोठरी में ले जाकर मुझे अपने बिछौने पर सुला दिया। ठण्डे पानी का एक गिलास दिया। मुंह में मेरे कांटे पड़े थे और वह सूख रहा था। पानी पीकर मैंने न जाने क्या कहा। केसर ने भी वह सुना नहीं। मेरे कान के पास मुंह लाकर उसने धीरे से कहा, "तू अब सो जा।" फिर अच्छी तरह वस्त्र से मुझे ढांपकर वहां से चल दी। कोठरी को बाहर से बन्द कर दिया।

न जाने वह कहां चली गई और जब वह लौटकर आई, पहर दिन चढ़ गया था। सूरज की धूप छनकर कोठरी में आ रही थी। मैं जग गई थी, पर मेरा एक-एक हाड़ दर्द कर रहा था।

केसर ने आकर कहा, "जा, अपनी कोठरी में जा, नहा ले और कपड़े बदल ले। फिर कुछ खा-पी। तब मां के पास जाना।"

तीसरा पहर बीत रहा था। मैं केसर की कोठरी से निकलकर अपनी कोठरी की ओर चली। एक विचित्र और अभूतपूर्व आलस्य और अवसाद अब भी मेरे अंगों में था। अपनी कोठरी में आकर मैं फिर चारपाई पर पड़ गई। बहुत देर पड़ी रही। रात की ज्ञात-अज्ञात सुखद बातें स्वप्न की भांति मेरी आंखों में घूम रही थीं, जैसे मैं पृथ्वी से अधर हवा में लटक रही हूं।

बहुत देर मैं आंख बन्द किए पड़ी रही। फिर उठी। आवश्यक कृत्य किए, नहाई और कपड़े बदले। अब मुझे बड़ी भूख लग रही थी। परन्तु रसोड़े से कुछ मिलना सम्भव न था। कोठरी में कुछ मिठाई रखी थी, वही मैंने खाई और उठकर ठण्डा पानी पिया। फिर मैं बिछौने पर पड़ गई। बहुत देर तक पड़ी रही। संध्या का अन्धकार फैल गया। मैं अकेली थी। अकेले पड़े-पड़े मैं बेचैन हो गई। रात हो गई थी, दिया-बत्ती जल गए थे, जब मैं धीरे-धीरे संकोच से सिकुड़ी-सी मां के कमरे की ओर जा रही थी।

मैं घबरा रही थी कि न जाने मां क्या कहेगी। क्या पूछेगी। परन्तु वे सब बातें उसे मैं कैसे बताऊंगी! कैसे कहूंगी! मां ने मुझे देखकर कुछ नहीं कहा। न कुछ पूछा। उसने एक विचित्र दृष्टि से मेरी ओर देखा। उसके होंठों पर एक मीठी स्मित रेखा और नेत्रों में सन्तोष की झलक थी। उसकी उस दृष्टि को देख मैं कुछ ऐसी लजाई कि दौड़कर मैंने उसकी गोद में अपना मुंह छिपा लिया। मां ने मेरे सिर पर दोनों हाथ रखकर मुझे अपनी छाती से लगा लिया। ऐसा प्यार और संरक्षण मैंने कभी आज से प्रथम मां से नहीं पाया था। बड़ी देर तक मैं उसी तरह मां के वक्ष में मुंह छिपाए खड़ी रही। जब मैंने मुंह उठाया तब देखा, मां का मुंह आंसुओं से भीगा हुआ है। उसने आहिस्ता से मुझे अपने वक्ष से अलग किया और कहा, "अन्नदाता ने पसाव भेजा है।" सुनकर मैंने मां के मुंह की ओर देखा। मैंने देखा उसकी दृष्टि सामने चौकी पर रखे, पीले कपड़े से ढांपे हुए एक बड़े-से ढेर पर लगी है। मैंने भी उसी ओर नजर उठाई। कौतूहल

और उत्सुकता से मैंने जाकर उस ढेर का वस्त्र हटाया। देखकर मेरी आंखें चौंधिया गईं। एक भारी जोड़ा था, जैसा कुंवरी पहनती थीं। कुछ जड़ाऊ गहने थे। ढेर सोने की मुहरें थीं। मिठाई और मेवे के थाल थे। ये सब इतनी चीजें किसके लिए आई हैं? मैंने मां से आंखों ही आंखों में प्रश्न किया। मां ने अभिप्राय समझकर, मुस्कराकर कहा, "यह महाराज श्री ने तेरे लिए प्रसाद भेजा है।"
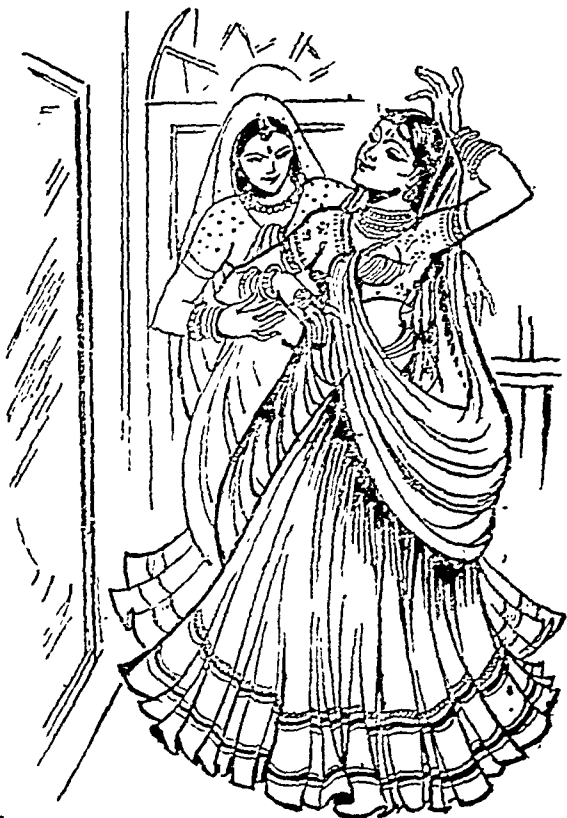
"मेरे लिए?" मेरे मुंह से टूटे-फूटे शब्द निकले। आंखें फाड़-फाड़कर मैं उन सब चीजों को देखने लगी। अपने जीवन में मैंने इतनी चीजें कभी नहीं देखी थीं। ये सब क्या मेरे लिए हैं, मेरे लिए! मैं आनन्द से विह्वल हो गई। मेरा कलेजा उछलने लगा और मैंने परेशान होकर मां की ओर देखा। मां ने कहा, "यह जोड़ा पहन।"

मेरा मुंह सूख गया। क्या मैं? कांपते हाथों से मैंने जोड़ा छुआ। इसी समय केसर आ गई। वह सीधी मेरे पास आई। अपने हाथों से उसने मुझे जोड़ा पहनाया, सब गहने सराह-सराहकर पहनाए। फिर मेरी ओर

मिठाई से भरा थाल मेरे सामने रखकर कहा, "खाओ, रानी जी !" मैं लजा गई। मैंने केसर की गोद में मुंह छिपा लिया। मेरी आंखों में आंसू उमड़ आए। केसर ने हंसकर मेरे मुंह में मिठाई ठूंस दी। उसने न जाने क्या-क्या कहा, वह सब समझने-सुनने की परिस्थिति में उस समय मैं नहीं थी। मैं उसी भांति केसर की गोद में पड़ी यही सोचती रही कि आज मुझे फिर उस शयन-कक्ष में ले जाया जाएगा या नहीं। भय, उल्लास, उद्वेग और लाज से मैं अभिभूत हो रही थी। मां और केसर धीरे-धीरे मेरे ही सम्बन्ध में बातें कर रही थीं। इसी समय केसर ने कहा, "अन्नदाता चले गए। जाते समय जुहार करने मैं गई थी। महाराज ने मुझे यह पंच-लड़ी और पांच अशर्फियां इनाम में दीं।"

अन्नदाता चले गए। न जाने क्यों, मेरे कान में यह वाक्य बन्दूक की गोली की भांति लगा। मैंने मुंह उठाकर केसर की ओर देखा, केसर ने एक बार मुझे देखा। अपनी गोद में मुझे खींचकर वह उसी भांति मां से मेरे और अन्नदाता के नये सम्बन्ध और भावी परिस्थितियों के अनुमान तथा सम्भावित परिणामों की चर्चा करने लगी। उन सब बातों को मैं अपने दोनों कानों से नहीं, अपने सम्पूर्ण रोम-कूपों से सुनने लगी।

इसी समय मां ने कहा, "खड़ी हो, देखूं जोड़ा ठीक नाप में बैठा है या नहीं।" मैं खड़ी हुई। मां ने और केसर ने मेरे चारों ओर घूम-फिरकर देखा। सन्तोष प्रकट किया। फिर केसर ने मुझे मां के आदम कद शीशे के सामने ला खड़ा किया। उस जोड़े और जड़ाऊ गहनों में अपना नवल रूप देख मैं पागल हो गई। लज्जा और आनन्द के भावातिरेक से बौखलाकर मां के पलंग पर मुंह छिपाकर औंधी पड़ रही।

बात फैल गई

कुंवरी को किसी न किसी रूप में इस बात का पता चल गया। मुंह से उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा, पर उनकी आंखों में एक भय और

विरक्ति की रेखा मैंने देखी। यह रेखा मरते दम तक उनकी आंखों में रही। जैसा कि मैं कह चुकी हूं, वह बहुत भावुक और मानिनी तथा मित-भाषिणी थीं। मैं समझती हूं कि उनके सामने वह घटना जब विकृत होकर पहुंची, तब उनके हृदय को चोट तो लगी ही होगी। यह स्वाभाविक भी था। पर मैं भी इस सम्बन्ध में क्या कर सकती थी। आरम्भ में मैं कुछ अपराधिनी-सी लज्जित-सी उनके सामने जाती, पर पीछे एक ढीठ भाव मेरे मन में उत्पन्न हो गया। जैसे मैंने उनकी परवाह करनी ही छोड़ दी। मेरा यह भाव-परिवर्तन भी उन्होंने देखा—परन्तु इसपर भी उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा। हां, अब मैं उनसे हृदय से दूर अवश्य हो गई। वह मुझे देखकर दिल की बातें नहीं कहती थीं, मेरे न आने पर कभी बुलाती नहीं थीं, हंसकर कभी बोलती नहीं थीं। पहले जैसे वह प्यार करतीं, सरल भाव से अपनी आवश्यकताएं बतातीं, वह सब अब नहीं करती थीं। परन्तु मैंने अपने अदब-कायदे और विनय में कुछ भी परिवर्तन नहीं आने दिया था। यद्यपि मैं अब उनकी ओर से बेपरवाह हो गई थी, फिर भी जब उनके सामने होती थी, तब पहली जैसी अधीनता से ही बातें करती थी।

दाता के कान में भी शायद यह बात पड़ चुकी थी। मैंने देखा कि मुझे देखकर उनका मुंह गम्भीर हो जाता था और जैसे वह कुछ परेशान-से हो जाते थे। मैंने यह भी देखा कि मेरे प्रति उनका पहले जैसा मोह और ममता का भाव अब न रह गया था। मुझे देखकर अब वह हंसकर मेरा हाल-चाल नहीं पूछते थे। हंसी-ठट्ठा नहीं करते थे। असल बात यह थी कि वह अपनी पुत्री को बहुत चाहते थे। पुत्री मैं भी उन्हींकी थी, पर बिना माता की अपनी उस पुत्री के प्रति उनके मन में बड़ी गाढ़ी प्रीति थी। वह उनकी एकमात्र सन्तान भी तो थी। मैं तो उनकी सन्तान होने पर भी सन्तान न थी। मातृहीना कुंवरानी स्वभाव से ही गम्भीर, मित-भाषिणी, एकान्तप्रिय और नाजुक थीं। ठाकुर साहब उनका बड़ा ख्याल रखते थे और जब उन्हें इस अकल्पित घटना का पता लगा, तब तो उनका मन मातृहीना पुत्री के लिए द्रवित हो उठा। उन्हें कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे मैंने ही तो, विवाह से पूर्व, सौभाग्योदय से पहले ही उनकी प्रिय पुत्री

का दुर्भाग्य उदित हो गया। पर प्यार उनका मेरे प्रति भी कम न था। कुंवरानी के वाद मैं ही तो उनकी आत्मीय थी, जिनमें उनके रक्त का अंश था। फिर उनकी सेवा और आवश्यकताओं का मैं ही सवसे अधिक ख्याल रखती थी। कव, कहां, क्या वस्तु दाता को चाहिए यह मुझसे अधिक कौन जानता था? दाता भी यह वात जानते थे। इसीसे वह मुझे देखकर प्रसन्न रहते थे। उनकी उदासीनता देखकर भी मैंने अपना भाव वदला नहीं, उनकी सेवा-सुश्रूषा वैसे ही यत्न और तत्परता से करती रही। फलतः मेरे प्रति उनकी उदासीनता देर तक टिकी नहीं रही और वह फिर मुझसे उसी भांति खुश रहने लगे। ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे मेरे विषय में भी उन्होंने मन ही मन में कुछ वैसा ही निर्णय कर लिया था जैसा कुंवरानी के सम्वन्ध में।

धीरे-धीरे विवाह की चर्चा और तैयारियां सरगर्मी से होने लगीं। नये वस्त्र, नये आभूषण, नये सामान जुटाए जाने लगे। मुझसे यह छिपा न रहा कि वस्त्राभूषण आदि कुंवरानी के लिए ही नहीं,मेरे लिए भी तैयार हो रहे थे। मैं धड़कते हृदय से आने वाले दिनों की प्रतीक्षा कर रही थी। विवाह कुंवरानी का हो रहा था, पर उसकी उत्सुकता मुझे ही अधिक थी। वहुधा मैं उस रात की वातों को एक-एक याद कर करती, हंसती, रोती और छटपटाती। अव आगे क्या होगा? मुझे कभी कोई वात वताता नहीं था, कोई मुझसे सलाह करता नहीं था। मां से अवश्य दाता की सलाह होती थी, पर मुझसे वह भी कुछ कहती न थी। हां, मेरी गतिविधि और रहन-सहन पर अवश्य कड़ी नजर रखती थी। और, केसर तो जैसे मेरे ऊपर थानेदार नियत कर दी गई थी। वह मेरे साथ दासी की भांति अधीनता से अवश्य व्यवहार करती थी, पर हर वात में उसकी सख्त नजर थी। इसलिए दिल में अनेक वार मुझे उसके उलाहने और उसकी डांट-डपट भी सहनी पड़ती थी। शुरू में मेरे लिए ये सव वातें असहनीय-सी लगी थीं, पर अव मैं अनुशासनप्रिय हो गई थी। मैंने अपनी वहुत-सी आदतें वदल डाली थीं। इन्हीं पांच-छः मासों में मेरी जैसे काया-पलट ही हो गई थी। एक अल्हड़ वछेड़ी, हवा में उड़ने वाली तितली जैसे भारी-भरकम गरिमामयी स्त्री वन चुकी थी मैं। और अव यह मेरा नया जीवन मुझे भा

गया था और मैं तन-मन से इस नये जीवन में रम गई थी।

हवेली में मेरी इज्जत बहुत बढ़ गई थी। सभी दासियां-दास मेरी आवभगत करने लगे थे, यहां तक कि मां भी अब मुझसे और ही ढंग से, कुछ दबकर बोलती थी, यद्यपि मेरी प्रत्येक चेष्टा, रहन-सहन, चालचलन सब पर उसकी कड़ी दृष्टि रहने लगी थी। मेरी तनिक-सी भी असावधानी पर वह मुझे सावधान करती। अब मैं मनमाने तरीके से, सटर-पटर कपड़े पहनकर इधर-उधर नहीं घूम सकती थी। कपड़े-लत्ते से, सब तरह मुझे चाक-चौबन्द रहना पड़ता था। मेरे लिए कई नयी पोशाकें तैयार की गईं। एक बड़ा-सा बक्स खरीदकर मुझे दिया गया। उसमें मेरी सब अशर्फियां और मेरे सब जेवर रखे रहते थे। जब मैं अकेली रहती, तब भीतर से अपनी कोठरी का द्वार बन्द कर उन्हें देखती। अशर्फियों को गिनती। भांति-भांति के मंसूबे बनाती। मैं नहीं जानती थी कि मेरा भविष्य क्या होगा। परन्तु एक बहुत बड़ी बलवती आशा मेरे हृदय में जमकर बैठ गई थी। और भीतर ही भीतर मैं अपनेको कुछ असाधारण-सा अनुभव करती थी। परन्तु इस सम्बन्ध में किसीसे मैं कुछ कहती-सुनती नहीं थी। केसर अब अधिकतर मेरे ही पास रहती थी। वह अब एक दासी की भांति मेरी सेवा करती, अधीनता और आदर से बातचीत करती थी। वह मुझे 'रानी जी' कहकर सम्बोधन करती थी। पहले उसका यह सम्बोधन मुझे व्यंग्य-सा प्रतीत होता था, किन्तु अब जैसे मैंने अपना यह नया नाम स्वीकार कर लिया था, और कभी-कभी सचमुच मैं रानी की ही भांति व्यवहार करती और अपनेको रानी ही समझती थी। मां और केसर मेरी सभी हलचल और छोटी-छोटी चेष्टा का पूरा ध्यान रखती थीं और अब मैं भी जैसे अपना गौरव समझ गई थी और उसीके अनुसार रहने, व्यवहार करने लगी थी।

नये जीवन की राह पर

परन्तु महाराजाधिराज व्याहने नहीं आए। राजपुरोहित, चारण, भाट और राज्य के दीवान उनकी कटार और फेंटा लेकर आए। राजपूताने का यह पुराना दरबारी कायदा था, जो कदाचित् उस जमाने का था जबकि राजा लोग युद्धरत रहते थे, उन्हें बहुत कम फुर्सत रहती थी, दूर देश के यातायात साधन सुलभ न थे और राजा को स्वयं अधिक समय न था, खासकर व्याह जैसे फालतू काम के लिए। देर तक युद्धस्थली या राजगद्दी को सूनी छोड़कर अनुपस्थित रहना उन्हें श्रेयस्कर न था, कदाचित् निरापद भी न था। जी हां, मैंने व्याह को एक फालतू काम कहा। राजाओं के व्याह उनके जीवन की ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएं न थीं, जिनका उनके जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़े। ये व्याह तो होते ही रहते थे, कभी-कभी तो वर्ष में दो-चार। उनकी गिनती कौन करता था ? और परवाह किसे थी ? ठाकुर-ठिकानेदार अपनी लड़कियां रनवास में ठूंस देना लाभदायक समझते थे। इससे उन्हें दो लाभ थे, लड़की रानी बन जाती थी और ठिकानेदार को सदा बड़ी-बड़ी रियासती सुविधाएं आसानी से राजा से दिलाती रहती थी। ये ठाकुर-ठिकानेदार भले ही एक गांव के ठाकुर-ठिकानेदार क्यों न हों, उनका रुतबा बढ़ जाता था। वे राजा के ससुर बन जाते थे और अपने इस पद का अधिक से अधिक लाभ उठाते थे। यह तो रही छोटे ठाकुर-ठिकानेदारों की बात। बड़े-बड़े छत्रधारी राजा भी बड़े-बड़े महाराजाओं के रनवासों में अपनी बेटी जैसे-तैसे ठूंस देने में ही अपनी भलाई समझते थे। प्रथम लाभ तो इससे यह होता था कि वे दोनों राज्य आपस में सम्बन्धी और मित्र बन जाते थे। न केवल परस्पर लड़ने का खतरा हट जाता था, अपितु आवश्यकता होने पर शत्रु से लड़ने में वे एक-दूसरे का हाथ बंटाते थे। इसके अतिरिक्त राज्य के भीतरी से भीतरी भेद-समाचार उन्हें मिलते रहते थे। उनके लिए सब सुविधाएं सुगमता से प्राप्त होती थीं। उनकी लड़कियां रनवास में आकर उनकी राजदूत बन जाती थीं और महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सेवाएं करती थीं। इन

सब कारणों से, चाहे बड़ा छत्रधारी राजा हो, चाहे कोई छोटा ठाकुर-ठिकानेदार, वह इस बात की परवाह नहीं करता था कि राजा की आयु क्या है, वह बूढ़ा है या कुरूप आदमी है या जानवर। और लड़की सौतों पर जाती है या सती होने के लिए। वे तो यत्न-विधि से अपनी लड़कियां छत्रपति राजाओं को देते ही थे। संक्षेप में उनकी लड़कियों की शादियां पतियों से नहीं, राजगद्दियों से होती थीं। वे पत्नी नहीं, रानी बनाई जाती थीं। उनमें से बहुतों को जीवन में कभी-कभी एक बार ही पति-सहवास प्राप्त होता था। कभी वह भी न होता था। कभी ब्याह के तुरन्त बाद ही चिता पर जीवित जलकर सती-धर्म निबाहना होता था। पर बहुधा तो वे एक अनावश्यक, उपेक्षणीय थदद की भांति महलों में पड़ी दासियों, गोलियों और खवासों के साथ दिन काटतीं तथा राजा की गोलियों, पड़दायतों, सौतों और नित नये मालों के साथ रंगरेलियों के किस्से कहतीं, सुनतीं, कुढ़ती रहती थीं। पति पर उनका कोई अधिकार नहीं होता था। दूसरी स्त्रियों से सम्पर्क रोकने की उनमें भावना भी न थी, यह तो जैसे होता था, स्वाभाविक ही था। अन्नदाता कभी-कदास उनके महलों में भी पधार जाते थे। यही उनके लिए सबसे बड़े सौभाग्य की बात थी। ऐसे ही वे दिन थे और ऐसे ही रीति-रिवाज उन दिनों राजस्थान में थे। सतीत्व का उन्हें पूरा निर्वाह करना पड़ता था, यद्यपि राजा पक्का लम्पट और शराबी होता था, वे पर-पुरुष को देख भी नहीं सकती थीं, छू भी न सकती थीं। राजा के मर जाने पर उन्हें सती होना पड़ता था। ऐसा भी उदाहरण है कि विवाह के बाद छत्तीस वर्ष वह पति-गृह में रही और इस बीच उसने एक बार भी पति का स्पर्श नहीं किया। फिर दूर देश में युद्ध में पति का देहान्त हुआ, तो उसे उस पति की पाग गोद में रखकर चिता में जलकर सती होना पड़ा। अब आप इसी एक उदाहरण से राजस्थान के राजाओं और उनके रनवासों में रहने वाली रानियों के असाधारण जीवन को समझ सकते हैं।

यद्यपि महाराजाधिराज ब्याहने नहीं आए थे, तथापि राजकुमारी के साथ लवाजमा बहुत था। हाथी, घोड़े, प्यादे, सेवक, दास-दासी, पालकी, नालकी, रथ, बहली, ऊंट, सिपाही, सवार, चाकर और

की गिनती न थी। गढ़ी के बाहर मैदान में दूर तक रावटियों की पांत पड़ गई थी।

गोरी पल्टन का बाजा खास तौर से मंगाया गया था। इसके अतिरिक्त गवैए, रंडियां, भांड, आतिशबाज, कलावन्त दूर-दूर से आए थे। कुछ बुलाए गए थे, कुछ खबर सुनकर अपने-आप ही इनाम इकराम के लालच से चले आए थे। वे जत्थे बांधकर इधर-उधर घूमते, जहां-तहां अपने करतब दिखाते, शोर मचाते, लम्बे-चौड़े आशीर्वाद और शुभकामनाएं जोर-शोर से बकते-झकते फिर रहे थे। शोर, धूल, गर्द और भीड़-भाड़ का अन्त न था। सैकड़ों मंगते, ब्राह्मण और भाट आप ही आ जुटे थे। जहां-तहां वे भी जोर-शोर से बिरद बखान रहे थे। कोई सुने या न सुने, इस बात की उन्हें चिन्ता न थी। सैकड़ों भट्ठियों पर गुलाब, दाल और अन्य मेवों की दारू खींची जा रही थी। सैकड़ों बकरे, मेंढ़े काटे जा रहे थे। विविध मांस और पकवान बन रहे थे। उनकी गन्ध वातावरण में फैल रही थी। दिन-भर भिश्ती लोग छिड़काव करते, रात को सैकड़ों नाई-खवास मशालें जलाते। पर न धूल का बवण्डर दबता था और न अन्धकार दूर होता था। अव्यवस्था और भीड़-भाड़ ऐसी थी कि कोई किसीकी नहीं सुन रहा था। विधि-नियम के अनुसार विवाह सांगोपांग सम्पन्न हुआ। सब रीति-रिवाज अपनाये गए। सब मंगल-विधान किए गए। यज्ञ-वेदी रची गई। अग्नि प्रदक्षिणा हुई। सप्तपदी हुई। ग्रन्थि-बंधन हुआ। हथलेवा हुआ। दूल्हे के स्थान पर फेंटा और कटार ने सब कार्यों और रस्मों की पूर्ति की। राजपुरोहित ने सारे अनुष्ठान किए। विशेष बात यह हुई कि कन्या-दान के समय मैं और नौ और, कुल दस गोलियां भी दहेज में दे दी गई। हमें भी एक विशेष प्रकार के वस्त्र पहनाए गए। हमसे भी गृह देवताओं का पूजन, उपवास और षोड़शोपचार कराया गया। एक प्रकार से हमारा भी उस फेंटे और कटार के साथ आधा विवाह सम्पन्न हो गया। पूरे दस दिन बरात की पहुनाई हुई। दाता ने कुंवरी को बहुत-सा धन, रत्न-मणि दहेज में दिए। हाथी, घोड़े, दास दिए। वरपक्ष की ओर से घर के सब सेवकों को सरोपाव, सोने-चांदी के कड़े और नकदी भी इनाम में दी गई। राजपुरोहित को घोड़ा और चारण को हाथी दिया

गया। इस प्रकार धूमधाम से कुंवरी का विवाह सम्पन्न हुआ। कारचोबी के काम की पालकी में कुंवरी की सवारी चली। उसके पीछे दहेज में दी गई हम दस गोलियों की दस डोलियां चलीं। डोलियों के पीछे सुखपाल पर राजपुरोहित, हाथी पर दीवान और घोड़ों, बहलों और रथों पर दूसरे सरदार, कर्मचारी और सैनिक चले। सबसे आगे ऊंटों पर धौंसा बजता चला। सबसे पीछे घुड़सवार और पैदल पल्टन। चार कोस दूर सीमा पर आकर दाता ने आंखों में आंसू भरकर कुंवरी को विदा किया। फिर वह मेरी डोली के पास आए। न जाने क्या सोचकर वह मुझसे लिपट गए। हिचकियां बांधकर रो उठे। उन्होंने केवल इतना कहा, "चम्पा! कुंवरी की मर्यादा भंग न करना। यह न भूलना कि तू मेरी छोटी बेटी है और कुंवरी बड़ी।" मैंने रोते-रोते दाता के पैरों में धोक दी, पर मेरे मुंह से बोल न फूटा और मैं डोली में बैठ गई। हम लोग आगे बढ़ चले—अपने नये जीवन की राह पर।

राजमहल में

राजधानी की बात मैं क्या कहूं? वहां के तो सब ठाठ ही निराले थे। कभी न देखी, कभी न सुनी बातें मेरे देखने-सुनने में आईं। मेरी छोटी-सी बुद्धि, मेरा नन्हा-सा दिल, भला इन सबको अपनेमें कहां समेट सकता था! सारा नगर हमारी अवाई में सजाया गया था। बन्दनवार-तोरण, ध्वजा-पताका और रंग-बिरंगे द्वार, भांति-भांति के बाजे, ढोल, दमामे, शहनाई, नफीरी, नक्कारे, जिनके गर्जन-तर्जन से सारा नगर हिल रहा था। लम्बे-लम्बे बाजारों में दूर तक कतार बांधे बन्दूकधारी सेना की पंक्ति, जिनके पीछे खड़े हजारों आबाल-वृद्ध-नर-नारी, तुमुल हर्षनाद, गगनभेदी जय-ध्वनि। घरों की अटारियों पर से नगर-वधूटियां झांक रही थीं। रंग-बिरंगी उनकी पोशाकें इन्द्रधनुष-सी लग रही थीं। ठौर-ठौर पर मंगल-गान हो रहे थे। बड़ा लम्बा जुलूस था। आगे ऊंटों पर धौंसा बजता जाता था। उसके पीछे हाथी पर राज्य का झण्डा था, झण्डे के पीछे

टुकड़ी और उसके बाद कुंवरानी की कारचोबी की पालकी और हमारी डोलियां, जिन सब पर पीले पर्दे पड़े थे। और उनके पीछे हाथियों पर दहेज की सामग्री जिसका तांता दूर तक बंधा चला गया था। सोने-चांदी

के असाबल्लम लिए सैकड़ों चाकर, खवास और प्यादे भड़कीली पोशाकें पहने आगे-पीछे चल रहे थे। अनेक सिपाही-बरकंदाज घोड़ा कुदाते आगे-पीछे दौड़कर इन्तजाम कर रहे थे। हमारी सवारी बढ़ी चली जा रही थी। राजमहल की ड्योढ़ियों की ओर चारों ओर नरमुण्ड ही नरमुण्ड नजर आ रहे थे। मेरा कलेजा मुंह को आ रहा था। रह-रहकर मुझे ऐसा

प्रतीत हो रहा था जैसे यह सब मेरे ही लिए हो रहा हो। क्षण-क्षण में मैं भूल जाती थी कि ब्याह मेरा नहीं, कुंवरी का हुआ है और मैं दहेज में दी हुई एक गोली हूं, चाकर हूं। सबके ऊपर एक बात मेरे मन पर जमकर आ बैठती थी, वह यह कि मैं तो ठाकुर की बेटी हूं, गोले चाकर की बेटी नहीं। और मेरी मां रानी न सही पटदायत तो सरदार की है, अतः मेरी इज्जत कुछ कम नहीं। हाय री इज्जत!

ड्योढ़ियों में सवारी घुसी। राज्य के सब बड़े-बड़े कारबारी, दीवान, अफसर और सरदार-दरबारी उन ड्योढ़ियों पर हमारी अगवानी के लिए हाजिर थे। हाथी-घोड़े और भीड़-भाड़ पीछे रहती गई और हमारी सवारी एक के बाद दूसरे द्वारों को पार करती हुई राजमहल में घुसती गई। ढोल-दमामे भी सब पीछे रह गए। अब एक बड़े महल के प्रशस्त आंगन में हमारी सवारियां उतारी गईं। चारों ओर कनातें खड़ी करके पर्दा किया गया था। सारा महल मकराने के संगमरमर का था। फर्श पर मक्खी के भी पांव रपटते थे। जब मैंने सीढ़ियों पर डोली से निकलकर कदम रखा तब मैं आपे में न थी। मैं नहीं जानती थी कि कुंवरी कहां गई और मेरी साथिन दूसरी गोलियां किधर गईं। एक बूढ़ी-सी औरत मुझे हाथ पकड़कर एक ओर ले चली। चारों ओर से मैं कपड़ों में लिपटी हुई, घूंघट से घिरी हुई उस औरत के पीछे चली। कानों में चारों ओर बहुत-से लोगों के चलने की आहट आ रही थी। महल के प्रशस्त प्रांगण में शायद सन्तरियों की बन्दूकें दागी जा रही थीं। उनकी कड़कड़ाहट मुझे चौंका रही थी। कभी-कभी मेरे पैर लड़खड़ा जाते थे। कई बार तो मैं गिरते-गिरते बची। अन्ततः एक खूब सजे-धजे कमरे में मैं पहुंची। सारा फर्श सफेद-काले पत्थर का था। बड़े-बड़े दालान थे। उनमें फूलों के गुलदस्ते सजे थे। कद्दे-आदम दो शीशे लगे थे। दीवारों पर सुनहरी और रंगीन नगों की पच्चीकारी हो रही थी। सामने की बारहदरी में दो मोर पच्चीकारी में उभारदार बने थे। द्वार बहुत ऊंचे थे। उनपर लाल कीमखाब पर्दे पड़े थे। भीतर फर्श पर साफ चांदनी बिछी थी। एक ओर [illegible]
दूसरी ओर सुनहरी काम की कोच, कुर्सियां [illegible]
संगमरमर की मेज पर बड़े-से [illegible] के पात्र में [illegible]

थीं। भारी-भारी झाड़-फानूस, हांडियां छत से लटक रहे थे। हे परमेश्वर, यह सब मेरे लिए था! केवल मेरे लिए? मेरा घर। मुझे अपनी वह अंधेरी तंग कोठरी याद आ रही थी, जहां मैंने अब तक की अपनी समूची जिन्दगी बिताई थी। बीते हुए दिन एक-एक करके आंखों में घूम रहे थे। दिल जैसे पसलियों से निकला पड़ता था। मैं पागल की भांति कभी इधर-उधर, ऊपर-नीचे देखती; कभी सोचती। कुंवरानी कहां हैं, मेरी और साथी संगिनें कहां हैं? अब आगे क्या होगा? मेरे लिए सब कुछ नया था, सब कुछ अनहोना था, सबकुछ मेरी मूढ़ बुद्धि से बाहर था। सच तो यह है कि मैं बौखला गई थी और मेरे होश-हवास ठिकाने न थे।

मुझे यहां छोड़कर वह औरत कहां चली गई थी। दो-चार लौंडी-बांदियां इधर-उधर आती-जाती दीख रही थीं। वे इधर-उधर कुछ सामान ला रही थीं। कुछ आवश्यक चीजें कमरे में रख रही थीं। पर मुझसे कोई न बोल रहा था। मैं अपने ही में सिमटी-सिकुड़ी-सी चुपचाप जैसी आई थी वैसी ही एक ओर बैठ गई थी। इसी समय केसर वहां आई। उसे देखते ही मेरे मन को ढाढ़स हुआ। वह वैसी ही शान्त, तत्पर और सक्रिय थी जैसे यहां वह पहले भी रह गई हो। उसने कहा, "कपड़े बदल लो, हाथ-मुंह धो लो, कलेवा आ रहा है। कलेवा करके नहाना। तब श्रीजी के दर्शन को चलना होगा।" उसने मेरे उस बड़े सन्दूक का ताला खोला। कितना भद्दा लग रहा था मुझे वहां वह मेरा सन्दूक। और उसमें रखी हुई वे सब चीजें, जो मैं कभी बड़े चाव और यत्न से देखती-रखती थी, आज मुझे कितनी तुच्छ और भद्दी लग रही थीं।

कपड़े बदलकर मैंने कुछ खाया, फिर स्नान करने गई। गुसलखाना मेरी उस कोठरी से भी बड़ा था। उसमें फव्वारा, शॉवर बाथ, टब, तौलिये, साबुन, शैम्पू, कंघी, ब्रुश, तेल-फुलेल, पाउडर और न जाने क्या-क्या सजा था। सफेद दूध-सा टाइल का वहां फर्श था। मेरे बाप-दादों ने भी कभी ये सब चीजें न देखी थीं, न काम में ली थीं। चीनी के टब में पानी भरा था। बड़ी देर तक मैं मूढ़ बनी यह सब देखती रही, फिर मैं सब लाज-संकोच छोड़ कपड़े एक ओर फेंक टब में घुस गई। फव्वारा मैंने खोल दिया और निर्द्वन्द्व होकर हंसिनी की भांति जल में किलोल करने लगी।

तक मैं उस श्वेत विशाल टब में, स्वच्छ-शीतल जल में मछली की भांति खेलती रही, फव्वारे की धार शत-सहस्र कणों में बिखरकर मेरे वक्ष पर, पीठ पर आघात कर रही थी। वह कितनी प्रिय और सुखद-सी प्रतीत हो रही थी! खुली हुई मेरी सघन केश-राशि जल में तैर रही थी। मेरी तीन दिन की यात्रा की थकान न जाने कहां विलीन हो रही थी। कभी-कभी ध्यान आता था, क्या यह स्वप्न तो नहीं है? परन्तु नहीं। अब यह मेरे जीवन का नित्य का भोग उपस्थित था।

बहुत देर तक मैं जल-विहार करती रही। अन्ततः मैंने साबुन से शरीर को और सिर को खूब धोया। उपस्थित वस्तुओं में से जिनका भी मैं इस्तेमाल कर सकती थी, इस्तेमाल किया। और जब मैं बाहर आई, केसर प्रतीक्षा कर रही थी। उसने सन्तोष की नजर से मुझे देखा। मैंने चुपचाप पोशाक बदली। अन्नदाता ने जो जोड़ा मुझे बख्शा था, उसे ही आज मैंने धारण किया। केसर ने बिलकुल नये ढंग पर मेरे बाल बांध दिए। फिर कहा, "चलो अब, श्रीजी के दर्शन करने। फिर कुंवरानी के महल में हाजिर होना होगा।" और मैं यन्त्र-चालित-सी केसर के पीछे चल दी। केसर ही उस भंवर में मेरी नाव की खिवैया थी।

महारानी के सामने
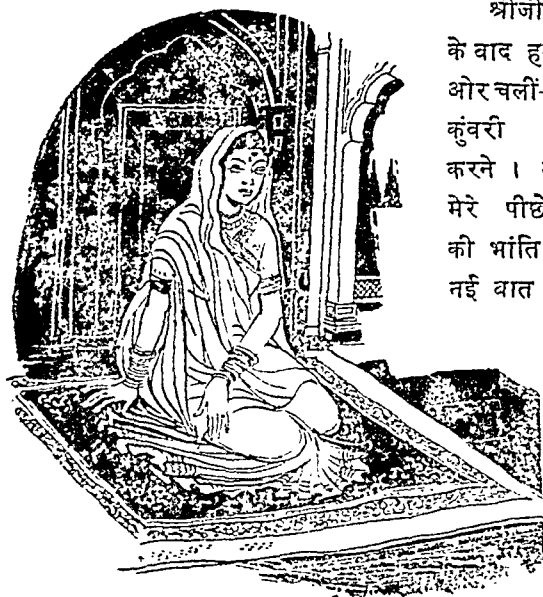
श्रीजी के दर्शन-पूजन के वाद हम रंगमहल की ओर चलीं—मैं और केसर कुंवरी को जुहार करने। आगे मैं और मेरे पीछे केसर छाया की भांति। यह भी एक नई वात थी। अव तक तो सव कामों में आगे केसर ही थी, उसके पीछे छाया की भांति मैं रहती थी। पर अव तो सभी वातें नई थीं।

ज्यों-ज्यों मैं आगे वढ़ती जाती थी, मेरे दिल की धड़कन वढ़ती जाती थी। पैर सौ-सौ मन के हो रहे थे, जैसे उनमें पारा भर दिया हो। मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे मैं वध-स्थली पर जा रही हूं। कुंवरानी को मैं प्राणों से वढ़कर प्यार करती थी। यहां वही मेरा सवसे वड़ा सहारा थीं। सदैव वचपन ही से हम एकदिल थीं। मन की गांठ वह मेरे सामने ही खोल पाती थीं। मैं भी दो घड़ी उन्हें न देख पाऊं तो छटपटाने लगती थी। यद्यपि मैंने कभी अदव भंग नहीं किया था, फिर भी मैं कभी

कि कुंवरानी के सम्मुख जाने से पूर्व ही मैं मर जाऊं। कुएं-पोखर में डूब मरूं। केसर ने मुझे समझा दिया था कि उनसे सावधान रहकर बातें करना। वह जब से आई हैं, रो रही हैं। उनका जी अभी ठिकाने नहीं है। राह में उन्होंने कुछ भी खाया-पिया नहीं है। उसने यह भी बता दिया था कि अब उनकी मान-मर्यादा का भी ख्याल रखना होगा। अब वह कुंवरानी नहीं, महारानी हैं। सारी ही बातें मैं सुन रही थी, उन बातों का मतलब भी मैं समझ रही थी फिर भी केसर ने बता दिया था कि सारा रोना-धोना तेरे ही कारण है। महाराज ने तुझे पृथक् महल दिया है इसीसे। तो मैं ही अपनी प्राणाधिक प्रिय कुंवरी के इस अन्तः विवाद का कारण हूं। मैं जन्मजात अभागिनी, चाकर-गुलाम गोली उनकी सौत बनकर यहां रंगमहल में घुसी हूं। इतना ही नहीं, उनके नववधू के प्रथम सुहाग पर लात मारकर उन्हींकी सुहाग-सेज को, जो किसी भी हिन्दू कुमारी के जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य और स्त्री मात्र की सबसे बहुमूल्य भाग्य-सम्पदा है, अपने चरणों से दूषित कर चुकी हूं। हाय राम, इसी सौभाग्य-सेज के अधिकार का मूल्य चुकाने को तो शत-सहस्र राजपूत बालाओं ने जौहर की ज्वाला में अपनेको भस्म किया था! इसी सौभाग्य-सेज के अधिकार का गर्व प्रत्येक हिन्दू स्त्री को अपने प्राणों से भी अधिक है। वही मैंने कलुषित कर डाली है और अपनी इस कुत्सा पर मैं प्रसन्न हूं, सन्तुष्ट हूं, उद्ग्रीव हूं, और अब उसी कुत्सा का यह पुरस्कार, यह साज-शृंगार, महल-अटारी! लाज और ग्लानि से मैं अधमरी हो गई। परन्तु मैं इसमें क्या कर सकती थी, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था। मेरा इसमें अपराध क्या था, यह मैं नहीं जान पा रही थी। केसर की सारी बातें सुनकर भी मैं चुप ही रही। शंका-समाधान भी भला क्या हो सकता था? मैं लाज से मैं धरती में गड़ी जा रही थी। धड़कते कलेजे से मैंने कुंवरानी के रंगमहल की पौर में पैर रखा। पौर में पैर रखते मैं ठिठकी, केसर ने पीछे से मुझे आगे धकेल दिया। एक बार भयभीत दृष्टि से मैंने उसकी ओर देखा, उसने होंठों ही में कहा, "हौसला करो, चलो।"

मैं तो अपने ही महल को देखकर दंग थी। वहां जो कुछ

अपने जीवन में कभी देखा न था। रंगमहल के पौर में पैर धरते ही जैसे मेरा सिर घूमने लगा। वहां की शोभा, सुषमा, गरिमा, भव्यालोक-सी माधुरी देखकर मेरा सिर चकरा गया। समूचा फर्श दूध के समान धवल मर्मर का था। दीवारों पर रंगीन पच्चीकारी, ठौर-ठौर पर रंगीन फव्वारे, छतों पर सुनहरी काम, अनगिनत बिल्लौरी झाड़। सुन्दर पिंजरों में देश-विदेश के दुर्लभ पक्षी। उनका कलरव। देश-देश के फूलों के झाड़, लता-गुल्म। एक से एक बढ़कर दालान, कमरे-कक्ष, जहां लाल कनात और ईरानी कालीनों के ऐसे फर्श, जिनपर पैर रखते ही हाथ-भर धंस जाता था। बड़े-बड़े कद्दे आदम शीशे-आइने, जिनमें प्रतिबिम्बित भव्य महल की छवि एक-दूसरे ही महल की झांकी का भ्रम उत्पन्न करती थी। यह सब देखकर मैं बौखला गई। केसर मेरे पीछे छाया की भांति चल रही थी। उसीसे मुझे ढाढ़स बंधा था। दालानों, कमरों और गैलरियों तथा सीढ़ियों का अन्त ही न था। हम बढ़े चले जा रहे थे। जगह-जगह सिपाही, अरसाबरदार, चोबदार, लाल रंगीन वर्दी पहने, ढाल-तलवार लगाए, अपने-अपने काम में मुस्तैद। चाकर, खवास, जी-हुजूरिये, लौंडे, बांदी, दीवान, मुत्सद्दी, मुफ्ती और न जाने कितने कारभारी सरकारी लोग भांति-भांति की पोशाकें पहने इधर से उधर आ-जा रहे थे। हम ज्यों-ज्यों रंगमहल की भीतरी पौर में घुसते गए, भीड़-भाड़ बढ़ती गई। अन्त में हम शीशमहल में जा पहुंचे।

कारचोबी की मसनद पर कुंवरी सादा परिधान पहने अधोमुखी बैठी थीं,दो-चार बांदियां हाथ बांधे दीवार से चिपकी खड़ी थीं। बाहर की भीड़-भाड़ का शोर यहां बिलकुल न था। प्रशस्त गवाक्षों से दूर तक फैले हुए हरे-भरे लॉन और मोरपंखी के पौधों की कतारें एक अजीब दृश्य उपस्थित करती थीं। प्रांगण में जो बड़े-बड़े लाल और सफेद गुलाब क्यारियों में फूले थे, उन्हें चारों ओर से घेरकर रंगीन फव्वारे इन्द्रधनुष के भू-अवतरण का समां बांध रहे थे। कक्ष में जो ताजा जुही, चम्पा, चमेली और हरसिंगार के फूलों के तोरण और गुच्छ सजाए गए थे, उनकी महक चन्दन, अगरु, केसर और कस्तूरी की धूप-गन्ध से मिलकर मनुष्य की चेतना को उन्मत्त कर रही थी। प्रभातकालीन मलय मारुत मन्द-मन्द बह

रही थी। सामने ही सरोवर का भव्य दृश्य था, जिसपर सारस, चकोर, हंस कलरव कर रहे थे।

कुंवरी ने सादा केसरी साड़ी पर सांगानेरी चुनरी लपेट ली थी। उनके मेहंदी-चित्रित हाथों में लाख का नवीन चूड़ा और मस्तक पर सौभाग्य-बिन्दु उनकी सुषमा को चार चांद लगा रहा था। उस समय उनके शरीर पर दो-चार गहने थे और उनका मुंह विषाद से भरा हुआ था। पहले ही कह चुकी हूं कि उनका रंग गोरा न था। पर उस समय जो गरिमा उनके मुखमण्डल और अंग में थी, उससे वह महा-महिमामयी महारानी-सी दीख रही थीं। मैं कलमुंही, जिसे रूप का बड़ा घमण्ड था, इस रूप पर भारी जोड़ा सजाकर ठसक से वहां पहुंची थी। कुंवरी का वह गरिमामय सादा स्वरूप देख मैं लाज से गड़ गई। मैंने देख लिया, लाख रूप हो, लाख शृंगार हो, पर मैं गोली हूं, दासी हूं, चाकर हूं, जन्मजात गुलाम हूं। मेरा यह रूप मुलम्मे का रूप है। यह साज-शृंगार किराए का है। ऊपर से लादा हुआ है। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे अभी-अभी मेरा कलेजा फट जायगा। मुझे जैसे अपनी सुधि नहीं रही। मैं अन्धी की तरह दौड़कर कुंवरी के चरणों में 'घणी खम्मा अन्नदाता' कहती हुई भूमि पर गिर गई और दोनों हाथों से उनके चरण पकड़ लिए।

मैंने अपने हाथों पर उनके शीतल हाथों का स्पर्श अनुभव किया। मैंने यह भी जाना कि उनके हाथ कांप रहे हैं। किसी ने मुझे सहारा देकर उठाया। आंसुओं की धारा मेरे नेत्रों से बह रही थी। जैसे मैं मर रही हूं, ऐसा मुझे लग रहा था। सारी दुनिया मेरे चारों ओर जैसे लट्टू की भांति घूम रही थी। हिचकियां लेते हुए मेरे होंठों ही से टूटे-फूटे शब्दों में निकला, "घणी खम्मा अन्नदाता…" और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे महाकाल रात्रि का अन्धकार चारों ओर से घिरा चला आ रहा है। कुछ ही क्षणों में मेरे कान और नेत्र निकम्मे हो गए। मैं मूर्च्छित होकर गिर गई।

"चम्पा, मेरी बहन ! तुझे क्या हो गया है ? कैसा जी है तेरा ?"

अब मैंने उनके मुंह की ओर देखा। आंखें उनकी सूजकर फूल गई थीं और वे लाल गुड़हल का फूल हो रही थीं। आंसू उनमें न थे। सूनी दृष्टि थी। सूखे होंठ और पीला मुख। तत्क्षण ही मेरी दृष्टि कक्ष में चारों ओर घूम गई। छोटा-सा ही कक्ष था, पर सब नीचे से ऊपर तक सुनहरी काम से सजा हुआ। फर्श पर मखमली गद्दा, द्वार पर पीली साटन के पर्दे और चांदी का छपरखट। तत्क्षण ही मैंने समझ लिया कि मैं कुंवरी की राज-सेज पर पौढ़ी हूं। मैं हड़बड़ाकर उठने लगी पर कुंवरी ने मुझे दोनों हाथों से पकड़ कर कहा, "अभी सोती रह, तेरा जी ठिकाने नहीं है।"

पर मैं उछलकर फर्श पर आ गिरी। मैंने कहा, "मैं अच्छी हूं अन्नदाता ! यह आपने क्या किया ? अपनी राज-सेज पर…।" मैं आंसुओं की बौछार छोड़ती हुई कुंवरी की लाल-लाल फूली और सूजी हुई आंखों की ओर देखने लगी, जिस प्रकार आंखों में करुणा भरकर जैसे वध-क्षण पर वध्यपशु देखता है। पर कुंवरी ने वहीं फर्श पर बैठकर मुझे अंक में भर लिया और शान्त, स्थिर, मन्द स्वर में कहा, "चम्पा बहन, तुझे तो विधाता ने मेरी सेज का भागीदार बना दिया है। अब इन बातों में क्या है ? फिर तू मेरी बहन ही तो है, न दाता ने न मां ने ही हम दोनों में कुछ अन्तर समझा। और मुझे तो तू सदा से ही प्राणों से अधिक प्रिय रही है। अच्छा ही है कि अब जीवन-भर का गंठजोड़ हो गया, बहन ! पर मैं तुझ जैसी समझदार नहीं हूं, मूर्खा हूं, भीरु हूं, फिर रोगी भी रहती हूं। इसलिए अब तो मेरा सबसे बड़ा सहारा तू ही है। बचपन जैसे हिलमिलकर बीता, वैसे ही जवानी की यह अन्धी दुनिया भी बीत जायगी, बहन ! तूने जैसे बचपन में मुझे सहारा दिया है, अब भी देती चलना और समझना हम-तुम दो नहीं हैं, एक हैं। एक प्राण दो शरीर।"

इतना कहकर कुंवरी ने मुझे कसकर अंग में भर लिया और वह बार-बार मेरा आंसुओं से भीगा मुंह चूमने लगीं। पर मैंने पागल की भांति उनके चरण दोनों हाथों में कसकर पकड लिए और अपने होंठ उनपर रख दिए। मैंने सिर उनके चरणों पर धुनते हुए कहा, "नहीं, नहीं, अन्न-

दाता, मैं आपके बराबर नहीं। आप श्री की चाकर-गोली-बांदी हूं महा-रानी! मैं आपके चरणों की इस कनी उंगली के नाखून की बराबरी भी नहीं कर सकती। अन्नदाता, मेरी तकसीर माफ करना। माई-बाप, मेरा अपराध नहीं है, अपनी कृपा और सेवा से मुझे दूर न करना, दुहाई महा-रानीजी की।"

"तू पागल है, ऐसी बातें क्यों कहती है भला? अरी पगली, मैं तो वही तेरी बहन कुंवरी हूं। हमारी मां दो हैं, पर पिता एक है। और अब तो इस सौभाग्य-सेज ने हम दोनों को ही एक बना दिया है।" इतना कहकर कुंवरी भी अपनी आंखों से झर-झर गंगा-यमुना की धार बहाने लगी। अब तक तो उसकी लाल-लाल गुल्लाला बनी, फूली-सूजी हुई आंखें सूनी, सूखी थीं। अब उनसे यों गंगा-यमुना की धार बहती देख मेरे प्राण व्याकुल हो उठे। मैं अधीर होकर रुदन करने लगी। बरसाती नदी की धारा की भांति मेरे आंसू बह चले। हम दोनों की ही वाणी अब जड़ हो गई और हम परस्पर एक-दूसरे के आलिंगन में बद्ध चुपचाप रुदन करने लगीं। ऐसा रुदन, जिसका ओर-छोर न था, आदि-अन्त न था। न जाने कितना विषाद, कितना कलुष, कितना मलिन मात्सर्य उन आंसुओं के साथ बह गया। मैं तो सचमुच ही अपनेको भूल गई। प्यार की पीर ने जैसे मेरे प्रत्येक रक्त-बिन्दु को आक्रान्त कर लिया। और मैं कुंवरी को अपने अंग में समेटती हुई उन्हें खूब जोर से आलिंगनपाश में बांध बदहवास हो गई। प्यार का इतना आवेग, इतना ज्वार मैंने जीवन में पहले कभी नहीं देखा था। और कुंवरी भी जैसे अपने रोम-रोम को मुझे समर्पित कर अवसन्न हो गई।

न जाने कब तक हम दोनों भाग्य-विदग्धा नारियां यों युगबद्ध मूक-मौन पड़ी रहीं। अब तो हम दोनों अपने-आपको, एक-दूसरे को दे चुकी थीं। हम दोनों दो शरीर एकप्राण हो चुकी थीं। कभी काहे को इस प्रकार संसार में दो नारियां एक हुई होंगी।

केसर की शब्द-ध्वनि मेरे कान में पड़ी। "उठिए अ-म्मा!" वह कह रही थी। उसने हाथ का सहारा दे-कर हम दोनों ने कुंवरी को पलंग पर लिटाया।

लेकर कुंवरी को पिलाया। आंख और मुंह धुलवाया। मेरा भी मुखमार्जन किया। फिर पान के दो बीड़े जबरदस्ती उसने कुंवरी के मुंह में भरकर कहा, "आप तनिक आराम कर लें महारानी।" वह चुपचाप पायताने बैठ उनके पांव दबाने लगी और मैं भी उनका सिर गोद में लेकर बैठ गई और सिर सहलाने लगी। कुंवरी आंख बन्द किए चुपचाप मेरे अंक में पड़ रहीं। धीरे-धीरे उन्हें नींद आ गई। वह सो गई उनके श्रान्त-क्लान्त शरीर को तनिक आराम मिला। केसर धीरे से उठी संकेत से उसने मुझे भी उठाया। एक हल्का शाल उनके अंग पर डाल मेरा हाथ थाम वह कक्ष से बाहर निकली। जैसे चतुर नाव का खिवैय यत्नपूर्वक भंवर से नाव को निकालकर तीर पर ले जाता है, उसी प्रकार केसर मुझे मेरे डेरे पर ले चली। जैसे मैं उसीके पैरों पर चल रही थी जैसे मेरा अपना शरीर था ही नहीं। मैं थी ही नहीं। अब भी मैं ऐसा अनुभव कर रही थी, जैसे सशरीर कुंवरी में रम गई हूं, उनसे पृथक् मैं अब कुछ रही ही नहीं हूं। योगसिद्ध पुरुष जिस तादात्म्य का वर्णन करते हैं वैसा ही तादात्म्य जैसे कुंवरी के साथ मेरा हो गया था।

जब मैं नहा कर निकली

महल में ले जाकर केसर ने मुझे छपरखट पर लिटा दिया। चारों ओर तकिये लगाकर शाल मेरे अंग पर लपेट, मेरे माथे का चुम्बन करके धीरे से कहा, "अब तू जरा-सी झपकी ले ले चम्पा, इससे तेरा जी हल्का हो जायगा। कांसा आने में अभी देर है। मैं तब तक कुंवरी के पास और एक बार हो आती हूं। मुझे वहां देर भी हो जाय तो तू चिन्ता न करना। आज कुंवरी की सुहागरात है, रंगमहल में जलसा होगा, तब तुझे भी चलना होगा। देर तक जागना पड़ेगा। इससे अभी आराम कर लेना अच्छा होगा।" इतना कह और एक बार फिर मेरे मस्तक पर अपना प्रेम-चुम्बन अंकित कर केसर मेरे शयन-कक्ष से बाहर चली गई। मैं अपनी उस सुख-सेज पर नर्म-नर्म गद्दे और तकियों के कोमल सुख-स्पर्श और

को लिए आ उपस्थित हुई। उनके आगे-आगे एक लम्बी चोटी वाल
ब्राह्मण गंगा-पात्र से जल भूमि पर छिड़कता आ रहा था। मैं चुपचाप
चौकी पर बैठ गई। विविध पक्वान्नों के भरे थालों में से परोसगार
आरम्भ हुई। बहुत कुछ परोसा गया। पर मैंने खाया बहुत कम। ज
मैंने खाने से हाथ खींचा, अटाले के प्रधान ने विनम्र स्वर में कहा, "भूल
चूक क्षमा हो, रसोई जैसी भली-बुरी बनी, हाजिर की गई।" मैंने मुस्करा
कर कहा, "नहीं, बहुत अच्छी रसोई बनी।" अटाले के लोग जब चले ग
तब मैं फिर शयन-कक्ष में आकर सो गई! प्रधान दासी ने पानों का भर
डिब्बा और शीतल जल से भरी चांदी की झारी पलंग के पास चौकी प
रखी। एक स्वच्छ तौलिया भी मेरे सिरहाने रख दिया और दो बीड़ा पा
देते हुए विनम्र स्वर में कहा, "मैं आपके इस महल की दासी आपकी सेव
में नियुक्त हूं। मेरी सहायता के लिए चार दासियां और दो सेवक आ
श्री की सेवा में नियुक्त हैं। मेरा नाम कामिनी है, मेरे लिए जो आज्ञा ह
वह बजा लाऊं।" मैंने हंसकर उसके हाथों से बीड़ा लिया और कहा
"कामिनीबाई, अभी मैं आराम करूंगी। मेरे आराम में खलल न करना
केसर जब भी आए उसे यहां भेज देना। अब तुम लोग भी आराम क
सकती हो। अभी तो मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।" कामिन
और एक बार कक्ष के चारों ओर देखकर चली गई। जाते समय उसने द्वा
के पर्दे को ठीक किया और मैं चुपचाप आंखें बंद किए अपने भाग्य प
विचार करने लगी। मैं नहीं जानती थी कि आगे कैसे दिन देखने पड़ेंगे
कितना सुख-दुःख सहन करना होगा। अब तो मेरी आशा की डोर केवल
केसर थी, जो सदैव धीर, शान्त, स्थिर और कर्तव्य-तत्पर रहती थी
केसर कुंवरी के सम्बन्ध में बहुत देर तक सोचती रही और फिर एकाएक
मेरी विचारधारा अपने अतीत बाल-जीवन पर गई। अपनी मां औ
दाता के प्यार की बहुत-बहुत बातें याद करती-करती अन्त में मैं फिर सो
गई।

नींद की खुमारी अभी मेरी आंखों में भरी थी। जी मेरा हल्का था,
परन्तु शरीर निढाल था। पलंग से उठने को मन नहीं होता था। मैं आंखें
बन्द किए, नर्म-नर्म बिछौने पर तकियों को छाती के नीचे दबाए चुपचाप

पड़ी थी। मैं सो नहीं रही थी, पर एक सुखद स्वप्न-सा नींद की खुमारी में जैसे मन को पराभूत किए हुए था। कमरे में ताजा फूलों की सुवास भरी थी और एक आनन्द की मस्ती से मेरा मन प्रफुल्ल था। पर मैं उठना, हिलना-डोलना नहीं चाहती थी। चुपचाप आंखें बन्द किए तकिये पर छाती का भार डाले पड़ी रहने में मुझे बड़ा आराम मिल रहा था।

जब केसर ने आकर कहा, "उठ चम्पा, दिन ढल गया," तब भी मैंने आंखें नहीं खोलीं। पर केसर ने उसकी प्रतीक्षा नहीं की। झारी से शीतल जल का गिलास भरकर तनिक मेरा सिर ऊपर उठा मुझे अपनी गोद में बिठाते हुए गिलास मेरे होंठों से लगा दिया। ओह, कैसी प्यारी थी मेरी केसर, वह मुझे कितना प्यार करती थी। उसने मुझे कितना सहारा दिया। जब याद करती हूं, मेरा रोम-रोम केसर की स्मृति से पुलकित हो जाता है। उसके बिछुड़ने से मेरी दुनिया सूनी ही हो गई, और फिर तो सूनी होती ही चली गई। केसर मेरे जीवन का तरल भाग थी।

शीतल जल से जैसे मेरे प्राण शीतल हो गए। मैंने अपने दोनों हाथ उसके कण्ठ में डालकर आंखें खोल दीं। उसने मेरे कपोल चूमे। फिर स्निग्ध कण्ठ से कहा, "उठ, जरा उबटना लगा दूं। फिर नहाते-पोशाक बदलते सांझ हो जायगी।"

मैंने कहा, "आज अभी उबटना लगाने की क्या बात है। मैं तो अभी और सोना चाहती हूं। आ, तू भी यहीं सो जा।" मैंने उसे अपनी ओर खींच लिया, परन्तु तनिक हंसकर उसने कहा, "बड़ी मौज में हो रानी जी, पर हमें रंगमहल चलना है, बाईजीराज की चाकरी में। वहां सुहागरात का जल्सा सज रहा है। उठो, अब देखो तो वहां का क्या रंग है! जल्द वहां भी रंग रचाना होगा।" उसने भेद-भरी नजर से मेरी ओर देखा। मैं सिहर उठी। हाथ मेरे शिथिल हो गए। देर तक मैं केसर के मुंह की ओर देखती रही। फिर उठकर बैठ गई।

केसर ने अपने हाथों से मेरे अंग पर सुगन्धित उबटना लगाया। दो दासियों ने झटपट गर्म पानी, साबुन, अंगोछा, नींबू और दूसरे आवश्यक सामान मेरे स्नानागार में सजा दिए। और मैं फिर उसी सुखद गुनगुने जल से भरे हौज में छपाक से आ पड़ी, जहां मजेदार भाप स्नान का आनन्द मैं सुख

इस महल में आते ही ले चुकी थी। इस महल में मेरा यह पहला ही दिन था और वह भी अभी पूरा बीता नहीं था, पर इसी बीच सुख और आनन्द की जो अनुभूति मैं प्राप्त कर चुकी थी, कदाचित् दूसरी बहुत स्त्रियाँ उतने सुख और आनन्द को जीवन-भर भी नहीं प्राप्त कर सकती होंगी।

बहुत देर तक मैं मछली की भांति जलक्रीड़ा करती रही। भूल गई मैं सारी गत-आगत बातों को। मैं खूब ठाठ से नहाई। हौज से निकलकर मैं कद्देआदम आईने के सामने खड़ी हो गई। तपाए सोने के रंग की मेरी अनावृत देह से मोतियों की लड़ की भांति झर-झरकर पानी की बूंदें संगमर्मर के फर्श पर टपक रही थीं। मेरा सम्पूर्ण जाग्रत् यौवन मुझे ही लुभा रहा था। लटकती मेरी केशराशि से टपकते जल-बिन्दु ऐसे प्रतीत हो रहे थे, जैसे नागिन मोती उगल रही हो। देर तक मैं अपना उन्मुख अंग-सौष्ठव निहारती रही। मैं ही मेरी द्रष्टा थी। दूसरा कौन देखने-सराहने वाला था। मेरे नेत्र आनन्द से खिल उठे, होंठ गर्व से फूल उठे, मैंने एक अंगड़ाई ली और एक बड़ा-सा नर्म तौलिया लापरवाही से अंग पर लपेट लिया। अलस भाव से मैं शृंगार-कक्ष में आई, जहां केसर दोनों दासियों के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। एक और नया आदमी भी वहां हाजिर था। उज्ज्वल श्यामल वर्ण, कोई उन्नीस वर्ष का उठान-भरा तरुण। भुजदण्डों पर मछलियां उभरी हुई, सुडौल नाक-नक्शा। पानीदार हरी काली आंखें, सिर पर केसरी पाग, अंग पर सादा मिरजई, विशाल वक्ष और केहरी-सी कमर। तनिक मोटे किन्तु सरस होंठ, जिनमें मोती की लड़ी के समान उज्ज्वल सम-दन्तपंक्ति। उसने किंचित् मुस्कराकर दोनों हाथ जोड़ मुझे प्रणाम किया। यद्यपि बड़े तौलिए से मेरी देह लिपटी हुई थी तथापि वस्त्र-परिधान मैंने कुछ नहीं किया था, इसलिए इस नये पुरुष को देखकर मैं लजा गई। वैसे भी न जाने कहां मन के भीतरी पर्दे में वह अज्ञात तरुण उस प्रथम क्षण में ही घर कर बैठा। प्रणाम का उत्तर तक मुझसे देते न बना। मैंने कुछ लज्जा, कुछ अर्थ-भरी दृष्टि से केसर की ओर देखा। परन्तु उस तरुण ने करबद्ध हो कहा, "मैं किसुन हूं सरकार! दरबार की मर्जी हुई है, यह सिरोपा भेजा है और मैं भी आज से आपकी खिजमत में हाजिर हूं।" अब मेरी दृष्टि चौकी पर रखे वस्त्र-आच्छादित

थालों पर गई। उसने धीरे से आगे बढ़कर उसपर से वस्त्र उठाया। बहुमूल्य पोशाकें थीं। जड़ाऊ जेवर थे। इत्र की शीशियां थीं, और भी बहुत-से श्रृंगार-द्रव्य थे। दरबार से जोड़ा इनाम तो मैं पहले भी पा चुकी थी। मेरे जीवन में वे भी अद्वितीय थे। पर उसकी इस भारी जोड़े से कोई समता नहीं थी। ये पोशाकें तो बहुत मूल्यवान थीं। उनपर मोती टंक रहे थे और जरीकिनार कारचोबी का काम हो रहा था। सभी पोशाकें जरबफ्त और कमख्वाब की थीं, जो सोने-चांदी के तारों से बुनी हुई थीं। मखमली बक्सों में जड़ाऊ जेवर थे, जो सूर्य की अस्तंगत किरणों के मध्यम प्रकाश में जगमग-जगमग चमक रहे थे। किसुन ने एक-एक करके सब बक्स खोलकर करीने से सजा दिए। मुस्कराकर मेरी ओर देखा और कहा, "मैं बाहर ड्योढ़ी पर हाजिर हूं। सरकार पोशाक धारण करें। मेरी खिदमत की जरूरत हो तो बुला लें।" इतना कहकर हाथ जोड़ प्रणाम कर वह मेरे श्रृंगारकक्ष से बाहर चला गया। मैं भौंचक-सी, ठगी-सी केसर को ताकती रह गई। अब सच ही कह दूं, वह किसुन तो अनजाने ही मेरा मन हर ले गया था। एक ऐसी पीर, ऐसी हूक दे गया था, जिसका अभी तक मुझे कुछ भी ज्ञान-भान न था। खोई-खोई-सी मैं एक कुर्सी पर धम से बैठ गई। धड़कते हुए दिल को मैंने दोनों हाथों से दबा लिया।

पहली रात

क्यों जी कहीं रूप को भी सजाया जाता है ? चांद को भी सजाया जाता है ? तारों को भी चमकाया जाता है ? आकाश को भी रंगा जाता है ? पर केसर ने तो यही किया। यह अनूप रूप, जो विधाता ने दिया, उसने प्राणों को जलाने लगा। एक-एक कर केसर ने वही पोशाकें मुझे धारण कराईं। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कसी हो। [illegible] [illegible] [illegible] पर [illegible] [illegible], किनारी और [illegible] [illegible] [illegible] किरणों के प्रकाश में ऐसे चमक रहे थे जैसे [illegible] [illegible]। फिर उसने [illegible] भारी जोड़ा मुझे पहनाया। [illegible]

राए। उस पोशाक रत्नाभरण को धारण कर जब मैं कद्दे आदम आईने
के सामने जाकर खड़ी हुई, तब अपनी चकाचौंध से मेरी आंखें बन्द हो
गईं। अपने ही रूप को मैं न पहिचान सकी। अपने ही रूप के सजाव में

मैं आ गई। केसर ने हंसकर कहा, "यह क्या वीणाधारिणी सरस्वती
माता की वाहन राजहंसिनी ने मानव-रूप धारण किया है? या साक्षात्

वसन्त ऋतु ने मोहिनी रूप बनाया है ?" केसर की बात पर बांदियां भी मुस्करा दीं। केसर स्प्रे से मेरे ऊपर तरल सुगन्धों की बौछार कर रही थी और प्रधान बांदी बड़ी बारीकी से यह देख रही थी कि शृंगार-परिधान में कहीं कोई कमी तो नहीं है। हठात् मेरे मन में एक अभिलाषा हुई। मेरा मन हुआ, यह अभी का आया हुआ तरुण किसुन भी जरा आकर इस रूप को देख ले, तो अच्छा हो। यह विचार मन में आते ही मेरे गाल लाल हो गए और मेरी हथेलियां गर्म हो उठीं। इसी समय अबाध रूप से किसुन भीतर आया, क्षण-भर उसने मेरे रूप को निहारा, आंखें नीची कीं और कहा, "सवारी के लिए सुखपाल हाजिर करूं या तामजाम। जैसी मर्जी सरकार की हो।" यह स्वर सुनते ही मेरा मन हुलस उठा। ऐसा लगा जैसे मेरा शृंगार सफल हो गया, पर मुझसे जवाब देते न बना। मैंने हड़बड़ाकर केसर की ओर देखा। केसर ने कहा, "सुखपाल ही मंगा लो।"

किसुन चला गया। और तनिक ठहरता तो क्या कुछ हर्ज था ? मैंने सोचा और तभी मुझे अचानक याद आया, वह मेरी ही खिदमत में है। जैसे मेरे दिल की कली खिल गई। मैंने केसर से कहा, "सुखपाल की क्या जरूरत थी ? जैसे सुबह गए थे, वैसे ही पैदल न चले चलेंगे ? सामने ही तो रंगमहल है।"

केसर ने जवाब नहीं दिया, केवल तनिक मुस्करा दिया। परन्तु इसी क्षण किसुन फिर आ गया। उसके हाथ में शराब की बोतल थी। मेरी ओर उसने नहीं देखा। उसने शराब की वह बोतल केसर को थमाते हुए साभि-प्राय दृष्टि से उसकी आंखों में देखा। वह तुरन्त बाहर चला गया, केसर ने गिलास में ढालते हुए कहा, "थोड़ी पी लो।"

मैं 'नहीं' न कह सकी, पर भय से कांप गई। आखिर यह सब हो क्या रहा है ? शराब मैंने पी ली। दासी ने दो बीड़ा पान मुझे दिए। पान खाकर मैंने कहा, "तो फिर अब चला जाए ?"

किसुन ने आकर सूचना दी, "सुखपाल हाजिर है।" और मैं सुख-पाल पर बैठी। केसर मेरे सुखपाल के आगे, दोनों बांदियां अगल-बगल और किसुन पीछे चला। चलते-चलते केसर ने मेरी [illegible] स्वर में कहा, "सब ठीक-ठीक करना भला।" दासी ने [illegible]

इस संकेत का क्या अर्थ समझा, उसने केवल हंसकर सिर झुका लिया।

रंगमहल की आज की शोभा की उपमा किस सुषमा से दी जाय? बिजली की सहस्रों बत्तियों से वह भव्य भवन जगमग-जगमग कर रहा था। बिजली के लट्टुओं के रंग-बिरंगे चक्र ऊंची अटारियों पर घूम रहे थे। नजर बाग और बाहरी प्रांगण में जो वृक्ष और पौधे थे, वे सब रंग-बिरंगी बिजली के बल्बों से लदे थे, जो चमकते हुए सितारों या फलों जैसे लगते थे। फव्वारे रंगीन पानी उछाल रहे थे और नकली जलाशयों से निकली हुई कृत्रिम सहस्र धाराओं के भीतर छिपी हुई बिजली अनोखी छटा दिखा रही थी। सारा रंगमहल जैसे एक जादू का आलोकित भवन दीख रहा था। ठौर-ठौर पर देशी और विलायती बाजे अपनी-अपनी धुन में बज रहे थे। सिंहपौर पर नौबत झड़ रही थी। ऐसा तो मैंने कहीं कभी देखा ही नहीं था। हमारे दाता के गांव में बिजली कहां थी? केवल हवेली में थोड़ी बैटरियां लगाकर बिजली की व्यवस्था की गई थी। परन्तु यहां तो इन्द्रभवन का समां बंधा था। ठौर-ठौर पर नाचने-गाने की भी अनेक मजलिसें जुड़ी थीं, जहां देश-देश के कलावन्त गवैए और रूप-उजागिरी वेश्याएं-ढाढ़िनें, कचनियां भांति-भांति के संगीतों का प्रवाह बहा रही थीं। कहीं ढोलक की ठमक, कहीं तबले की गमक, कहीं ख्याल-टप्पे की ललक और कहीं नाच की छमाछम बहार। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्त्री-पुरुष अपना मनोरंजन कर रहे थे। खा-पी रहे थे। पान कचर रहे थे। हंस-हंसकर गप्पें लड़ा रहे थे और महाराज तथा नई रानी की जय-जयकार कर रहे थे।

कुंवरी के खास कक्ष में महफिल जमी थी। एक छोटा-सा कारचोबी के काम का मखमली चंदोवा चांदी के खम्भों पर तना था, जिसके बीचों-बीच गिलम-गलीचों पर मसनद के सहारे कुंवरी विराजमान थीं। आज उनके शृंगार का क्या कहना था? सारा ही शृंगार हीरे-मोतियों का था। बड़े-बड़े मोतियों की अमन्द आभा उस उज्ज्वल आलोक में बड़ी मनोरम लग रही थी। उनके हीरे के कुण्डल, कण्ठहार, पन्ने की करधनी और नीलम की पहुंचियों पर जब बिजली की रोशनी पड़ती थी, तब सचमुच ऐसा लगता था जैसे क्षण-क्षण पर बिजली ही कौंध रही हो।

उनकी पोशाक भी बहुत भारी थी। सुना था अस्सी हज़ार रुपयों में व
जोड़ा दिल्ली के कारीगरों ने तैयार किया था : उनके अंग पर इस सम
लाखों रुपयों के रत्न सुशोभित थे। इन सब रत्नाभरणों से लदी-फ
कुंवरी अपना सदा का अलस शरीर मसनद पर ढुलकाए पड़ी पान कुत
रही थीं। डाढ़िनें वहां मांड़ गा रही थीं :

वेगी आओ जी,
म्हारा ढोला, वेगी आओ जी।
गिनते-गिनते रह गई—म्हारी अँगुलियां री रेख,
ढोला, वेगी आओ जी।

महाराज अभी तक महलों में नहीं पधारे थे। बाहर भी मर्दानी
महफिल जमी थी। कई दासियां उन्हें बुलाने जा चुकी थीं, महाराज
उठते ही न थे। मैंने जाकर आंचल आंखों पर लगाकर कुंवरी को जुहा
की। मुझे सिर से पैर तक क्षण-भर कुंवरी ने देखा। उनके चेहरे का हास्
क्षण-भर को जैसे उड़ गया, दासी-बांदियां भी क्षण-भर के लिए अवा
होकर मेरी ओर ताकने लगीं। क्यों न ताकती भला! यह अनूठा रूप
लिया था। पर मैं तो लाज-संकोच से सिकुड़ी जा रही थी। पर मेरे रू
की जो दुपहरी नहीं थी, उसने कुंवरी की सारी ही शान को फीका क
दिया था। कहां मेरा रूप, जैसे चटक चांदनी में खिली चमेली। और कह
कुंवरी का शृंगार, जैसे पानी से भरे बादलों में बिजली की दमक। दासि
पर दासियां महाराज को बुलाने जा रही थी। वे लौटी आकर एक ह
उत्तर देतीं, "आते हैं, आते हैं," पर महाराज आते कहां हैं? एक दासी ने
इतने ही में आकर अर्ज की, "अन्नदाता, यहां तो बाल्हो बालां रो ना
रहा है।" और वह हंस दी। डाढ़िनें झट बाल्हो बालां रो गाने लगीं :

भर ला ए, सुघड़ कलाली।
बाल्हो बालां रो।
दीजन वालो लालां रो।
भर ला ए सुघड़ कलाली।

दारू पीओ साजना, राता राखो नेण ।
वैरी थारा जल मरे सुख पावे ला चेण ।
दारूड़ो दाखाँ रो ।
दारू दिल्ली आगरो, दारू बीकानेर ।
दारू पीओ साहिबा, सौ रुपयाँ रो फेर ।
दारूड़ो दाखाँ रो ।

अब आधी रात बीत रही थी। कुंवरी ने बेचैनी से इधर-उधर देखा। मैं निकट ही खड़ी थी। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, "तू जा चम्पा, उन्हें ले आ।" न जाने कुंवरी को यह क्या सूझा ! सुनकर मेरे अंग पसीने से भर गए। मैंने घबराकर केसर की ओर देखा। केसर ने कहा, "मैं जाऊं, अन्नदाता ! वहां बाहर की महफिल में इसका जाना क्या ठीक होगा।" कुंवरी को भी जैसे जिद्द हो गई, उनकी भृकुटी में बल पड़ गए। सदा से ही उनकी यह आदत थी। मर्जी के खिलाफ तो वह कुछ बर्दाश्त भी नहीं कर सकती थीं। उन्होंने कहा, "नहीं, चम्पा ही जाय।" मुझे जाना पड़ा। पर मेरे पैर नहीं उठ रहे थे। फिर इस रूप को, शृंगार को लेक भला मैं कहां जाऊं। कभी मैं बाहर मर्दाने में गई नहीं। पर राजाज्ञा सो ठीक। शृंगार और रूप से क्या, अन्ततः गोली हूं, चाकर हूं, गुल हूं। शृंगार और रूप है तो क्या, मैं महारानी बन जाऊंगी ? धीरे-धी चली। मेरे पीछे केसर भी। केसर ने कान में कहा, "मैं तेरे साथ तू जाकर अरदास कर—अन्नदाता, महलां पधारो।"

वहां महफिल जुड़ी थी। वेश्याएं आलाप ले रही थीं। एक को उजागरी छप्पन-छुरी पंचम में तान आलाप कर गा रही थी :

मद छकिया महाराज, थाने किण पिलाई दारूड़ो।
बोले नी दारू रा मारू, पूछे थारी मारूड़ो ॥
दारूड़ो दाखाँ रो।

शराब के दौर चल रहे थे। अन्नदाता जाम पर जाम चढ़ वह बहुत पी चुके थे। और भी पीते जाते थे। हाथ में उनके जिसमें खरहे के खून की भांति एकदम तेज लाल रंग की शराब आंखें उनकी शराब से लाल हो रही थीं। चेहरे पर मूंछें चढ़ी

हल्के गुलाबी रंग की पोशाक पहने थे। गले में उनके बड़े-बड़े पन्नों का एक कण्ठा पड़ा था। मैंने सहमते-सहमते निकट जाकर जुहार की और कहा, "महलां पधारो महाराज हो।"

महाराज ने मेरी ओर देखा और जाम से भरा हुआ हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया। क्षण-भर मेरी नजर केसर की ओर घूमी। वह एक खम्भे से चिपकी खड़ी थी। मैंने महाराज की बांह थाम ली। मेरा सहारा ले वह उठ खड़े हुए। पर उनके पैर लड़खड़ाने लगे। उन्होंने अपने सारे ही

शरीर का बोझ मेरे कन्धे पर डाल दिया। उनका भारी बोझ सम्हालना मेरे लिए दूभर हो रहा था। उन्होंने अस्पष्ट शब्दों में कुछ कहा। मैं समझी ही नहीं।

शराब का जाम अब भी उनके हाथ में था। परन्तु वह रंगमहल की ओर न बढ़कर मेरे महल की ओर चलने लगे, झुके हुए। ऐसा लग रहा था कि वह अभी लड़खड़ाकर

सम्भालते हुए मैंने कहा, "उधर अन्नदाता, रंगमहल"

"रहने दे, तू चली चल।" और वह जैसे मुझे ही धकेल ले चले। उनके बोझ से मैं गिरी जा रही थी। इसी समय आगे बढ़कर केसर ने उनका दूसरा हाथ थाम अपने कन्धे पर रख लिया। अब एक ओर से केसर और दूसरी ओर से मैं उनका भार अपनेपर लादे हुए महल की ओर चल रहे थे। रंगमहल की रंगीनी और गायन का शोरगुल पीछे रह गया। हम अपने महल की पौर पर जा पहुंचे। किसुन ड्योढ़ियों पर हाजिर था। केसर ने उसे संकेत किया। उसने अन्नदाता को देख, झपटकर जाजम पर चांदनी बिछा दी। मसनद लगा दी। अन्नदाता मसनद पर विराजमान हो गए। हाथ पकड़कर उन्होंने मुझे पास बैठा लिया। केसर दारू ले आई और मैंने दारू ढालकर कांपते हाथों उन्हें दी। केसर के संकेत से एक बांदी दौड़ी गई, ढाढ़िनों को बुला लाई। इस बीच किसुन ने चंदोवा तान दिया। ढाढ़िनें आकर केसर के संकेत से 'दारूड़ो दाखां रो' गाने लगीं। महाराज ने जाम पीकर गले की मोतियों की माला केसर पर फेंक दी और पैर फैला दिए। केसर ने मेरी ओर साभिप्राय दृष्टि से देखा। महाराज अब वास्तव में अर्द्ध चेतनावस्था में थे। मैंने केसर का अभिप्राय समझ लिया। मैं उठ खड़ी हुई। पर मेरा कलेजा कांप रहा था। भगवान, यह हो क्या रहा है। किसुन और केसर ने उन्हें दोनों ओर से पकड़कर उठाया। केसर ने साहस कर उनके कान के पास मुंह ले जाकर कहा, "अन्नदाता रंगमहल में पधारें।" उन्होंने हिचकियां लेते हुए कहा, "भाड़ में जाय रंगमहल।" उन्होंने और भी कुछ कहा, पर अब उनकी वाणी इतनी अस्पष्ट हो गई थी कि कुछ समझ में नहीं आ रही थी। किसुन उन्हें शयनागार में लाकर पलंग पर लिटाना चाहता था कि वह कटे वृक्ष की भांति फर्श पर ही गिर गए और कै करने तथा बड़बड़ाने लगे। वास्तव में अब उन्हें तनिक भी होश न था। भयभीत होकर मैंने केसर की ओर देखा। बाहर ढाढ़िनें 'दाखां रो' गा रही थीं। उधर मेरा ध्यान कुंवरी पर लगा था। भला कुंवरी क्या कहेंगी! यह कैसी अनहोनी बात हो गई। मेरा मन घृणा और विरक्ति से भर गया।

इसी समय एक दासी हांफती हुई आई। उसने फुसफुसाकर कहा, "गजब हो गया सरकार! नई महारानी को पता लग गया कि अन्नदाता

यहां है। उन्होंने गाना-बजाना और रोशनी एकदम बन्द करने का हुक्म दिया है। रंगमहल में अब सन्नाटा छा रहा है।" सुनकर मैं सन्न रह गई।

भूल गई मैं अपना रूप-शृंगार, सौभाग्य। वह महल, छपरखट, सुख-साज, हीरे-मोती जैसे मुझे नागिन की भांति डसने लगे। मैं पलंग पर गिरकर सिसक-सिसककर रोने लगी। केसर भी किंकर्तव्यविमूढ़-सी मेरा सिर गोद में लिए देर तक बैठी शराब के नशे में धुत बदहवास फर्श पर पड़े राजा को देखती रही। मुझे ढाढ़स तक बंधाने की उसकी हिम्मत न रही। बहुत-से विचार मेरे मस्तिष्क में आ रहे थे। सबसे ऊपर रह-रहकर कुंवरी का ख्याल मुझे कचोट रहा था। मैं सोच रही थी—हे भगवान्, अब क्या होगा? मेरे जले भाग्य में न जाने क्या लिखा है। देर तक मैं सिसक-सिसककर रोती रही और रोते-रोते न जाने कब सो गई।

ग्लानि, अपार ग्लानि

सुबह जब मेरी आंख खुली तब दिन बहुत चढ़ गया था। बाहर धूप फैल गई थी। वह खिड़कियों के पर्दों से छन-छनकर मेरे शयन-कक्ष में आ रही थी। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी। देखा, अन्नदाता अभी तक औंधे मुंह फर्श पर पड़े हैं। कैसे उनकी सारी पोशाक गन्दी हो गई है। कक्ष में न जाने कैसी दुर्गंध भरी थी। वह फू-फू करके सांड़ की तरह सांस ले रहे थे। सांस के साथ उनके दोनों नथुने फूल रहे थे। मूंछों में गन्दगी लगकर चुप गई थी और उनका चेहरा सूअर के मुंह के समान कुत्सित और घृणित लग रहा था। घृणा और विरक्ति के साथ ही क्रोध भी मेरे मन में व्याप गया। मेरी दृष्टि अपने अंग पर गई। वही रात का जड़ाऊ जोड़ा पहने मैं सो गई थी। वह अब भी मेरे अंग पर था। वे सारे अलंकार भी, जो रात में जगमग कर रहे थे। इस समय यह पोशाक और ये अलंकार मुझे ऐसे लग रहे थे, जैसे विषैले भुजंग मेरे शरीर में लिपटे हुए हैं। मैंने नोच-नोचकर वे सब अलंकार फेंकने आरम्भ कर दिए। पोशाक

भी उतारकर फेंक दी। मेरा मन हो रहा था कि पेट में कटार भोंक लूं, या छत से कूद पड़ूं। इसी समय अन्नदाता की आंखें खुलीं। एक वार उलट-पलट होकर वह उठ बैठे। अदब-कायदा मैं सब भूल गई। चुपचाप पलंग पर पड़ी उन्हें देखती रही। उन्होंने खड़े होने की चेष्टा की। एक वार तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वह अभी गिर पड़ेंगे। परन्तु उन्होंने उन्मत्त की भांति दोनों हाथ पसार दिए। मसहरी का डण्डा उनके हाथ में आ गया। उसीका सहारा लेकर वह उठ खड़े हुए। एक वार वह मसहरी पर झुके भी, पर फिर सम्भल गए। अपनी हथेली मुंह पर रखकर उन्होंने दो-तीन जम्हाइयां लीं। फिर उन्होंने दोनों हाथों से सिर दवा लिया। ऐसा प्रतीत होता था कि एक-एक करके उन्हें रात की सारी वातें याद आ रही थीं। शायद सिर का असह्य दर्द उन्हें वेचैन कर रहा था। परन्तु जव उन्हें ज्ञात हुआ कि रात फर्श पर कटी है, तव वह निर्लज्ज की तरह हो-हो करके हंसने लगे। उन्होंने आप ही आगे वढ़कर झारी से पानी गिलास में उड़ेला और उसे वह गटागट पी गए। जो वचा उसे सिर पर उड़ेल लिया। उन्होंने एक प्रकार से वड़वड़ाते हुए कहा, "ओफ, सिर दर्द से फटा जा रहा है। रात कुछ ज्यादा पी ली।" इतने में उनकी नजर सामने लगे कद्दे आदम आईने की ओर गई। अपनी मूंछों को, मुंह को और पोशाक को कै की गन्दगी से लथपथ देख उन्होंने नाक सिकोड़कर ऊपर की पोशाक उतार फेंकी और फटे वांस जैसी भर्राई आवाज में किसुन को पुकारा।

किसुन और केसर ने शयन-कक्ष में आकर महाराजा की पोशाक वदली, हाथ-मुंह धुलाया। मैं पत्थर की मूर्ति की भांति पलंग पर सिकुड़ी पड़ी यह सव देखती रही। जव वह किसुन के कन्धे का सहारा लेकर चलने लगे, तव मेरी ओर देखकर धीरे से कुछ घवराई-सी, कुछ झेंपी-सी आवाज में वोले, "कुंवरी से कहना नहीं चम्पा!"

और वह चले गए। कक्ष में रह गई मैं और केसर। हम दोनों एक-दूसरे को ताक रही थीं। हमारी उस नजर में वहुत-से प्रश्न थे, वहुत-से उत्तर थे। वहुत-से चित्र थे; वहुत-सी झांकियां थीं—अपने भूत और भविष्य की। हम दोनों जन्म-अभागिन नारियां, जो एक दूसरी को असीम

प्यार करती थीं, एक-दूसरे पर असीम विश्वास करती थीं, यहां सर्वथा असहायावस्था में, पराश्रित उपस्थित थीं। मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे मैं अथाह समुद्र में डूबी जा रही हूं। मेरा कोई रक्षक नहीं है, कोई सहायक नहीं है, जैसे जीवन का चिराग बुझ गया हो और चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा नजर आ रहा हो। एक ही दिन में मेरा सारा सुहाग समाप्त हो गया। कल मैं कैसे ठाट-बाट से आई थी, और आज ? एक-एक करके मेरी आंखों में रात के सारे दृश्य घूम गए। वे रंगीन जलसे, नाच-रंग, हीरे-मोती, जशन-जगमग और फिर कै और गन्दगी से भरी राजा की देह, जिसे हम अन्नदाता कहते हैं, जिसे लोग महाराजाधिराज कहते हैं, जिसका दर्शन ईश्वर के दर्शन के समान पवित्र माना जाता है, जिसकी कृपादृष्टि से जीवन सफल हो जाता है। वही राजा हमारे भाग्य और सर्वस्व का धनी, गन्दे कुत्ते की भांति शराब के नशे में वेहोश यहां फर्श पर पड़ा रहा है। छी, छी, कैसी लज्जा की बात है। उस दिन गढ़ी में जब प्रथम दर्शन हुए थे, कैसे मैंने इसे देवता की भांति माना था ! ओह, उस दिन यह व्यक्ति कितना महान् और मैं कितनी तुच्छ दासी थी। आज तो जैसे वह एक अधम कीड़े से भी निकृष्ट लग रहा था। राजा के प्रति सारा सम्मान, सारी प्रतिष्ठा का भाव मेरे मन से तिरोहित हो गया। एक ऐसी घृणा और वितृष्णा से मेरा मन भर गया कि जिसका अन्त न था। पर हर बार मुझे अपनी असहायावस्था का ध्यान आता था। मैं बारम्बार अपनी स्थिति पर विचार कर रही थी। न जाने मेरा अब क्या होगा ? मुझे कुछ सूझ ही न रहा था। वह सुनहरा छपरखट जैसे मुझे काट रहा था। महल के रंगीन झरोखे ऐसे लग रहे थे जैसे मेरी ही कब्र हों। जीवन का मुझे बड़ा मोह था। बड़े-बड़े हौसले, बड़ी-बड़ी हौंस, बड़े-बड़े चाव मैंने अपने मन-मन्दिर में सजाए थे। मैं आखिर कच्ची उम्र की एक बालिका ही तो थी। अभी मैंने दुनिया का देखा क्या था ? और यौवन की देहरी पर पैर पड़ते ही विधि-विडम्बना से जैसी घटनाएं आ घटीं, उन सबने मेरे विचारों को कहां का कहां पहुंचा दिया था। परन्तु आज तो मेरी चिन्ता का ओर-छोर न था। मैं नहीं जानती थी कि अब क्या होने वाला है—अच्छा या बुरा। मैं अब इसी भय से अधमरी हो रही थी कि कुंवरी को मुंह कैसे

दिखाऊंगी। मैंने केसर की गोद से मुंह उठाकर कहा, "अब क्या होगा केसर?"

केसर ने धैर्य बंधाते हुए कहा, "जो होना होगा हो जायगा। अब इस तरह सोच-फिकर करके जान देने में क्या होगा भला? तू हाथ-मुंह धोकर कपड़े बदल, मैं तब तक रंगमहल की ओर जाती हूं।"

मैंने भयभीत मुद्रा में कहा, "मैं भी चलूं?"

"अभी नहीं," कहकर केसर चली गई और मैं फिर उसी पलंग पर गिर गई, जिसे अब मैं सुख-सेज नहीं कह सकती थी। मुझे न भूख थी, न प्यास, न मेरी आंखों में नींद थी। रह-रहकर मेरा कलेजा मुंह को आ रहा था। मैं आज मां की याद कर रही थी। चाहती थी, पर लगाकर उड़ जाऊं, अपनी मां के कलेजे से जा लगूं। परन्तु मेरी दशा पर-कटे पक्षी के समान थी। पिंजरबद्ध थी मैं। मैं असहाय जन्म-जात गोली-गुलाम, जिसके भाग्य में ही शून्य अंकित होता है, जैसे आज सब कुछ खो चुकी थी। दासियों ने मेरे लिए आवश्यक व्यवस्थाएं कर रखी थीं। वे इस प्रतीक्षा में हाथ बांधे खड़ी थीं कि आज्ञा हो तो वे मेरे कपड़े बदलवाने तथा नित्य-कर्म में सहायता दें। परन्तु मैंने कह दिया, "अभी मैं सोऊंगी। मुझे जगाना मत। मेरे पास कोई आना भी मत। द्वार बन्द कर दो और बाहर बैठो।"

दासियां चली गईं और मैं सोने की व्यर्थ चेष्टा करने लगी। अब भी मेरा सिर दर्द से फटा जा रहा था। मतली भी आ रही थी। दासियों से यद्यपि मैंने आने को मना कर दिया था, तथापि किसुन नाश्ते की ट्रे हाथ में लिए निःशंक मेरे शयनागार में घुस आया। ट्रे एक ओर रखकर उसने कोमल स्वर में कहा, "उठिए सरकार, थोड़ा कलेवा कर लीजिए। रात-भर परेशानी रही है।"

न जाने क्यों, मुझे उस तरुण दरोगा का इस तरह बिना आज्ञा शयन-गृह में घुस आना बुरा न लगा। उसकी वाणी भी मुझे बड़ी मीठी लगी। मैंने आंखें उठाकर उसकी ओर देखा। आंख से आंख मिलते ही मेरी आंखें नीची हो गई। मैंने कहा, "मैं अभी कुछ नहीं खाऊंगी किसुन, मेरा जी अच्छा नहीं है।"

"कैसे अच्छा रह सकता है। बाप-खानी परेशानी कुछ कम रही? रात-भर की धमा-चौकड़ी! उठिए, थोड़ा कलेवा करके सो जाइए, तबियत ठीक हो जाएगी।"

"नहीं, मैं कुछ न खाऊंगी।"

"वाह यह भी कोई बात है।" उसके आग्रह में एक विचित्र आवेश था। मैंने उसके मुंह की ओर देखा, उसकी गहरी पानीदार आंखों से जैसे एक चमक निकल रही थी। उसने हंसते हुए कहा, "बस, जरा-सा खा लीजिए, सब चीजें गर्म हैं।"

"लेकिन…"

"नहीं, सरकार नहीं," उसने एक अजब अन्दाज से आग्रह किया और नाश्ता चौकी पर मेरे निकट रख दिया। मैंने कहा, "अभी तो मैंने हाथ-मुंह भी नहीं धोया है।"

"तो मैं गर्म पानी का सागर-गमछा ले आता हूं। आप हाथ-मुंह धो लीजिए।"

"अभी मैं सोऊंगी जरा, किसुन!"

"कलेवा करके सोइए सरकार!" इस बार उसने करबद्ध प्रार्थना की। मैं सारी ही दुश्चिन्ताओं को भूल गई। मुझे हंसी आ गई। मैंने हंसकर कहा, "इतनी जिद क्यों किसुन?"

"सरकार, यह राजा का घर है, हम गुलाम-चाकर हैं, राजा की मर्जी कब कैसी हो जाय, कौन जानता है। सो, जैसा अवसर आए, हमें सबके लिए हाजिर रहना चाहिए। हमारे बाप-दादे भी सदा से यही करते चले आ रहे हैं, हमें भी यही करना चाहिए।" इतना कहकर उसने फुर्ती से एक तकिया मेरे सिरहाने लगा दिया और गंगा-सागर में गर्म पानी, गमछा और चिलमची ले आया।

हाथ-मुंह धोकर मैंने कलेवा किया। किसुन ने पान के दो बीड़े मुझे देकर जैसे सन्तोष की सांस ली। "अब सरकार आराम करें।" वह गन्दे पानी से भरी चिलमची लेकर जाने लगा तो मैंने धड़कते कलेजे से कहा, "उधर क्या हो रहा है किसुन, रंगमहल में?"

"नई रानी बहुत नाराज हो गई हैं। उन्होंने ड्योढ़ियों पर प

दिया है। दरवार से भी उन्होंने मुलाकात नहीं की।"

"अब क्या होगा, किसुन ?"

"सब ठीक हो जाएगा, सरकार ! यह तो राज-परिवार में होता ही रहता है।" उसने मुस्कराकर एक भेद-भरी दृष्टि मुझपर डाली। उस दृष्टि ही में जैसे वह मुझे तसल्ली दे रहा था। उसकी वातों से मुझे ढाढ़स हुआ। जी चाहता था, उससे और वातें करूं। वह वहुत अच्छा लग रहा था। किसी मर्द से इस प्रकार वातें करने का मेरा यह पहला ही अवसर था। उसकी विनय, चातुर्य, तत्परता और स्नेहसिक्त आंखों ने जैसे मुझपर जादू कर दिया था। एक अभूतपूर्व सुख की लहर मेरे मन में उस उद्विग्नावस्था में भी व्याप गई। पर मेरे मुंह से और वोल न फूटा। वह धीरे से द्वार का पर्दा ठीक करता हुआ चला गया।

वहुत देर तक मैं भांति-भांति के विचारों में डूवती-उतराती रही, फिर मैं सो गई।

महारानी की ड्योढ़ी पर पहरा

आंख खुली तो देखा, केसर मेरे सिरहाने वैठी अपनी उंगलियों से मेरी लटों के साथ खेल रही है। मैंने छूटते ही उससे पूछा, "उधर का क्या हाल है ?"

केसर के चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं। उसका मुंह सूख रहा था। उसने सूखे कण्ठ से कहा, "कुंवरी ने द्वार पर पहरा वैठा दिया है, दरवार को रंगमहल में आने की इजाजत नहीं है।"

"दरवार को ?" मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा, "क्यों ऐसा भी सम्भव है ? अन्नदाता तो यहां के स्वामी और कर्ता-धर्ता हैं !"

"कुंवरी भी यहां की स्वामिनी हैं, हमारी तरह गोली-गुलाम नहीं हैं। महाराज ने रात अनीति की। सुहागरात की सेज का अपमान कर वह नशे की झोंक में यहां आ गए, भला ऐसा भी कहीं होता है ?"

"तो तू ने रात ही उन्हें क्यों नहीं समझाया ?"

"क्या उनकी हालत समझने-समझाने जैसी थी ? तूने देखा नहीं था ? फिर बात यहां तक बढ़ जायगी, यह मैंने सोचा भी न था ।"

"क्या बात बहुत बढ़ गई है ?"

"कुंवरी ने गढ़ी में सांड़नी भेजी है ।"

"तो अब क्या होगा ?"

"शायद दाता आएं यहां ।"

"क्या करेंगे दाता ?"

"गुस्सा होकर दरबार से लड़ भी सकते हैं, खून-खराबा भी हो सकता है ।"

"क्या ? खून-खराबा !"

"यह इज्जत का सवाल है ।"

"लेकिन उनकी दरबार से भला क्या बराबरी !"

"क्यों, क्या वह दरबार के ससुर नहीं हैं ? सम्बन्धी नहीं हैं ? दरबार हैं तो क्या प्रजा पर अनीति करेंगे ? फिर अपनी ही रानी पर ? कुंवरी कोई गोली-गुलाम नहीं है । राजपूत है, ठिकानेदार की बेटी है, ठिकानेदार तो दरबार के नाईबन्द

हैं। भाईबन्दी में छोटा-बड़ा कैसा ? भले ही ठिकाना एक ही गांव का हो भाईबन्दी में वह दरबार के बराबर ही हैं। फिर दाता तो बड़े आनबान के आदमी हैं। धुन में आ गए तो अमल-आरोग पर आ सकते हैं। सब ठाकुर उनका साथ देंगे।"

हे भगवान, अमल-आरोगने का अभिप्राय है मरने-मारने की ठान लेना। बहुत देर तक मैं एकटक केसर की ओर देखती रही। फिर मैंने कहा, "तूने कुंवरी से मुलाकात की ?"

"कैसे कर सकती थी ! रंगमहल में तो पंछी भी पर नहीं मार सकता। पहरे पड़े हैं।"

"तूने इत्तला कराई ?"

"हुक्म नहीं है।"

कुछ सोचकर मैंने कहा, "मैं जाऊं तो ?"

"नहीं जा पाएगी। दरबार ही को नहीं जाने दिया तो तू कैसे जाएगी।"

"पहरे पर कौन है ?"

"भूरसिंह हाड़ौत।"

"अकेले ?"

"अकेले ही है। वह नंगी तलवार लिए ड्यौढ़ी पर मुस्तैद हैं।"

भूरसिंह हाड़ौत गढ़ी का आदमी था। दाता उसे मानते थे। वह दाता का सम्बन्धी ही था। बूढ़ा आदमी था। बड़ी लम्बी सफेद उसकी दाढ़ी थी। वह आम आदमियों से ऊंचा था, बड़ा डील वाला। साठ बरस की उम्र पार कर भी वह अभी जवान बना था। वह बड़ा हंसमुख था। बचपन में वह कुंवरी को और मुझे गोद खिला चुका था। वह बड़ा विश्वासी और दृढ़ निश्चय का राजपूत था।

मैंने कहा, "भूरसिंह दद्दा अकेले ही पहरे पर हैं। अकेले ही उन्होंने दरबार को रंगमहल में नहीं जाने दिया ?"

"ऐसा ही तो हुआ।"

"तूने देखा ?"

"मैं वहीं तो थी।"

"अन्नदाता ने गुस्सा नहीं किया ? जिद नहीं की ? चुपचाप दद्दा की बात मान ली ?"

"चुपचाप क्यों ? बहुत हुज्जत हुई। दरबार जब ड्योढ़ियों में घुसने लगे, तब हाड़ीत ने तलवार ऊंची करके कहा, 'घणी खम्मा अन्नदाता, हुक्म नहीं है।' "

"किसका हुक्म ?" अन्नदाता ने कहा।

"रानी जी का, अन्नदाता !"

"तो मैं हुक्म देखता हूं, ड्योढ़ी छोड़ दे, मैं रंगमहल में जाऊंगा।"

"नहीं अन्नदाता, आप रंगमहल में नहीं पधार सकते।"

"मैं हुक्म देता हूं।"

"मैं मानने से इन्कार करता हूं।"

"ठाकरां, तुम किससे बात करते हो ?"

"आप ही से दरबार !

"तो मेरा हुक्म है···।"

"आपका हुक्म आपके नौकरों पर है, अन्नदाता ! मैं आपका नौकर नहीं हूं। आपका नमक नहीं खाता हूं। मैं भूरसिंह हाड़ीत हूं। इस समय रानी जी की आज्ञा से यहां पहरे पर हूं।"

"रानी की क्या आज्ञा है।"

"कि रंगमहल में कोई न आने पाए।"

"यह आज्ञा मेरे लिए नहीं है।"

"सभी के लिए है, दरबार।"

"परन्तु मैं जाऊंगा।"

"रानी जी के हुक्म को तोड़कर नहीं जा सकेंगे, अन्नदाता !"

"मेरे ऊपर रानी का हुक्म नहीं चलेगा, ठाकरां !"

"तो अन्नदाता, तलवार निकालिए।"

"अरे ठाकरड़े, तू मुझसे तलवार निकालने को कहता है ?"

"हां आप ही से कहता हूं। और यह भी कहता हूं, ड्योढ़ियों में आपने कदम रखा तो आपका सिर अभी भुट्टे की तरह उड़ा दूंगा।"

"अरे ठाकरड़े···"

"अरे राजा, धिक्कार है तुझे। जब रंगमहल में जाने की वेला थी, तब तू दासी की चाकरी में जा पहुंचा। तुझे रानी और बांदी की पहचान नहीं है। राजपूत की तलवार को भी तू नहीं पहचानता। तूने रानी की मर्यादा भंग की है। राजपूत की बेटी के सुहाग पर तूने बट्टा लगाया है। थोड़ा ठहर राजा, हमारे दाता पधार रहे हैं। वह अपने अपमान का तुझसे बदला लेंगे और अगर इस राजपूत की तलवार का पानी पीना है तो तलवार निकाल।"

यह कहकर वह बूढ़ा ठाकुर नंगी तलवार हवा में घुमाने लगा। दरबार कुछ सोच-समझकर लौट आए। अब वह बफरे नाहर की भांति अंट-शंट बक रहे हैं। सब दास, खवास, मुत्सद्दी, दीवान खामोश हैं। सब कानाफूसी कर रहे हैं। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। जी-हजूरिये, खुशामदी, सब अपनी-अपनी बक रहे हैं।

मैंने सहमते हुए कहा, "क्या दाता आएंगे ?"

"कुंवरी की चिट्ठी पाकर वह रुकेंगे ? मैं सोचती हूं, कहीं खूनखराबा न हो जाए। दाता का मिजाज टेढ़ा है। जब इज्जत की बात आती है, तब वह आगा-पीछा नहीं देखते।"

हठात् मुझे कुंवरी का खयाल आ गया। न जाने वह कैसी है ? उन्होंने कुछ खाया-पीया भी है या नहीं ? कौन उनको इस समय देख-भाल कर रहा होगा भला ? मैंने कहा, "केसर, मैं जाऊंगी। मुझे जाना चाहिए।"

"कैसे जा पाओगी।"

"मैं जाती हूं।" कहकर मैं उठी। जैसी थी वैसी ही। एक चादर मैंने पलंग से उठाकर अंग पर लपेट ली और मैं चल दी। केसर ने बाधा न दी। वह भी चुपचाप मेरे पीछे-पीछे रंगमहल की ओर चल दी।

कुंवरी से अंतिम भेंट

ड्योढ़ियों में मैं धंसी चली गई। मुझे देखते ही भूरसिंह दद्दा खड़े हो गए। वह एकटक मेरी ओर ताकते रहे। मैंने देखा, उनकी भौहों में बल पड़े थे और उनकी दाढ़ी हवा में लहरा रही थी। हाथ में उनके नंगी तलवार थी। केसर तनिक ठिठकी, परन्तु मैं दौड़कर दद्दा की छाती से जा लगी और फफक-फककर रोने लगी। बहुत देर तक मैं उनकी छाती में मुंह छिपाए रोती रही। कुछ ही देरे में देखा, गर्म आंसू मेरे सिर पर बरस रहे हैं। दद्दा रो रहे थे। मैंने आंख उठाकर देखा, उनकी दाढ़ी आंसुओं से तर थी। मैंने भरी हुई आंखों से उनकी लाल-लाल बरसाती आंखों को देखा और हिचकियां लेते हुए कहा :

"दद्दा, उन्होंने कुछ खाया-पिया भी है या नहीं?"

"कैसे कहूं, बेटी!"

"तो वहां कौन उनकी देखभाल करता होगा?"

"रानी बिटिया तो अकेली ही है, केवल एक बांदी-भर भीतर है।

"मैं जाऊंगी दद्दा!"

"कैसे जाएगी बेटी, हुक्म नहीं है।"

"मेरे लिए हुक्म है।"

"बेटी, मैं धर्म के बन्धन से बंधा हूं, दाता का नमक मेरे लहू में है। रानी बेटी के साथ तो अन्याय हुआ ही है, उसकी भी एक मर्यादा है और मेरा भी एक धर्म है। मैं रानी बेटी की मर्यादा का यहां अकेला ही र[illegible] हूं। वह मेरी धर्म की बेटी है।"

"मैं भी आपकी बेटी हूं, दद्दा!"

"हां बेटी, तुझमें और रानी बेटी में दाता भेद नहीं [illegible] जानता हूं।"

"आपने भी तो कभी नहीं समझा ।"

"कैसे समझ सकता था, बेटी ! रानी बेटी मेरी धर्म की बेटी रही,
तो प्यार की बेटी है ।"

दद्दा ने मेरे सिर पर हाथ फेरा और अपने आंसू पोंछे।

मैंने कहा, "दद्दा, मेरा तनिक भी अपराध नहीं है।"

"सो मैं जानता हूं ।"

"फिर भी कुंवरी मेरी जीती खाल खींचने का हुक्म देंगी तो मु
ज्र नहीं होगा। चाहे जो भी हो, मुझे उनकी खिजमत में जाना चाहिए
ुझे भीतर जाने दो, दद्दा !"

"बेटी, हुक्म नहीं है ।"

"मेरे लिए हुक्म की बात नहीं है, दद्दा ! मैं उनसे समझ लूंगी। सो
ो, इस विपत्ति में उनका सगा कौन है ? उनका कलेजा टूक-टूक हो ग
। उनके स्वभाव को मैं जानती हूं। अन्न का दाना तो दूर, एक बूंद
ी उनके मुंह में न गया होगा। मैं भला कैसे दूर रह सकती हूं ? मुझे ज
ो दद्दा, या मेरा सिर इस तलवार से काटकर कुंवरी के पास ले जा
ुम ।"

"जा भाया, जा।"

मैंने मुंह फेरकर केसर की ओर देखा । दद्दा ने कहा, "ना, तू अके
ही जा।"

मैं भीतर चली। भय, उद्वेग और आशंका से मेरा मन भर रहा थ
ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे मैं मर रही हूं। रंगमहल के उस भाग
सन्नाटा था। सब खिड़कियां, गवाक्ष, झरोखे बन्द थे। कोई बांदी, गुल
चाकर, कारभारी, नौकर वहां न था। मैं अपने ही पद-शब्दों से चौक
होती, बहुत आहिस्ता-आहिस्ता पग बढ़ाती कुंवरी के शयन-कक्ष के ब
में जा पहुंची। यहां भी सन्नाटा था। कान लगाकर मैंने सुना, भी
कोई न था । इधर-उधर मैंने देखा। सूना दीवानखाना पारकर
भीतरी दालान में पहुंची। सामने झरोखे में कुंवरी चुपचाप एक सीत
पाटी पर बैठी थीं—निराभरण। उषा के प्रथम आलोक की भांति, ज
एक भी तारा नहीं होता। केवल एक सफेद-सादा साड़ी उनके अंग

थीं। आंखें उनकी फूली हुई थीं, पर उनमें आंसू न थे। मुझे देख एक मन्द स्मित की रेखा उनके होंठों पर फैल गई। उन्होंने कहा, "आ बहन !"

अकल्पित आह्वान, अतर्कित स्वर और असम्भाव्य सब कुछ। मेरे पैर लड़खड़ा गए, सिर घूमने लगा। जैसे समूचा आकाश भूमि पर आ रहा हो, मैं वहीं गिर गई। कुंवरी ने दौड़कर मुझे गोद में उठाया। मृदु स्वर में कहा, "चोट तो नहीं लगी ?"

मैंने आंखें फाड़कर उनकी ओर देखा, फिर दोनों हाथों से पकड़कर कहा, "अन्नदाता, मैंने भूरसिंह दद्दा से कहा था कि मेरा सिर काटकर आपकी सेवा में पेश कर दें।"

"पगली, ऐसा भी कहीं होता है।" वही मन्द स्मित-रेखा उनके होंठों में थी।

मेरी वाणी जड़ हो रही थी। उन्होंने मुझे सहारा देकर उठाया और गवाक्ष के पास बैठाकर कहा, "क्या दासी को बुलाऊं ?"

"ना अन्नदाता,पर मेरी एक अरदास है, या तो मुझे यहीं अपने चरणों में रहने की इजाजत बख्शी जाए या मेरा सिर काटने का हुक्म हो जाय। नहीं तो मैं जहर खाकर जान दे दूंगी।"

कुंवरी के होंठों से हास्य लुप्त हो गया। उन्होंने कहा, "चम्पा, तू जानती है, मैं एक नादान लड़की हूं, तुझसे भी अधिक नादान। और अब यह तो तू देख ही रही है कि दुर्भागी और असहाय भी हूं। मेरे ऊपर कठिन समय आया है, सो मुझे अपना धर्म निबाहना है, मैं राजपूत की बेटी हूं, एक स्त्री हूं,और मुझे अपने पिता की इज्जत का भी ख्याल है। इन सबको विचारकर मैं अपनी राह चल खड़ी हुई हूं। तू मेरी प्यारी बहन, सदा की मेरी सहायक और संगिनी है, अंतरंग सखी है और अब तो धर्म से पर्यंकभागिनी है, सो तू ऐसा कर जिससे मेरे धर्म का निर्वाह हो जाए, तेरे कारण कोई विघ्न-बाधा न पड़े।"

"मैं वही करूंगी, अन्नदाता !"

"तो तू अपने महल में जा। अब यहां आने या मुझसे मिलने की चेष्टा न करना। यहां चाहे भी जैसी अच्छी-बुरी घटना हो, उसमें तू अपनेको मत जोड़ लेना, बस इतनी ही मेरी तुझे सीख है।"

"अन्नदाता, आपका सब हुक्म मानूंगी, पर इन चरणों से दूर नहीं रह सकती। मुझे सेवा में ही रहने दीजिए। भला-बुरा जो हो, एक साथ ही होगा।"

"नहीं बहन, ऐसा नहीं हो सकता। मुझे अपनी मर्यादा की रक्षा अकेले ही करनी होगी और तुझे अपना धर्म पालना है।"

"मैं जान पर खेल जाऊंगी, अन्नदाता।"

"बहन, हम भाग्यहीन स्त्रियों के जीवन ही ऐसे हैं। ऐसे अवसर आते रहते हैं, कुछ में जान पर खेलना पड़ता है। पर अकारण आत्महत्या तो कायरता ही है। गुस्सा न कर, सब बातों पर विचार कर। आगा-पीछा देख।"

"परन्तु मैं आपके चरणों से दूर रह कैसे सकती हूं!"

"मेरे मन में तो तू है ही। पर मेरे पास तेरा रहना न हो सकेगा। हन! इससे मेरे मार्ग में भी बाधा पड़ेगी और तेरा भी भला न होगा।"

"पर मैं आपको अकेली इस हालत में कैसे छोड़ सकती हूं ?"

"तू मुझे कितना करती है, प्यार यह मैं जानती हूं बहन ! तेरा प्यार ही मेरे व्रत का सबसे बड़ा अवलम्बन है, सो तू जहां जिस दशा में रहे, मुझे इसी भांति प्यार करती रहना। बस, इसीसे मेरी व्रत-साधना पूरी हो जायगी।"

मैं क्या कहती, क्या करती ? मुझे कुछ भी सूझ नहीं रहा था। मेरे आंसू उमड़ आए और मैं चुपचाप उनकी गोद में मुंह छिपाकर रोने लगी। उन्होंने भी मुझे जी-भरकर रोने दिया। बहुत कुछ रो लेने पर मैंने उनकी ओर देखा, शरद-पूर्णिमा की चांदनी के समान निर्मल, उज्ज्वल आलोक उनके मुखमण्डल पर था। मैंने कभी उन्हें इतना सुन्दर नहीं देखा था। एक ऐसा तेज, ऐसी गरिमा, ऐसी सुषमा उनके मुखमण्डल पर छा रही थी, जिसके सामने मेरा रूप का सारा ही घमण्ड गलकर बह गया। मैं एकटक उनके मुंह को देखती रह गई। उन्होंने हंसकर स्निग्ध स्वर में कहा, "इस तरह क्या देखती है ?"

"अन्नदाता, आज तक जो कभी न दीखा था, वही आज आपके मुख-मण्डल पर देख रही हूं।"

"क्या देख रही है ?"

"यही कि मैं आपकी श्री और गरिमा के सम्मुख धूल के एक कण के समान भी नहीं हूं।"

"धत् पगली ! तू जा।"

"पर अन्नदाता, आपने तो अन्न का दाना भी मुंह में नहीं डाला। कदाचित् जल की एक बूंद भी ग्रहण नहीं की है। मैं आपके लिए रसोई बनाऊंगी। आप कांसा आरोग लें तो मैं जाऊं।"

"यह सब तो दाता के आने पर होगा।"

"नहीं राज, आप निराहार नहीं रह सकतीं। मैं यहीं सिर पटककर जान दे दूंगी।"

"अच्छा तो एक शर्त पर मैं स्वीकार करती हूं।"

"कहो, अन्नदाता !"

"तू अब फिर यहां नहीं आएगी, यह वचन दे।"

"तो राज, मुझे त्याग रहीं? ऐसा निर्मम दण्ड तो अभागिनी को न दें।"

"दण्ड नहीं बहन, तेरी और अपनी भलाई के लिए ही ऐसा कहती हूं। बस, आगा-पीछा सोच। तू भी सोचे-समझेगी तो इसीमें तुझे भी भलाई दिखाई देगी।"

"पर आपकी देख-भाल कौन करेगा राज?"

"मैं खुद करूंगी, इसके लिए मुझे किसीकी जरूरत नहीं है।"

"परन्तु आपने तो सब दास-दासियों को भी अपनेसे दूर कर दिया?"

"यह ठीक था चम्पा, एक दासी मेरी सेवा में है, वह काफी है।"

"आपकी इन बातों से मेरी छाती फटती है।"

"तेरा यही प्यार तो मेरा सारा आलम्बन है।"

"मुझे चरणों से दूर न करो राज, आपसे दूर नहीं रह सकती।"

"तू दूर कहां है, मेरे हिये में है बहन!"

"आप ऐसी निठुर तो कभी न थीं।"

"निठुराई की बात नहीं है बहन, मुझे जो कठोर व्रत पालन करना है उसकी मर्यादा की बात है।"

"तो केसर को रख लीजिए।"

"नहीं, वह तेरी सेवा में रहेगी। उसके बिना तेरा निस्तार नहीं है। तुझे भी कदाचित् कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।"

"मैं सब कुछ अकेले ही भुगत लूंगी।"

"नहीं, तेरे भले के लिए केसर का तेरे पास रहना ठीक है। मां ने बहुत सोच-समझकर ही उसे तेरे साथ भेजा है।"

"पर हम तो सभी आपकी चाकरी में आई हैं राज!"

"ठीक है, पर काम तो सब समयानुसार होते हैं। मैंने तो सभीको अपनी सेवा से मुक्त कर दिया है।"

मैं अब और क्या कहूं, कुछ भी न समझ पड़ा। मेरी आंखों में फिर मोती सज गए। मैंने कहा, "मैं रसोई बनाऊं या अटाले से मंगाऊं?"

"तू ही बना। क्या अकेली बना सकेगी?"

"इतनी निकम्मी नहीं हूं, अन्नदाता !"

मैंने झटपट स्नान कर रसोई बनाई। जो सामग्री उपस्थित थी उसीसे साधारण ही रसोई बनी। ठाकुर जी का भोग लगाकर बड़े ही संकोच से थाल सजाकर मैं ले गई। उन्होंने बड़ी-बड़ी भारी पलकें उठाकर कहा :

"पहले भूरसिंह दद्दा को दे आ। वह भी तो कल से निराहार हैं।"

"अन्नदाता, आप आरोगिए, मैं वहां थाल पहुंचाती हूं।"

"नहीं, पहले तू उन्हें स्वयं खड़ी रहकर जिमा दे।"

सेवक की रक्षा तो स्वामी इसी भांति करते हैं। कुंवरी की गुण-गरिमा पर मैं मुग्ध हो गई। मैंने यत्नपूर्वक ठाकुर को भोजन कराया, यद्यपि ठाकुर ने भी बहुत ननुनच किया। इस कार्य से निवृत्त होकर मैं दूसरा थाल सजाकर फिर कुंवरी के पास गई। कुंवरी ने कहा, "आ बहन, तू भी बैठ। दोनों बहनें साथ ही खाएं।"

"अन्नदाता, यह कैसे हो सकता है? आप कांसा आरोगिए, न होगा तो जूठन का प्रसाद मैं भी पाऊंगी।"

"जूठन का प्रसाद नहीं बहन, मेरे साथ बैठ।"

"मर जाऊं तो भी यह बे-अदबी न होगी। ऐसा भी कहीं होता है, अन्नदाता?"

"बहन, तू नहीं जानती, तेरा-मेरा रिश्ता अब क्या है। क्या तू भूल गई कि तू मेरे सौभाग्य की भागीदार है। अब हम दो कहां हैं? आ बैठ।"

"नहीं, अन्नदाता, नहीं।"

"तो मैं भोजन नहीं करूंगी।"

"इतना अन्धेर न करो राज!" मैं भूमि पर गिरकर उनके पैरों में लोट गई।

"कौन जाने जीवन में फिर मेरा-तेरा मिलना हो या नहीं, आज के इस मिलन-क्षण के बाद पता नहीं दूसरा कौन-सा क्षण आए। जिद न कर और जिसमें मुझे सुख मिले वही कर।"

उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर उठा लिया। अपने हाथ से थाल से कौर लेकर मेरे मुंह में रख दिया और इसके साथ ही साथ उनके होंठों पर स्मित फैल गई। मुझे अन्नदाता के साथ एक ही थाल में कांसा आरोगना

पड़ा। भला किस गोली-गुलाम को कभी यह सौभाग्य नसीब हुआ होगा ! उन्होंने कहा था कि कदाचित् जीवन में अब साक्षात्कार न होगा। कैसी अद्भुत बात थी। पर कितनी सत्य ! इसके बाद हम दोनों १८ वर्ष तक—जब तक वह जीवित रहीं—एक ही रंगमहल में रहे, पर मुझे उनकी एक झलक भी देखने को नहीं मिली, यद्यपि इसके लिए बहुत बार मैं प्राणों पर भी खेलने को उद्यत हो गई। पर उस समय ये सब बातें मुझ अज्ञानी को कहां ज्ञात थीं ? मैं क्या जानती थी कि मेरे जीवन में कैसी-कैसी अनहोनी घटनाएं होने वाली हैं।

कुंवरी ने बहुत स्वल्प भोजन किया और मैं तो लाज-संकोच में ही मरी जाती थी, खाती भला क्या ? भोजन से निवृत्त होकर उन्होंने कहा, "अब तू जा, चम्पा ! बस, यह मेरी-तेरी इस जीवन में शायद अन्तिम भेंट है। अब तू यहां आने की चेष्टा न करना।"

"यह कैसी आज्ञा करती हैं, अन्नदाता !"

पर उन्होंने उठकर मुझे भुजाओं में भर लिया। गले से मोतियों की माला निकालकर मेरे गले में डाल दी। फिर मेरी ठोड़ी चूमकर कहा, "मेरी जान-अनजान की सब भूल-चूक क्षमा कर देना, चम्पा ! और यह मत समझना कि तू मुझसे दूर है। तू सदैव यहां मेरे हृदय में वास करती रहेगी।"

अब मैं कहती क्या ? मैं जड़ हो गई। कुछ कहना चाहा, पर कह न सकी। वह अंक में भरकर मुझे ड्योढ़ियों तक ले चलीं। अधीन होकर मैं चीख पड़ी, "मैं आऊंगी अन्नदाता ! आप मुझे त्याग नहीं सकतीं।"

पर उन्होंने केवल एक मन्द मुस्कान में ही इसका उत्तर दिया और हम दोनों अभिन्न हृदय बिछुड़ गए। मैं रंगमहल से बाहर निकली तो मेरी आंखों में अंधेरा छा रहा था। केसर जैसे मुझे अधर में उठाए लिए जा रही थी। अपने महल में पहुंचकर मैं एक प्रकार से अर्धमूर्छित अवस्था में पड़ गई। दिन-रात का मुझे भान न रहा। आगा-पीछा सोचने की ताकत न रही, जैसे मेरे माथे से किसीने भेजा ही निकाल फेंका हो।

रेज़ीडेण्ट के सामने

भोर होते ही मैंने डंके की आवाज सुनी। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी। केसर को जगाकर मैंने कहा, "केसर, देखो तो यह कैसी एक आवाज है।" आवाज रुककर दूर से आ रही थी। पर कुछ क्षणों में ही वह और स्पष्ट हो गई। सूरज की एक किरण अपने पीले आलोक को मेरे शयन-कक्ष में बिखेर चली। इसी समय मैंने अपने महल के नीचे बहुत-से आदमियों का शोर सुना। मैं गवाक्ष में जा खड़ी हुई। केसर मेरे साथ थी। मैंने देखा, महल के बाहरी मैदान में दस-दस, पांच-पांच मनुष्य चारों ओर से एकत्र होते आ रहे थे। "यह सब क्या हो रहा है!" मैंने भयभीत नेत्रों से केसर की ओर देखकर पूछा। केसर जैसे सब कुछ समझ रही थी, इसीलिए उसने कुछ जवाब नहीं दिया। चुपचाप गवाक्ष में से देखती रही। इसी समय धौंसा जैसे महल की पौर पर ही बज उठा और मैंने देखा दाता धौंसा बजाते चले आ रहे हैं। सब साथी केसरिया पहने थे। सबके हाथ में नंगी तलवारें थीं। कुछ घोड़ों पर सवार थे, कुछ पैदल। दाता अपनी प्रि
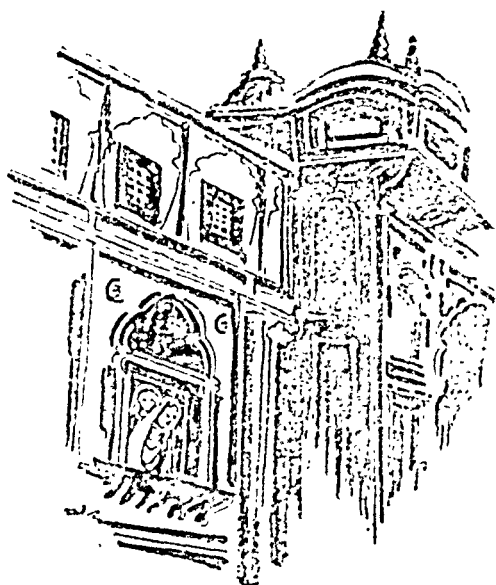
सांड़नी पर थे। उनकी दाढ़ी हवा में हिल रही थी। उनके हाथ में दुनाली बन्दूक थी और कमर में कारतूसों की पेटी कसी थी। उनके पीछे भीड़ शोर करती आ रही थी, देखकर मेरा कलेजा धड़कने लगा। मैंने केसर की ओर देखा, उसका मुंह सूख रहा था, वह एकटक उधर ही देख रही थी। मेरे मुंह से बोल नहीं फूट रहा था।

इसी समय किसुन ने आकर कहा, "ठाकुर केसरिया पहनकर आए हैं। कुल पच्चीस आदमी हैं। छह चाकर और आठ राजपूत, बाकी सब भाई-बन्द। उनका इरादा साखा करने का है। वह मरने-मारने पर तुले हैं। राज्य-सेना उन्हें रोककर आ रही है।"

मैंने देखा, अभी दाता की सवारी त्रिपोलिया के निकट भी न पहुंची थी कि तोप दगी और राज्य की सेना के सिपाहियों ने चारों ओर से दाता की सवारी को घेर लिया। इस समय नगर के भी बहुत-से लोग भागे आ रहे थे। शोर बहुत हो रहा था। दाता बन्दूक हाथ में लिए दृढ़ता से अपनी सांड़नी पर बैठे थे।

मैंने सहमते हुए कहा, "किसुन, अब क्या होगा?"

किसुन ने कहा, "अन्नदाता ने रेजीडेण्ट साहब बहादुर पर हरकारा भेजा है। महल की रक्षा को सिपाही आ रहे हैं। शायद ठाकुर को गिरफ्तार कर लिया जाएगा।"

"पर वह जान पर खेल जायेंगे किसुन, दाता बात के बड़े धनी हैं।"

"आपके लिए कोई खतरा नहीं है, सरकार! अन्नदाता ने पचास सिपाही ड्योढ़ियों पर भेज दिए हैं।"

"भाड़ में जाएं पचास सिपाही! उनसे कह दे कि वे यहां से चले जाएं, मुझे उनकी जरूरत नहीं है। दाता आकर पहले मेरा सिर काट लें। जा, तू दाता से मेरी यह अरदास अर्ज कर दे।" मैंने गुस्से से भरे कण्ठ से कहा।

किसुन ने मेरी हालत समझ ली थी। उसने कहा, "सब ठीक हो जाएगा, सरकार! रेजीडेण्ट साहब बहादुर खून-खराबा नहीं होने देंगे।"

"पर तू मेरी अरदास दाता से अर्ज कर दे।"

"मैं वहां कैसे पहुंच सकता हूं, सरकार! देख नहीं रही हैं। राज्य

की फौज ने उन्हें चारों ओर से घेर रखा है।"

"तो तलवार दे, मैं अपना सिर खुद काटे देती हूं। तू मेरा सिर दाता की सेवा में ले जाकर कहना, 'दाता, यह तुम्हारी चम्पा है, जो निर्दोष है।'"

इतना कहकर मैं फूट-फूटकर रोने लगी। केसर मुझे गवाक्ष से हटाकर कक्ष में ले आई। उसने कुछ संकेत-सा करते हुए किसुन से कहा, "किसुन, नीचे जाकर देख तो, वहां क्या हो रहा है।" रो वह भी रही थी। किसुन चला गया। मुझे पलंग पर लिटाकर केसर मेरा सिर अपनी गोद में रखकर बैठ गई।

नीचे से शोर-गुल की आवाज आ रही थी। पर दाता का धौंसा धमाधम बज रहा था। पहर दिन चढ़ गया था और अब महल के बाहरी मैदान में हंगामा-सा मच रहा था। पर कोई खून-खराबे की सूचना नहीं मिली थी। एकाएक बन्दूक छूटने की आवाज सुनकर मैं हड़बड़ाकर झरोखे की ओर भागी। केसर भी भागी। मैंने देखा, नर-मुण्ड ही नर-मुण्ड थे और रेजीडेण्ट साहब बहादुर के गोरे लाल-लाल वर्दी पहने भीड़

में घोड़ों को पेल रहे थे। दाता वहां से काफी दूर थे, पर मैं उनकी हवा में हिलती दाढ़ी को बराबर देख रही थी। उनकी बन्दूक अब भी तनी हुई थी। कुछ हुज्जत-सी हो रही थी और कोई गोरा साहब घोड़े पर सवार उनसे बातचीत कर रहा था। थोड़ी ही देर में मैंने देखा, वे लोग दाता को और उनके सब सवारों को लेकर एक ओर चल दिए हैं। भीड़ भी उनके पीछे शोर करती जा रही है। इसी समय किसुन ने आकर खबर दी कि वे उन्हें रेजीडेन्सी ले गए हैं। अन्नदाता भी रेजीडेन्सी गए हैं।

मैं किसुन का मुंह ताकने लगी। उसने कहा, "चिन्ता की बात नहीं है, सरकार! रेजीडेण्ट साहब बहादुर बहुत भले आदमी हैं। वह सब ठीक कर लेंगे। आप सब हाथ-मुंह धोकर कलेवा कर लीजिए। आइए।" पर मैं टस से मस न हुई। मैं यह सोचकर मरी जा रही थी कि यह सब मेरे ही कारण हो रहा है। पर मैं करूं भी क्या? मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

किसुन का अनुरोध मैं अन्ततः टाल न सकी। विचित्र पुरुष है यह किसुन। इसे देखकर तो जैसे मेरा सारा ही अपनापन गल-सा जाता है। उसके अनुरोध में आग्रह, अनुनय और स्नेह का एक ऐसा पुट है कि उसके सामने विवश हो जाना पड़ता है। मैं यहां अपनी विपत में केसर ही को अपना अवलम्बन समझती थी, पर इन दो दिनों में ही मैंने जान लिया कि किसुन उससे अधिक मेरा अवलम्बन है। वह साहसी, चतुर, धैर्यवान विनम्र और प्रत्युत्पन्नमति पुरुष है। पुरुष अभी कहां है वह, निपट तरुण है। उसका सबसे बड़ा गुण है निर्द्वन्द्व रहना। जैसे विपदा उसे व्यापती नहीं है। चिन्ता उसे छूती नहीं है। आलस्य उसके पास फटकता नहीं है। खीझना वह जानता नहीं है। इतने गुण एकत्र भला किसी पुरुष में मिल सकते हैं! फिर वह पुरुष, जो इतने गुणों का अधिष्ठाता हो, क्या साधारण मनुष्य कहा जा सकता है? वह तो नररत्न है। फिर, अभी दो ही दिन तो हुए हैं, इसके सारे गुण मैंने देखे कहां हैं भला! परन्तु यह गुणों का सागर नर-रत्न राजा नहीं, रईस नहीं, प्रतिष्ठित पुरुष नहीं। एक गोला है, गुलाम है, चाकर है। मेरी भांति इसका भी रक्त स्वामी के यहां बन्धक है। कैसी भाग्य-विडम्बना है! कैसा संसार का व्यवहार है!

एक अन्नदाता की वह मूर्ति जो मैंने पिछली रात देखी थी—घृणित पशु के समान, गन्दे सूअर के समान और एक यह मूर्ति—जीवन से ओत-प्रोत। पर वह राजा, अन्नदाता और यह गोला, गुलाम चाकर! छीः! छीः!

कैसी एक वितृष्णा से मेरा मन भर गया। मैंने आंख उघारकर किसुन की ओर देखा—भूल गई मैं इस क्षण दाता को, अन्नदाता को, कुंवरी को, चारों ओर बिखरी हुई विपत्ति को, अपने अन्धकारपूर्ण आगामी जीवन को। मैं अपना पाप-कलुष छिपाऊंगी नहीं। सत्य ही कहूंगी—मैं समूची आंखों से किसुन को जैसे पीने लगी। कभी प्यार का ऐसा वेग मैंने अपने मन में अब तक अनुभव नहीं किया था। और जब उसने तौलिया, चिलमची, गर्म पानी का सागर लाकर पलंग के पास रखकर मुझे हाथ-मुंह धोने को कहा तब मैं यह सोच-समझ ही न सकी कि वह एक चाकर का अनुरोध है या स्वामी की आज्ञा। मैं औरत हूं और वह मर्द, यह मैं उस एक ही क्षण में सम्पूर्ण रूप में जान गई। जैसे-जैसे उसने कहा, मैंने वैसे-वैसे ही किया। उसकी इच्छा के अनुसार काम में मुझे जैसे एक अनिर्वचनीय सुख मिल रहा था। पान का बीड़ा उसके हाथ से लेकर मैंने स्निग्ध दृष्टि से उसे देखकर कहा, "किसुन, केसर को भी कुछ खिला-पिला और तू भी कलेवा कर फिर मेरे पास आ।"

मेरी प्रसन्न मुद्रा देख वह खिल गया। वाह! कैसा मधुर मोहक हास्य उसके होंठों पर फैला! करोड़ों रुपयों के मूल्य का। मोती की लड़ी-सी धवल दन्तपंक्ति—पतली-सी, काली, छोटी-छोटी मूछों के भीतर से झांकती कैसी प्रिय लग रही थी। मैं ठगी-सी देखती रह गई।

केसर भी जैसे मेरे भाव को समझ गई। एक अस्पष्ट भाव उसकी भौंहों में आया, उसने मेरी ओर क्षण-भर देखा। किसुन ने हंसकर कहा, "आप भी यहीं..."

"नहीं, मैं उठती हूं।" केसर उठकर बाहर चली गई। उसके पीछे किसुन भी। और मैं आंखें बन्द किए पड़ी चुपचाप किसुन की मूर्ति को अपने हृदय-मन्दिर में बैठी देखती रही।

कुछ देर बाद जब वह आया तब मैंने कहा, "किसुन, जरा देख तो,

उधर क्या हो रहा है। कुंवरी का हाल भी तो देख आ। चाहे तो केसर को भी ले जा।"

"नहीं, मैं ही जाता हूं, सरकार। वह यहीं आपकी खिजमत में रहे।" वह एक प्रसन्न दृष्टि मुझपर डाल, उस दृष्टि में मुझे उलझाता-सा चला गया।

थोड़ी ही देर बाद एक नये शोर ने हमें चौकन्ना कर दिया। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि भीड़ की भीड़ मेरे महल की ओर आ रही है। मैं उठकर बैठ गई। केसर गवाक्ष में दौड़ गई और बदहवास-सी लौट आई। उसने हांफते-हांफते कहा, "गजब हो गया, चम्पा! कुंवरी रंगमहल से जा रही हैं।" मैंने उठकर देखा सुखपाल पर कुंवरी जा रही थीं। आगे नंगी तलवार हाथ में लिए भूरसिंह थे। पीछे बन्दूकधारी सिपाही। उनके पीछे बहुत-सी भीड़ थी। मैंने कहा, "यह क्या हो रहा है? कुंवरी कहां जा रही हैं? क्या वह रंगमहल छोड़ रही हैं? तू जाकर देख।" केसर नीचे गई। उसने लौटकर बताया, "वह रेजीडेन्सी गई हैं।"

मैं पीपल के पत्ते की भांति कांपने लगी। मैं इतनी भयभीत हो गई कि मानो अभी मेरी सांस रुक जाएगी। मैंने पूछा, "क्या उन्हें रेजीडेण्ट साहब बहादुर ने गिरफ्तार किया है? क्या दाता भी गिरफ्तार हो गए हैं?" परन्तु इन सब बातों का कुछ भी उत्तर नहीं मिला। उत्तर कौन दे सकता था? किसे भीतरी बातें मालूम थीं? मेरे महल पर तो सिपाहियों का पहरा था। केसर को बाहर जाने की आज्ञा न थी। मैं भी जा नहीं सकती थी, फिर जाती तो कहां! कौन यहां मेरा अपना था? हम दोनों असहाय स्त्रियां एक-दूसरे का मुंह ताकने लगीं। किसीके मुंह से बोल फूटा। एक अज्ञात भय की सिहरन हमारे अंग में व्याप गई।

सूरज चढ़ने और फिर उतरने लगा। धूप पीली पड़ती गई। संध्या के अन्धकार ने संसार को ग्रस लिया, पर हमें बाहर की कुछ खबर नहीं मिली। चौक में सन्नाटा छा रहा था। खाने-पीने की हमें ... थीं। रह-रहकर मुझे कुंवरी का ध्यान आता। उनका वह ... अन्नदाता के उस रात वाले घृणि... ई दाढ़ी बरब...

मन खींच लेती। कभी किसुन की धवल दन्त-पंक्तियां आंखों में व्याप जातीं। कभी मुझे मां की याद आती। बचपन के वे चांदी के दिन और सोने की रातें, जब हम निर्द्वन्द्व गढ़ी में रह रहे थे। दाता हमें प्यार करते थे। मां हमें मिठाइयां खिलाती थी, हम मीठे सपने देखती थीं, मीठी नींद सोती थीं। वाह, कैसे प्यारे थे वे बीते हुए बचपन के दिन !

बहुत रात बीते किसुन आया। वह बहुत थक गया था। पर इसकी उसे चिन्ता न थी। आते ही उसने केसर की ओर देखकर पूछा, "सरकार का नहाना-खाना हुआ ?"

"तू वहां की कह, किसुन ! वहां क्या हो रहा है ?" मैंने व्यग्र भाव से पूछा।

"सब ठीक हो गया सरकार।" उसने शान्त वाणी से कहा। फिर धीरे-धीरे सब बातें उसने बताईं। "नयी रानी ने खुद जाकर रेजीडेण्ट साहब बहादुर से मुलाकात की। उनने साफ कह दिया कि यह मेरा अपना मामला है, इसमें मैं किसीको दखल न देने दूंगी। हां, मैं जिस तरह चाहूंगी रहूंगी। कोई मेरे साथ जबर्दस्ती किसी प्रकार की नहीं कर सकता। दरबार चाहें तो मैं रंगमहल छोड़ सकती हूं। वह रियासत में कहीं भी मेरे रहने का प्रबन्ध कर दें। दाता को भी इस मामले में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। 'रानी पर कोई जोर-जुल्म नहीं होगा। वह स्वेच्छा से जहां चाहें मर्यादा से रह सकेंगी।' यह आश्वासन अन्नदाता ने दिया है। कुंवरी रंगमहल में ही खुशी से रहें, यह वचन भी उन्होंने दिया है। रेजीडेण्ट साहब बहादुर बीच में पड़े हैं। उन्होंने नयी रानी से कहा है कि यदि आप पर कोई जोर-जुल्म करे तो मेरे पास आ सकती हैं। जैसे ठाकुर साहब आपके पिता हैं, वैसे ही आप मुझे भी समझिए। इन बातों से ठाकुर साहब भी आश्वस्त हुए हैं। वह गढ़ी को लौट गए हैं। उन्होंने बहुत चाहा कि कुछ सिपाही छोड़ जाएं। रानी को गढ़ी ले जाने का भी उन्होंने आग्रह किया, फिर यह भी कहा कि उनका सब खर्च वही करेंगे, पर रानी साहिबा ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा, 'आप जिन्हें मुझे दे चुके हैं, वही जिस तरह चाहेंगे मेरा भरण-पोषण करेंगे और मुझे जो कुछ लेना-देना होगा उन्हीं से लूंगी।'

वह मेरे धर्म के पति और मैं उनकी धर्म की पत्नी हूं। मेरे-उनके बीच धर्म का युद्ध ठन गया है। सो मेरा भाग्य है। अब मैं स्वयं ही अपने भाग्य से निपट लूंगी : और किसीको बीच में पड़ने की जरूरत नहीं है।' उन्होंने उनसे यह भी कहा, 'पिता अपना धर्मपालन कर चुके। उन्होंने मुझे जिसके हाथ दिया है उनसे मेरी जैसी निभेगी निभाऊंगी।' हुजूर रेजीडेण्ट साहब बहादुर नयी रानी से मिलकर बहुत खुश हुए हैं। उन्हें उस रात की सारी बात मालूम हो गई है। इससे उन्होंने अन्नदाता को खूब फटकारा है और कहा है कि सब बातें वह जनाब एजेंट गवर्नर जनरल बहादुर को को लिख देंगे और यदि वह अपना चाल-चलन-ठीक न रखेंगे तो वह ए० जी० जी० को रिपोर्ट देंगे कि रियासत खाली कर ली जाए और अन्नदाता को गद्दी से उतार दिया जाए। इन सब बातों से अन्नदाता बहुत डर गए हैं।"

सब बातें सुनकर मैं भी डर गई। न जाने मेरा क्या होगा? कुंवरी अब क्या करेंगी? मैंने डरते-डरते पूछा, "क्या कुंवरी रंगमहल में लौट आई हैं?"

किसुन ने कहा, "हां, वह रंगमहल में लौट आई हैं।"

"और दाता?"

"वह गढ़ी लौट गए हैं। चलती बार रानी जी के गले लगकर बालक की तरह फूट-फूटकर रोने लगे थे। ठाकुर साहब बहुत भले हैं, सरकार! बहुत ऊंच-नीच बातें रानी जी को समझा गए हैं। उन्होंने कहा है, 'सोच-समझकर अपना लाभ-हानि देखकर रहना। पति से किसी हालत में मान न करना, उन्हें ईश्वर के समान समझना।' ये ही सब बातें उन्होंने रोते-रोते कहीं और सांड़नी पर सवार होकर चले गए।"

मैंने पूछना चाहा कि मुझ अभागिन-कलंकिनी के लिए भी कुछ उन्होंने कहा, पर मेरे मुंह से बोल न फूटा। मैं चुपचाप रोती रही। आंसू मेरी आंखों से ढलकते रहे। किसुन ने कहा, "अन्नदाता भी महलों में आ विराजे हैं। उनका मुंह उतरा हुआ है और मिजाज बिगड़ा हुआ।"

मैंने पूछा, "क्या तूने उनसे बातें की हैं?"

"नहीं, मैं सीधा यहां आपकी खिजमत में आ हाजिर हुआ हूं। मुझे आपकी फिकर थी।"

रुककर मैंने किसुन की ओर देखा। फिर आंखें नीची कर लीं। खाने-पीने का उसने बहुत आग्रह किया, पर मेरी किसी बात में रुचि नहीं थी, मैं चुपचाप पलंग पर पड़ रही। इसके बाद किसुन उठा। उसने कहा, "मैं बाहर ही हूं सरकार! आवश्यकता हो तो पुकार लेना।" यह कहकर वह दरवाजे का पर्दा ठीक करता हुआ बाहर चला गया।

केसर को भी मैंने अपने ही शयनकक्ष में सोने का आग्रह किया और मैं बड़ी देर तक अपने भूत-भविष्य का विचार करती रही। मेरी आंख लग गई।

रियासत

रियासत चौबीस लाख वार्षिक आय की थी। ग्यारह तोपों की सलामी और महाराजाधिराज को राजा का खिताब था। पूरे लवा-जमे के साथ महाराज का नाम दो लाइनों मे समाता था। परन्तु जब मैं उनके पांच अक्षर का नाम ही आपको नहीं बता रही हूं, तब उन लम्बी और निरर्थक उपाधियों के वर्णन से ही क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? अंग्रेज बहादुर की यही करामात थी। राजा-रईस बड़ी-बड़ी दावतें देते, बड़े-बड़े चन्दे देते और बदले में दो-तीन अस्त-व्यस्त अंग्रेजी शब्दों के पुछल्ले उनके नाम के आगे-पीछे लग जाते थे। इन पुछल्लों को अपने नाम के आगे-पीछे लगाने में ये राजा-रईस उसी प्रकार खुश होते थे, जिस प्रकार अपने कपड़ों मे हीरे-मोती टांककर खुश होते थे। पर कुछ लाभ न इनसे था, न उनसे। हास्यास्पद वे उनसे भी होते थे और इनसे भी, क्योंकि अंग्रेज जब चाहते उनके कान खींच सकते थे। उनकी स्थिति अंग्रेजों के पालतू कुत्तों से अधिक अच्छी न थी, क्योंकि उनकी सभी शान-शौकत, सारा ठाट-बाट सब कुछ सरकार अंग्रेज बहादुर की कृपाकोर पर निर्भर था। वे उनकी कृपा ही के सहारे जीते, हीरे-मोतीजड़े

पहनते और ए वी सी डी के अक्षरों की अस्तव्यस्त उपाधियां अपने नाम के आगे लगाकर इतराते थे।

परन्तु यह वात नहीं थी कि ये राजा-रईस निर्गुण और निकम्मे ही होते थे। उनमें वहुत-से दुर्लभ गुण भी होते थे। परन्तु वे गुण किसी गिनती में न थे। इन्हीं राजा साहव को लीजिए। उनकी कुत्सा तो मैंने पहली रात में ही देख ली थी। धीरे-धीरे गुणों को भी देखा। वहुत वार उन गुणों से अभिभूत हो गई। वहुत वार आश्चर्यचकित। वहुधा मैं सोचती, यह कितनी अद्भुत वात है। एक ही पुरुष में सूअर, सिंह, राजहंस अथवा देवता-दानव के गुणों-दोपों का समावेश है। पर मेरे सोचने से ही क्या होता था। जो वस्तु थी वह तो थी ही।

यों रियासत थी दूसरे दर्जे की, पर उसकी प्रतिष्ठा वहुत थी। घराना पुराना था। राजपूतों की खरी जाति थी। कभी यहां के पुरखों ने वड़ी-वड़ी लड़ाइयां की थीं। वीरता के लिए यह घराना इतिहासप्रसिद्ध था। आज तो वीरता का नाम भी शेप न था। मैं नहीं कह सकती कि कभी महाराजाधिराज को तलवार म्यान से वाहर करने की नौवत आई होगी। हां, शिकार में वन्दूक का प्रयोग वह करते थे। शिकार की वहा-दुरी की इनकी भी वड़ी-वड़ी कहानियां मशहूर थीं।

राजधानी में वहुत-सी नई वातों का समावेश हो गया था। विजली की रोशनी तो मेरे वहां आने पर आ गई थी, परन्तु गली-कूंचों में अव भी मिट्टी के तेल की लालटेनें लगी थीं। खास-खास सड़कें खूव चौड़ी, साफ, चमकदार थीं, पर गली-कूचे वहुत गन्दे थे। पानी का निकास उसमें था ही नहीं। लोग मुक्त भाव से गलियां में पेशाव करते, गन्दगी फेंकते और इससे भी अधिक यह कि वहां की सड़कों पर पशु स्वच्छन्द विचरण करते रहते थे। कवूतरों के चुगने के लिए ठौर-ठौर पर थान वने थे। उन्हें लोग मनों वाजरा डालकर चुगाते थे। उनकी समझ में यह एक धर्म का काम था। सड़क-चौराहों पर हजारों कवूतरों को निर्भय-स्वच्छन्द वाजरा चुगते देखना वास्तव में चमत्कारिक लगता था।

महल खूव शानदार था। रंगमहल तो सारा ही मकराने का वना था। शेप इमारतें भी कीमती पत्थर से वनी थीं। मैं जिस महल में उतारी

गई थी, वह छोटा-सा तो था, पर सर्वाधिक आधुनिक साज-सज्जा से सजा था। कीमती विलायती कालीन, बड़े-बड़े मूल्यवान् तैलचित्र। रंगीन बिल्लौर और कांच के फर्नीचर तथा भारी झाड़-फानूसों से सजा हुआ वह महल एक भव्य शोभा की खान बना हुआ था। यह महल इन्हीं वर्तमान महाराजा ने बनवाया था। उसमें बिजली का प्रकाश, पंखे और दूसरे सब सुख-साधन उपस्थित थे। महल के शेष भागों से वह एक प्रकार से पृथक् था। रंगमहल वर्तमान महाराज के दादा का बनवाया हुआ था। वह बहुत विशाल था, उसमें सात खण्ड थे। महाराज के पिता उसे आधुनिक साज-सज्जा से संवारने-सजाने को विलायत से विशेषज्ञ साथ लाए थे। पर बनावट उस महल की थी पुराने जमाने की। कमरे अंधेरे, खिड़की-रोशनदानों से रहित और अनावश्यक रूप से बड़े तथा शानदार। बड़े-बड़े चौक, बड़े-बड़े दालान, बड़े-बड़े महराब सर्वत्र थे। रंगमहल वास्तव में प्राचीन राजशाही की एक यादगर था। उसके सात खंडों में लगभग सौ से ऊपर कमरे थे, जो सभी आदमियों से भरे रहते थे। महल का सबसे शान-दार कमरा दरबार हाल था। वह सबसे बड़ा था। साल के तीन सौ पैंसठ दिन वह खाली पड़ा रहता था। जब लाट साहब रियासत में आते या नये राजा की गद्दीनशीनी होती, तभी वह सजाया जाता था। यों दशहरे की नजर-भेंट भी हाल में ली जाती थी। उसके लिए कालीन, फर्श, कुर्सी, कोच सब पृथक् थे। दशहरे का जल्सा ठाट का होता था। महाराजा बैठते थे जरी की पोशाक पहनकर, हीरे-मोतियों से सजकर, चांदी के तख्त पर और खवास लोग उनपर चंवर ढालते थे। भाट-चारण विरद बखानते थे। सरकारी सेवक, कर्मचारी और प्रजावर्ग नजर-भेंट चढ़ाते थे। महा-राजा सबको सिरोपा व इनाम-इकराम देते थे। गाजे-बाजे होते थे, रण्डी-भांड आते थे। गवैए और कलावन्त बुलाए जाते थे, सबके नाच-मुजरों की धूम रहती थी। फिर सवारी निकलती थी। हाथी सजाए जाते थे। तोपें छूटती थीं। भैंसे कटते थे। देवी की पूजा होती थी। रात-भर शराब के दौर चलते थे। दशहरे का त्यौहार वास्तव में एक खास जातीय उत्सव होता था, जिसमें रियासत के छोटे-बड़े सभी दिल से भाग लेते थे।

महाराज राज-काज में बहुत दखल नहीं दे पाते थे।

के दीवान करते थे। दीवान उस समय एक मद्रासी सज्जन थे, जिन्हें सरकार वर्तानिया ने अपने यहां से भेजा था। रेजीडेण्ट साहब बहादुर ने रियासत की फिजूलखर्ची और इंतजाम का खलीता बड़े लाट को भेजा था। उन्होंने जांच का हुक्म ए० जी० जी० को दिया था। ए० जी० जी० ने फलतः यह नया दीवान भेजा था। बूढ़े आदमी थे। नाम के लिए हिन्दुस्तानी पर काम में सब तरफ अंग्रेज। रियासत का प्रवन्ध उन्होंने कड़े हाथों से किया था। महाराजाधिराज तक उनसे भय खाते थे और उनके कृपा-कटाक्ष की सदा कामना किया करते थे। वैसे दीवान साहब बड़े हंसमुख थे पर मिलनसार बिलकुल न थे। केवल कामसिर लोगों से मिलते और काम की ही बातें करते थे। अंग्रेज सरकार उनसे खुश थी। उनके हाथों में रियासत एक प्रकार से अंग्रेजी हुकूमत में ही थी। महाराज को नियत राशि जेब-खर्च को मिलती थी। उनकी रानियों पर दीवान बहुधा चश्मपोशी करते थे और उन्हें वह उनका व्यक्तिगत मामला मानते थे। जब तक उनके रियासती इन्तजाम में खलल न पड़े वह महाराज के कामों में दखल नहीं देते थे। इस प्रकार राजा और दीवान में कौन स्वामी था, कौन अधीन, इसका पता ही न लगता था। महाराजाधिराज भी इन बातों से खुश थे। रियासत के सब प्रबन्धों के झंझट से वह वरी थे और अपने रस-रंग में स्वतन्त्र। उनके रंगमहल की रंगीनियों में कोई बाधा न आती थी। केवल इसी बार रेजीडेण्ट और दीवान को दखल देना पड़ा था। यदि वे ऐसा न करते तो दाता जरूर ही खून-खराबा करते। कुंवरी ने भी इस अवसर पर असीम साहस का प्रदर्शन किया था। वह पर्दे की पुरानी परम्परा और रंगमहल की मर्यादा का उल्लंघन करके बिना अन्नदाता की आज्ञा-अनुमति के रेजीडेण्ट के बंगले पर जा धमकी थीं। पर यह उन्हींके साहस का परिणाम था कि मामला सुलझ गया।

जनाब रेजीडेण्ट साहब बहादुर को उन्होंने सुहागरात की सारी घटना ज्यों की त्यों सुना दी थी। महाराज ने स्वीकार किया था कि नशे की झोंक में यह गलती हो गई, पर कुंवरी ने गढ़ी वाला किस्सा भी उन्हें सुना दिया। न जाने कहां से, कैसे, उन्हें सब बातों का राई-रत्ती भेद लग गया था। जब सब बातें सुनाकर कुंवरी ने जनाब रेजीडेण्ट साहब बहादुर से

अपील की कि कोई पत्नी अपने सुहागरात के दिन अपने पति का यह आचरण कैसे सहन कर सकती है, तब साहब ने कुंवरी का समर्थन किया। साहब की मेम साहिबा ने भी कुंवरी का पक्ष लिया और जब कुंवरी ने यह दरख्वास्त की कि मैं केवल इतना ही चाहती हूं कि महाराज मेरी मर्जी के विपरीत मेरे निकट न आने पाएं, तब रेजीडेण्ट साहब बहादुर ने उन्हें सहायता का वचन दिया और राजा से भी लिखवा लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने ए० जी० जी० और वायसराय को भी बहुत सख्त नोट लिखा और इस बात पर भी जोर दिया कि चम्पा को रंगमहल से हटा दिया जाए। पर जब कुंवरी से कैफियत तलब की गई तब उन्होंने साफ कह दिया कि चम्पा के विरुद्ध उन्हें कुछ भी शिकायत नहीं है।

अब राजधानी में घर-घर कुंवरी के साहस और मेरे साथ राजा के सम्बन्ध की चर्चा हो रही थी।

राजा के गुण

महाराजाधिराज के मैंने दो ही बार दर्शन किए थे। एक गढ़ी में जब कि मैं उनके रुआब और राजपद से अभिभूत हो गई थी। उस समय मेरे लिए सब कुछ अननुभूत, अद्‌भुत, अतर्कित और अकल्पित था। दूसरे यहां महल में, जबकि मेरा मन उनके प्रति वितृष्णा और घृणा से भर गया था। दोनों ही अवसर ऐसे असाधारण थे कि दोनों ही बार मेरी चेतना मूच्छित हो गई और मैं अपनेमें सीमित रही ही नहीं। परन्तु आगे चलकर उनके गुण-दोषों का मुझे विस्तृत परिचय मिला।

महाराजाधिराज को तीस हजार रुपये जेबखर्च के लिए रियासत से प्रतिमास मिलते थे, और इतनी ही आय उनकी व्यक्तिगत जायदाद से हो जाती थी। बम्बई, कलकत्ते में उनकी कोठियां किराए पर चलती थीं। वह अनेक कम्पनियों के हिस्सेदार थे। जब बम्बई-कलकत्ते जाते

सट्टा-फाटका भी करते थे। घुड़दौड़ में उन्हें दाव लगाने का बड़ा शौक था। इस प्रकार उनकी वार्षिक आय ६-७ लाख रुपये के लगभग थी, जो सबकी सब लान-तान में खर्च हो जाती थी। यह तो मुझे बाद में मालूम हुआ कि वे संस्कृत के पण्डित और अंग्रेजी के भी विद्वान हैं। दो बार विलायत हो आए हैं। एक बार तो विश्व-भ्रमण भी कर चुके हैं। वह अंग्रेजों की भांति अंग्रेजी धाराप्रवाह बोल सकते थे। श्लोकों का अर्थ लगा सकते थे। सैकड़ों श्लोक उन्हें कण्ठस्थ थे। हिन्दी के वह केवल काव्य-मर्मज्ञ ही नहीं, अच्छे कवि भी थे। जब वह मौज में होते कविता करते, मुझे सुनाते। मेरे आने के बाद तो उनका दिन-रात का अधिकांश समय मेरे ही सान्निध्य में कटता था। वह कहा करते थे, "पहिले पण्डितों की सभा में अपना काव्य सुनाकर उनकी प्रशंसा प्राप्त करने की चेष्टा करता था, पर अब तो तुझे ही सुनाता हूं, तेरे ही लिए काव्य रचता हूं, तू ही मेरी सरस्वती का आलम्बन है। पण्डित लोग भांति-भांति का मुंह बना-कर मेरी रचनाओं की प्रशंसात्मक आलोचना करते थे। तू केवल मुस्करा-कर मेरी ओर देखती है, पर तेरा यह देखना मुझे बहुत भाता है। बहुत मीठा लगता है। अब उन पण्डितों के पोपले, झुर्रियों से भरे मुखों की प्रशंसा से मेरा क्या प्रयोजन है, जब तू साक्षात् वीणाधारिणी सरस्वती, शरद्कालीन मेघ के समान उज्ज्वल शुभ्र शोभाधारिणी, शरदेन्दुमुखी मेरे सम्मुख उपस्थित है।"

ऐसी ही बातें वह करते थे और मैं कलमुंही ये बातें सुन-सुनकर मस्त हो जाती थी। भला किसीको इतने बड़े राजा के मुख से ऐसी प्रशंसा सुनने को काहे को मिली होगी! खासकर मुझ जैसी मूर्खा गोली-गुलाम को। मैं सुनते अघाती नहीं थी। जी चाहता था, सुनती ही रहूं। और राजा इससे बहुत प्रसन्न हो जाते थे।

संगीत में भी वह पारंगत थे। सितार, मृदंग और इसराज वह कौशल से बजा सकते थे। बड़े-बड़े कलावन्त उनके सामने कान पकड़ते थे। उनका आलाप मेघ-गर्जना के समान था। वह वातावरण में भूकम्प-सा लाता था। गुणी गुणी की कद्र भी करता है। बड़े-बड़े गुणी कलावन्त दूर-दूर से आकर अपनी कला दिखाते, हफ्तों जलसे होते और लोग खूब इनाम-

इकराम लेकर राजा का जय-जयकार करते थे। राजा बड़े भारी दाता थे। मुक्त हाथों से याचक को देते थे। विद्वान-कवि जो भी उनके सामने पहुंच गया, उसे पांच हजार से कम मुद्रा नहीं देते थे। सितार में उन्होंने कुछ खास परिवर्तन किए थे और इसराज में भी कुछ नये सुधार किये थे। संगीत पर उन्होंने एक शास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखा था, जिसे वह मित्रों को भेंट दिया करते थे।

नानाविध भोजन-व्यंजन बनाने में भी वह एक थे। अपने हाथ से उत्तम खाद्य-पेय-भोज्य बनाने और मित्रों को खिलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। और अब तो लगभग सभी मित्रों का स्थान मैंने ले लिया था। वह मुझे खिलाते नहीं थे, भोग लगाते थे—जैसे भक्त देवी-देवताओं को भोग लगाते हैं। विविध पक्वान्न बनाने का उनका शौक इतना बढ़ा-चढ़ा था कि कभी-कभी तो दिन-भर उनका इन्हीं कामों में बीत जाता था। उनकी इन बातों से मैं बहुत ढीठ हो चली थी। अपनी हैसियत भूल गई थी। कभी-कभी गुस्ताखियां कर बैठती थी। वह मेरे ऊपर गुस्सा बहुत कम करते थे, पर जब करते थे तब बख्शते नहीं थे। मैं आगे बताऊंगी कि यहां आने के सप्ताह बाद ही किस प्रकार उन्होंने चाबुक से मेरी खाल उधेड़ डाली थी।

शिकार का शौक उनका बेढब था। बन्दूक हाथ में लेकर सीधे शेर के सामने जा डटते थे। निशाना इस कदर अचूक होता था कि शायद ही कभी खता होता हो। रंगमहल का तमाम बराण्डा और उनकी मर्दानी बैठक उनके मारे हुए शेरों, चीतों, गैंडों, जंगली भैंसों और मगरमच्छों के सिरों और खालों से भरी हुई थी। बड़े अंग्रेज अफसर उनसे केवल शिकार की ही दोस्ती रखते थे। मगर वाह रे अंग्रेज बच्चे! दोस्ती की जगह दोस्ती रहती थी; राजा को वह बख्शते नहीं थे। तार-तार में खींच रखा था उन्हें। उन्हींका खाते और उन्हींको आंखें दिखाते थे। पर राजा को इसकी विशेष चिन्ता न थी। वह अंग्रेजी लिबास पहन, अंग्रेजों के साथ वैसे ही अंग्रेजी बोलते थे, तब कौन कह सकता है कि उनमें एक अधीन भारतीय है दूसरा प्रतापी अंग्रेज। वह परम वैष्णव [illegible]
देव थे। श्रीजी उनके कुल देवता थे। प्रातःकाल [illegible]

में व्यतीत करते थे। परन्तु खान-पान के वैष्णव न थे। पक्के मांसाहारी थे। राजा की रसोई के अतिरिक्त उनका पृथक् बावर्चीखाना था, जहां दो मुसलमान और फ्रान्सीसी बावर्ची भिन्न-भिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ तैयार करते थे। वह जैसे गुस्सैल थे वैसे ही दयार्द्र भी थे। गुस्सा उनका तुरन्त उतर जाता था और तब वह बड़े दयार्द्र और कोमल हो उठते थे। बहुधा आंखें उनकी भर आती थीं। कभी-कभी आत्म-प्रतारणा से वह बहुत ही विकल हो उठते थे। उनकी दयालुता की भी बहुत-सी कहानियां विख्यात थीं और मुझ भाग्यहीना पर तो उन्होंने दया का दरिया ही बहा दिया था। कभी-कभी तो वह भेड़ की भांति सीधे और आज्ञाकारी बन जाते थे, पर जब वह अपनी हठ पर उतरते थे तब ब्रह्मा भी उन्हें टस से मस नहीं कर सकता था। हमारे ऐसे ही अद्भुत थे महाराजाधिराज, हमारे अन्नदाता, जिनके साथ मैंने अपने जीवन के इक्कीस वर्ष व्यतीत किए। पूरे इक्कीस वर्ष !

पूरे इक्कीस वर्ष

ब्याह के बाद कुंवरी अठारह बरस जीवित रहीं। भीतरी महल के ाल दो कमरे वे अपने काम में लाती थीं। जब तक भूरसिंह जीवित , बाहरी आदमियों में वे ही उनके पास आते-जाते रहे। परन्तु उनकी यु तो शीघ्र हो ही गई थी। उनके बाद केवल एक दासी कुंवरी की ा में रहती थी। वही उनकी सब आवश्यकताएं पूरी करती थीं। वश्यकताएं अपनी उन्होंने बहुत कम कर ली थीं। वह एक सादा, ना किनारी की सफेद सूती धोती पहनतीं। और स्वयं रांधकर एक मय हविष्यान्न खाती थीं। बाहर का कोई व्यक्ति, न तो स्त्री, न ुष उनसे मिल ही सकता था न बातचीत ही कर सकता था। व्रत- [illegible], दान-धर्म वे मुक्त हाथों से करतीं। महाराजा-

पर उन्होंने अब रियासत को त्याग दिया है। वे वृन्दावन में वास कर रही हैं। रियासत में कभी-कदाच एकाध दिन रह जाती हैं।

दाता की मृत्यु होने पर सुना कि कुंवरानी ने कई दिन अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। बहुत रोई। रोई तो मैं भी, पर मेरे उस रोने की भला क्या गिनती ! मां दाता की मृत्यु के एक बरस बाद यहां आई थी, उसने भी तब कुंवरी से मिलने की बहुत चेष्टा की थी पर कुंवरी ने स्वीकार नहीं किया।

मां ने चाहा था कि वह अब यहां मेरे पास रहे—महाराजाधिराज भी सहमत थे—पर मुझे यह ठीक नहीं प्रतीत हुआ। समझा-बुझाकर मैंने उसे ठिकाने पर ही भेज दिया। जाती बार वह छाती फाड़कर रोई; मुझ अभागिनी को छाती से लगाकर। पर मैंने पत्थर का कलेजा करके उसे विदा कर दिया। फिर तो मां के मुझे दर्शन हुए ही नहीं। पर जब तक वह जीवित रही, किसुन पचास रुपया माहवार उसे भेजता रहा।

केसर अब बहुत कम मेरे पास आती। उसपर बच्चों का भार था। जैसे वही उन बच्चों की मां थी। अब मेरे सुख-दुःख की एकमात्र सलाहकार तो वही थी, पर मैं बहुत कम अब उससे मिल पाती थी। अपने-आप ही अपने जीवन को धकेलने की अब मैं अभ्यस्त हो गई थी।

ड्योढ़ियों का नारकीय जीवन

जैसा कि मैं बता चुकी हूं, दीवान साहब का बड़ा लम्बा-चौड़ा और खूब संस्कृतमय कठिन-सा नाम था। नाम के पीछे अय्यर की उपाधि थी। रियासत में सब लोग उन्हें दादा साहब कहते थे। यों कहना चाहिए कि महाराजा के बाद सबसे अधिक रियासत में उन्हींकी तूती बोलती थी। पर उनका वह सारा दौर-दौरा रियासत में ही था, रंगमहल में नहीं। रंगमहल की ड्योढ़ियों के भीतर जिस आदमी का अदल सर्वोपरि

था—वह था लाल जी खवास। पढ़ा-लिखा छुच्छुम किन्तु बड़े-बड़े राज्याधिकारियों के कान काटता था। महाराज पर उसका अबाध अधिकार था। रंगमहल में स्याह-सफेद करने का उसे पूरा अधिकार था। उम्र उसकी चालीस को पार कर गई थी। उसका सुडौल शरीर लोहे के समान मजबूत था। सिर के बाल और दाढ़ी-मूंछ वह सफाचट रखता था। सिर पर सफेद पाग और अंग पर सफेद अंगा। कमर में धोती और पैर में चमरौधे का देशी जूता। जीवन-भर उसकी यही धज रही। रंगमहल में भीतर-बाहर आने-जाने की उसे कहीं रोक-टोक नहीं थी। रानियों से लेकर अदना बांदियां तक उसके कृपा-कटाक्ष की मुहताज रहती थीं। कोई भी काम हो, कठिन या आसान, उसे वह व्यक्ति चुटकियों में पूरा कर डालता था, बशर्ते कि उसकी मुट्ठी अच्छी तरह गर्म कर दी जाए। उसमें बहुत गुण थे, बहुत शक्ति थी। रियासत में केवल यही एक ऐसा आदमी था, जिसपर न रेजीडेण्ट साहब बहादुर का बस चलता था, न दीवान साहब का अदल। जनाब रेजीडेण्ट साहब बहादुर उसे देखते ही टोपी उतारकर 'गुडमार्निंग लाल साहब' कहते थे और अय्यर साहब सबसे पहले उसीका मिजाज हंसकर पूछते थे। लाल जी सबसे हाथ जोड़ नम्रता से बात करता, दीवान साहब और रेजीडेण्ट को हुजूर कहता, महाराज को अन्नदाता, शेष सबका नाम लेकर पुकारता था। मुझे वह चम्पाबाई कहता था, रानियों को उनका नाम लेकर रानी जी कहता था।
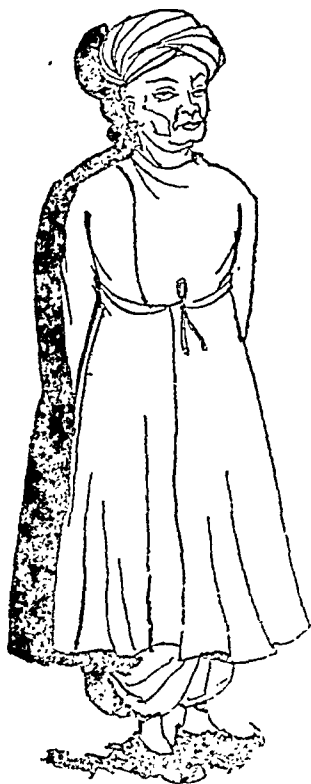
अन्नदाता का वह हाथ-पैर था। उसके बिना अन्नदाता का काम न

नहीं चलता था। बड़े से बड़े कठिन और असाध्य काम वह कर डालता था। वह कभी धैर्यच्युत नहीं होता था। कभी साहस नहीं खोता था। जनाव रेजीडेण्ट साहव वहादुर का पारा जब गर्म होता था और महाराज भी जब उनके पास जाने का साहस नहीं कर सकते थे, अथवा दीवान साहव जब किसी बात पर अड़ जाते थे और महाराजाधिराज और उनके बीच कोई उलझन आ अटकती थी, तब लाल जी खवास का ही यह दम-खम था कि वह उस मुश्किल को आसान करे।

उत्सवों और जलसों का, नाच-मुजरों का, शिकार का, दावतों का सारा प्रवन्ध लाल जी ही करता। इसीसे नाच-मुजरे वाले रण्डी-भड़ुए,कला-वन्त और दूसरे सब गर्जू लोग पहले उसीके तलुए सहलाते थे। जब उसकी मुट्ठी गर्म हो जाती थी, तभी उनकी महाराज तक रसाई होती थी।

जब लाट साहव का दरवार होता या दशहरे का दरवार जुड़ता, या महाराज की वर्षगांठ होती तव लाल जी महाराज के पार्श्व भाग में गम्भीर मुद्रा में खड़ा होता। नजरें गुजारी जातीं और नजर में आये रुपयों और अशर्फियों को लाल जी सहेजता जाता। कौन उनकी गिनती करता था,कौन हिसाव-किताव रखता था,कौन देख-भाल करता था? लाल जी ही उनका सर्वेसर्वा था। वह जितना चाहता, अपनी जेव में रखता और जितना चाहता खजाने में जमा करता। वहुधा तो ऐसा होता था कि उसके कृपापात्र उसीसे रुपये-अशर्फियां मांगकर महाराज को नजर देते। यह नजर-भेंट भी वड़ी मजेदार चीज थी। महाराज सिर्फ अपने सेवकों की ही नजर कवूल करते थे शेष जनों की नजर छूकर वापस कर देते थे। लाल जी ही यह निर्णय करता था कि कौन कितनी नजर भेंट करे। लोगों के आने का अनुक्रम भी वही वनाता था।

महलों में कितनी रानियां, वांदियां, पड़दायतें और गोलियां थीं, उन सभीकी गुप्त-प्रकट, अच्छी-वुरी इच्छाएं और आवश्यकताएं लाल जी के ही द्वारा पूर्ण होती थीं। केवल उसकी मुट्ठी गर्म होनी चाहिए। अपनी सेवाओं की फीस लाल जी रुपयों में नहीं, अशर्फियों में ही लेता था।

रंगमहल का एक भाग ड्योढ़ी कहलाता था। यह महल के भीतर ही

रंगमहल का एक पृथक् हिस्सा था। रंगमहल के इस भाग को ऊंची दीवार बनाकर पृथक् कर दिया गया था। वह ड्योढ़ी एक रहस्यपूर्ण स्थली थी। इसके भीतर लाल जी ही का अबाध अधिकार था। मर्द के नाम से केवल लाल जी खवास ही भीतर जा सकता था, दूसरा कोई नहीं। ड्योढ़ियों में तीन सौ से अधिक स्त्रियां थीं। वहां की सभी बातें गुप्त रखी जाती थीं। राज्य की सातों जात की औरतें वहां थीं। रियासत की जिस किसी सुन्दर स्त्री पर महाराज की नजर पड़ जाए, वह ड्योढ़ियों में किसी न किसी भांति आ ही जाती थी। भले ही वह कुंवारी हो या विवाहिता, सधवा हो या विधवा। ब्राह्मण, ओसवाल, जैन और वैश्य लोग, जो अपने को ऊंची जाति का कहते थे, उनमें अभी तक बाल विवाह का रिवाज है।

उन दिनों तो बाल-विवाह का ही राजस्थान में बोलबाला था। ये ऊंची जाति के लोग छोटी उम्र में लड़कियों का ब्याह तो कर देते थे, पर जब वे बाल विधवा हो जाती थीं तब उनका फिर ब्याह नहीं हो सकता था। वे जीवन-भर रांड बनी बैठी रहती थीं। बहुधा वे अपढ़ होती थीं। राजस्थान में जब पुरुष ही १० प्रतिशत साक्षर नहीं, तब स्त्रियों की क्या बात। स्त्रियां तो २ प्रतिशत भी साक्षरा नहीं थीं। अतः ये बाल विधवाएं बहुधा चरित्र-भ्रष्टा हो जाती थीं। कुछ तो इस कारण, और कुछ चरित्र-भ्रष्टा होने के भय से ही विधवाओं का घर में रहना संकट और कठिनाई की बात समझी जाती थी। विधवाएं न किसी विवाह-समारोह में भाग ले सकती थीं, न सुहागिनों के साथ हंस-बोल सकती थीं। न अच्छा खा-पहन सकती थीं। वे तो सदा विषाद की मूर्ति बनी घर में बैठी रहती थीं। स्वाभाविक था कि अपनी भाभियों और ननदों को हंसते-बोलते और सज-धजकर रहते देख वे कुढ़तीं, कलह करतीं और रोतीं। इस प्रकार जिस घर में एकाग्र विधवा रहती, वह घर कलह, शोक और अशान्ति का अड्डा बन जाता था। फिर संयुक्त परिवार-प्रथा! कहीं-कहीं तो तीन-चार या इससे भी अधिक विधवाएं एक ही घर में आ जुटती थीं। उनका जीवन में, गृहस्थी में, समाज में कोई उपयोग न था। वे सामाजिक जीवन की एक उलझन और मुसीबत बनी रहती थीं। इसीसे लाल जी ने ड्योढ़ियों

की रचना करके अपनी रियासत की सब बड़ी जात वालों के लिए एक राहत की राह निकाली थी। जिसका जी चाहे वह लाल जी से दर्खास्त कर सकता था कि वह अपनी विधवा बहू या बेटी को ड्योढ़ियों में भेजना चाहता है। लाल जी आकर लड़की को देखता था। यदि वह सुन्दर और जवान हुई तो फिर सौदा पटता था। एक अच्छी रकम लाल जी की जेब में जाती थी और तब ड्योढ़ियों से रथ आता था, जिसपर बैठकर वह अभागिनी स्त्री सदा के लिए उस घर से विदा हो जाती थी, क्योंकि ड्योढ़ियों के भीतर कदम रखने के बाद कोई जीवित स्त्री बाहर नहीं आ सकती थी। ऐसा ही लाल जी का अबाध शासन था। ड्योढ़ियों में इन स्त्रियों को नाचने-गाने की शिक्षा दी जाती थी। अदब-कायदे सिखाये जाते थे और अवसर आने पर उन्हें महाराजाधिराज की अंकशायिनी बनाया जाता था। किसी-किसीको केवल एक बार ही जीवन में यह सौभाग्य मिलता था।

महाराजाधिराज जब अपने निजू शयन-कक्ष में सोते थे, तब ड्योढ़ियों की इन अन्तःवासिनियों को बारी-बारी से महाराज की चरण-सेवा में भेजा जाता था। ये अभागिनी औरतें लाल जी को अपनी बारी के लिए रिश्वतें देती थीं। कभी-कभी तो एक रात की बारी के लिए उन्हें अपना सर्वस्व यहां तक कि अपना एकाध गहना भी दे डालना पड़ता था, जिसे लाल जी निर्विकार स्वीकार कर लेता था और उस अभागिनी का नाम उस रात की अंकशायिनी स्त्रियों में आ जाता था। इन स्त्रियों को राजा के शयनागार में बहुधा अति कुत्सित वातावरण का सामना करना पड़ता था। राजा शराब में बदहवास होकर बहुधा बेहोश पड़े रहते, या कै करते रहते, या गाली-गुफ्ता बकते, या मारपीट करते थे। खुश होने पर रुपये, अशर्फी-जेवर बरसाते थे, जो कभी न कभी लाल जी की जेब में पहुंच ही जाते थे।

ड्योढ़ियों में इन स्त्रियों की दशा कैदियों के समान होती थी। उन्हें रूखा-सूखा खाना मिलता, साल में केवल दो जोड़ा वस्त्र मिलता। महाराज के पास जाने के समय जो पोशाक और गहने दिए जाते थे, वे सब उधार होते थे। वापस आने पर वे तुरन्त उतार लिए जाते थे, जो दूसरे

दिन दूसरी औरतों के काम आते थे। ऐसा ही नारकीय जीवन ड्यौढ़ियों का था। बहुधा औरतें अफीम या अन्य विष खाकर मरती रहती थीं। ऐसी अपमृत्यु की घटनाएं तो यहां साधारण ही समझी जाती थीं। इस प्रकार मरने वालियों को चुपचाप ठिकाने लगाने की विद्या में लाल जी और उसके इसी काम के लिए नियुक्त दूत बहुत दक्ष थे।

केवल यही बात न थी कि ऐसी स्त्रियां ही ड्यौढ़ियों में आती हों। महाराज की नजर किसी बड़े घर की बहू-बेटी पर पड़ गई तो महाराज के संकेत से और लाल जी की नजर पड़ गई तो बढ़िया माल महाराज को भेंट करने की नीयत से लाल जी गुप्त रूप में उस लड़की को उड़ा लाता था, जिसपर थोड़ा वावेला मचकर रह जाता था, क्योंकि वह स्त्री कहां गई, इसका पता लगाना असम्भव होता था। न पुलिस, न राज्य का कोई विभाग इस मामले में दिलचस्पी दिखाता था, क्योंकि सभी जानते थे कि यह घटना ड्यौढ़ियों से सम्बन्धित है। ऐसे उपहार को पाकर महाराज प्रसन्न होकर लाल जी को इनाम-इकराम देते थे। यही कारण था कि लाल जी महाराज की नाक का बाल बना हुआ था। मैं तो आगे बताऊंगी कि कैसे मुझे भी ड्यौढ़ी का पुनीत प्रसाद मिला और मेरी हत्या के असफल षड्यंत्र में लाल जी को जेल हुई। पीछे, महाराज की मृत्यु के बाद लाल जी की सब जोत खत्म हो गई। ड्यौढ़ियां खोल दी गईं, औरतें बाहर कर दी गई और लाल जी के घर से दो करोड़ रुपयों की मुहर, अशर्फी और जवाहरात बरामद हुए, उसपर दर्जनों मुकदमे दायर किए गये, पर उसकी पूरी सजाएं भोगने के पहले ही लाल जी यमलोक को प्रस्थान कर गया।

रनवास

महाराजाधिराज का रनवास खूब गुलजार था। उसमें उस समय ढाई-तीन सौ स्त्रियां थीं। महाराज की तीन व्याहता महारानि

थीं। बड़ी महारानी सब तरह बड़ी थीं। वह एक बड़े राजा की बेटी थीं। उनकी उम्र हमारे महाराज से तीस बरस अधिक थी। जिस राजघराने की वह बेटी थीं, उस घराने की बेटियां इसी राजघराने में आती रही हैं। जब महारानी की उम्र व्याह की थी और पूरी जवान थीं, तब हमारे महाराज का जन्म हुआ था। उनके बढ़ने और जवान होने के इन्तजार में वह कुंवारी बैठी रहीं। दूसरा कोई राजघराना ऐसा था ही नहीं, जिसमें उनका ब्याह होता। अतः जब हमारे महाराज की उम्र बीस बरस की हुई, तब उनका ब्याह इन महारानी जी से हुआ। ब्याह के समय महारानी जी की उम्र पचास साल पूरी हो चुकी थी। आप मेरी बात पर हंस सकते हैं या आश्चर्य से दांतों तले उंगली दबा सकते हैं पर मैं जो बात कह रही हूं, वह बिलकुल सच है। महाराज और महारानी के व्याह को अब बीस बरस बीत गए थे। महारानी अब पूरे ७० साल की थीं, पर वह बड़े डीलडौल की, हट्टी-कट्टी और खूब मजबूत और तन्दुरुस्त थीं। हमारे महाराज को वह अब भी अपनी बगल में दाबकर उठा सकती थीं। रंग-महल का सबसे भीतरी जनाना महल उनके तहत में था। सुना था, उनके पास लाखों के हीरे-मोती-जवाहरात और नकदी थी, जिसपर वह महा-राज को दांत नहीं गड़ाने देती थीं। पर साथ ही यह भी सुना था कि आड़े वक्त पर उन्होंने रियायत की अनेक बार बहुमूल्य मदद की थी। आखिर बड़े राजा की बेटी थीं। वह महाराजाधिराज की नाममात्र की धर्मपत्नी थीं। शरीर-सम्बन्ध उनका कदाचित् महाराज से हुआ ही नहीं। महाराज उनसे डरते भी बहुत थे। महाराज ही क्यों? महाराज की माता, दीवान साहब और जनाब रेजीडेण्ट बहादुर भी उनसे डरते थे। वह जब भी चाहतीं, उन्हें बुलाकर उनसे जवाब तलब करती थीं। जवाहरात पहनने का उन्हें बड़ा शौक था। वह सिर से पैर तक हीरे-मोती के गहने लादकर ठाट से बाहर निकलती थीं। बाल उनके सन के समान सफेद हो गए थे। पर चेहरे पर वही तेज था। आंखें खूब बड़ी और पलकें भारी थीं। रंग गोरा था। कभी वह निश्चय ही बड़ी सुन्दर रही होंगी।

महाराज की मातुश्री भी अभी जीवित ही थीं। वह मां जी साहब के नाम से रंगमहल में विख्यात थीं। परन्तु महारानी जी से मां जी भी डरती

थीं। महारानी साल में एक बार मां जी साहब के चरणों में ढोक देने उनके महल में जाती थीं। तब मां जी साहब खड़ी होकर उन्हें ताजीम देती थीं और मसनद पर दाहिनी ओर बैठाती थीं। एक भारी जोड़ा और बहुत-से जवाहरात सिरोपा में देती थीं। अशर्फियां लुटाती थीं। यह सम्मान किसी दूसरी रानी को प्राप्त नहीं था।

मां जी साहब कहने को ही मां जी थीं। उम्र उनकी महारानी से बहुत कम थी। यहां तक कि वह उम्र में महाराज से भी छोटी थीं। महाराज अब चालीस को पार कर रहे थे। पर मां जी साहिबा अभी तीस की ही ड्योढ़ी पर झांक रही थीं। बात यह थी कि स्वर्गीय बड़े महाराज ने, बुढ़ापे में, बहत्तर वर्ष की आयु में उनसे ब्याह किया था। वह राज्य के एक ठिकानेदार की बेटी थीं, जैसी कुंवरी थीं। उनकी रूप-माधुरी पर मोहित होकर बड़े महाराज ने उनके पिता से नारियल भेजने का अनुरोध किया था। ब्याह के बाद दूसरे साल ही उनका स्वर्गवास हो गया था। मां जी साहिबा की उम्र उस समय केवल तेरह बरस की थी। वह दूध के समान निष्पाप थीं, केवल फेरों की गुनहगार। किन्तु सच्चे अर्थों में कुमारी। इसमें आश्चर्य की और अनहोनी बात क्या थी? राजस्थान में तो ऐसी दुधमुही विधवाओं की उन दिनों घर-घर भरमार थी। इस समय जबकि महाराजाधिराज के माथे पर भी चांदी के तार उग आए थे, और महारानी साहिबा हिमालय की चोटी के समान धवल केश धारण कर रही थीं, मां जी के यौवन पर दुपहरी छा रही थी। वह व्रतपूजा, उपवास करतीं और न जाने क्या-क्या वैधव्य के धर्म निबाहती थीं। मैं कलमुंही अपने रूप पर घमण्ड करती थी, पर जब मैंने मां जी साहिबा के दर्शन किए तब मेरा सारा गर्व धरा रह गया। वह चांदी के समान शुभ्र मस्तक, वह भ्रू-भंग, मदभरी चितवन, वे प्रेमामन्त्रण-सा देते हुए उत्फुल्ल ओष्ठ, वक्ष का वह उभार, वह गरिमा-भरी हथिनी की-सी चाल भला मैं कहां से लाऊं! परन्तु विधि-विडम्बना कहिए या राज-जीवन की विशेषता कहिए, वह विधवा हैं, मां साहिबा हैं। महारानी तो उनकी दादी-सी लगती हैं। और वह महारानी सत्तर वर्ष के शरीर को नख-शिख तक हीरे-मोतियों से पोर-पोर में आभूषण धारण करके, यहां तक कि पैरों में भी

के पायजेव पहनकर निराभरण-वैधव्य वेशधारिणी किन्तु यौवन से देदीप्यमान मां साहिबा के समक्ष जा तनिक झुककर 'ढोक मां जी साहेव' कहती थीं, तव कैसा अद्‌भुत लगता था। भला सोचिए तो विधाता के इस मसखरेपन को ! वह राजा-महाराजाओं, रानी-महारानियों तक के भाग्य से मसखरी किए विना नहीं रह सकता।

महारानी साहिवा पर्दे की इस समय भी वहुत पावन्द थीं। वन्द जनानी गाड़ी से जव वह वाहर निकलती थीं, तव सड़क पर आवागमन का निरोध हो जाता था। लोग जहां के तहां थम जाते थे। जव वह रंग-महल से वाहर निकलती थीं, तव प्रत्येक छोटा-वड़ा पुरुप-कर्मचारी दीवार की ओर मुंह करके खड़ा हो जाता था। यदि किसी ठौर-ठिकाने वह जाती थीं तो वड़ा प्रवन्ध करना पड़ता था। ठिकाने के सव दास-दासी नौकरों को घर से निकाल दिया जाता था। महारानी की खास सेविकाएं उस ठिकानेदार रईस के घर पर कोने-कोने में दखल जमा लेती थीं। वाहर महारानी के ही आदमियों का पहरा पड़ जाता था, तव महारानी उस घर में प्रविप्ट होती थीं। प्रविष्ट होने पर घर की ड्योढ़ी में ताला डाल दिया जाता था। क्या मजाल कोई पंछी भी वहां पर मार सके।

आजकल की वहनों को यह सव सुनकर हंसी आ रही होगी। क्यों न आए भला ! वे ठहरी ऊंची एड़ी की सैण्डल पहनकर खटाखट करती हुई सिनेमा वाली वीसवीं शताब्दी की कलचर्ड पढ़ी-लिखी महिलाएं। पुराने जमाने की रानियों के रहन-सहन को उन्होंने देखा नहीं। पर अभी तो और भी सुनिए।

दूसरी रानी भटानी रानी के नाम से रंगमहल में प्रसिद्ध थीं। वह भी एक राजा की वेटी थीं। इनके पिता थे तो छोटे-से राजा, पर वड़े भारी विद्वान और नये ढंग के थे। अधिकांश समय विलायत में रहते थे। दैव-दुर्विपाक से इन रानी को गंगरीन की वीमारी थी। यह भी एक प्रकार का गलित कुष्ठ है। कुष्ठ के साथ तपेदिक का मिश्रण भी कहिए। दाहिने पैर की दो उंगलियां कतई गल गई थीं। वह जख्म अव भी नहीं भरा था। सैनीटोरियम में वर्षों से पड़ी थीं। लौटकर जीवित महल में आने की कोई आशा भी नहीं थी, क्योंकि दिन-प्रतिदिन उनके अंग गलते ही जा रहे थे।

सुना था, सूखकर कांटा हो गई थीं। पर अभी चित्रगुप्त का खाता पूरा नहीं हुआ था। पूर्व जन्म के जिस पुण्य-प्रताप से वह महारानी बनी थीं, उसका भोग अभी शेप था। सो वह इस प्रकार उसे भोग रही थीं। गत दो वर्षों से तो महाराज ने उन्हें देखा ही नहीं था। विवाह उनका बड़ी धूम-धाम से हुआ था। सात लाख का टीका उनके पिता ने दिया था। अब भी प्रतिवर्ष लाख-पचास हजार की भेंट-भलाई महाराज को उनके पिता भेजते ही रहते थे।

तीसरी रानी कुंवरी की ही भांति एक ठिकानेदार ठाकुर की बेटी थीं। ठिकाना छोटा था, रानी जी जरा वजनी थीं, केवल तीन मन दस सेर। ठिगनी भी बहुत थीं। पढ़ी-लिखी थीं। उपन्यास पढ़ने का शौक था। खूब गोरी-चिट्टी थीं, मगर मिजाज की तीखी। आराम से पलंग पर पड़ी रहती थीं। महाराज से उनकी बनती नहीं थी। सौतों को वह फूटी आंख नहीं देख सकती थीं। महाराज को घोलकर पी जाना चाहती थीं। महा-राजाधिराज उनसे घृणा करते थे, दूर भागते थे। उनके महल में महीनों-बरसों भी नहीं फटकते थे। जब भी पधारते थे, कोई न कोई हंगामा उठ खड़ा होता था। बहुधा मारपीट भी हो जाती थी।

रानियों के अतिरिक्त चार पड़दायतें भी थीं। उनमें दो वेश्याएं थीं, एक मुसलमान, दूसरी बेड़िन। दोनों को महाराज ने पैर में सोना दिया था। दोनों सुन्दर और गाने-बजाने में प्रवीण थीं। दूसरी दोनों मेरी ही भांति गोलियां थीं। उन्हें हाल ही में पर्दे में डाला गया था। एक कुछ पढ़ी-लिखी थी। दूसरी एकदम पढ़-पत्थर। साधारण सुंदरी थी। एक दूसरी रानी के साथ दहेज में आई थी। दूसरी इसी ठिकाने की थी। कभी ये दोनों महाराज के बहुत मुंह लगी थीं, अब उनकी उतरती बहार थी।

और बांदी-गुलाम बहुत थे। बहुत-सी कंचनियां, बेड़नियां आदि आती-जाती ही रहती थीं। कहां तक उनकी गिनती की जाए। गरज महाराजा-धिराज का रनवास खासा गुलजार था। जैसा कि मैंने ... -नाया,
उसमें रानी, बांदी, खवास, गोली, गुलाम, सब मि[illegible]
स्त्रियां थीं, जिनमें से बहुतों को महाराजाधिराज

दरबार ने याद फर्माया

दाता के लौट जाने के बाद ८ दिन मेरे यों ही सन्नाटे में बीत गए। हम लोग—मैं और केसर—पिंजरे में बन्द पंछी की भांति अपने महल में पड़े छटपटाते रहे। न हममें से कोई अपने महल से बाहर जा सकता था, न कोई समाचार ही रंगमहल का हमें मिलता था। मैं ऊब रही थी और दिन पहाड़ के समान कटता था। केसर धैर्य बंधाती थी। पर मन कुछ अजीब उड़ा-उड़ा-सा हो रहा था। ड्योढ़ी पर पहरा था। चार गोरखे खुखरी लिए दिन-रात घूमते रहते थे। मैं कुंवरी के लिए अधमरी हो रही थी। न जाने उनपर कैसी बीत रही होगी। केवल किसुन को बाहर जाने की अनुमति थी। पर कुंवरी के हाल-चाल तो वह भी नहीं बता सकता था। उसका कहना था, उन्होंने रंगमहल लगभग सारा ही खाली कर दिया है, केवल दो कमरे अपने कब्जे में रखे हैं। भूरसिंह उनकी ड्योढ़ी पर हाजिर रहते हैं। दरबार एक बार रंगमहल में उनकी अनुमति से गए थे। नई रानी ने खड़े होकर केवल उनको ताजीम दी और जब महाराज ने उनसे पूछा कि किसी बात की तकलीफ तो नहीं, किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं, तब उन्होंने केवल 'नहीं' कहकर मौन धारण कर लिया बातचीत दरबार से हुई ही नहीं। वह खीझकर चले आए।

इधर चार दिन से तो किसुन का भी पता न था। वह एक प्रकार से मेरी ही चाकरी में था। पर न जाने क्यों, बिना मेरी अनुमति या पूर्व सूचना के एकाएक लुप्त हो गया था। उसके न आने से तो हम जैसे अन्ध-कूप में गिर गए थे। भांति-भांति के विचार मन में आते थे। पर कुछ अक्ल काम न करती थी। यों खाने-पीने और दूसरी किसी वस्तु की हमें कोई तकलीफ न थी। दारोगा दोनों वक्त सलाम करता और आवश्यकता की बात पूछता, पर और कोई बात न बताता था। मैं कभी-कभी रोने लगती तो केसर ढाढ़स बंधाती थी। पर मेरा मन उड़ा-उड़ा रहता था। मैं सोचती थी, क्या इसी भांति यह उम्र-भर की कैद काटनी होगी?

दसवें दिन तीसरे पहर किसुन आया। वह बहुत व्यस्त था। उसने कहा, "दरबार की खिजमत में चलना होगा। उन्होंने सरकार को याद

फर्माया है।" उसने दासियों-बांदियों को आवश्यक आज्ञाएं दीं। केसर से उसने अधिकारपूर्ण रीति से कहा, "सरकार को सिंगार करा कर तैयार करा दिया जाए।"

मेरा शृंगार होने लगा। कैसे तमाशे की बात थी। मन तो मेरा मिट्टी हो रहा था। मुझे गढ़ी की मुलाकात भी याद आ रही थी और उस दिन सुहागरात की मुलाकात भी। मैं सोच रही थी, अब यह आज की मुलाकात न जाने कैसी होगी। फिर मर्जी का तो कोई सवाल ही न था। मैं इनकार करने का अधिकार ही न रखती थी। पर सच बात तो यह थी कि मैं अब राजा से घृणा करती थी, उनके पास जाना नहीं चाहती थी। रह-रहकर मुझे उनकी उस दिन की घिनौनी मूर्ति याद आ रही थी। इसके अतिरिक्त कुंवरी की याद आते ही मेरा रक्त ठण्डा हो जाता था। कैसा शृंगार, कैसा चाव, कैसा उत्साह !

मैंने केसर से कहा, "केसर, तू कह दे कि मेरी तबियत ठीक नहीं है। मैं दरबार की खिजमत में जाने योग्य नहीं हूं, मैं नहीं जाऊंगी।" परन्तु केसर ने कहा, "यह ठीक न होगा।" उसने बहुत ऊंच-नीच समझाकर मुझे अपनी स्थिति का भान कराया। फिर भी मैंने किसुन से कहा, "किसुन, क्या मुझे वहां जाना ही होगा ?"

उसने हंसकर कहा, "हां, सरकार ! आप चिन्ता न करें। मैं तो आपकी खिजमत में हाजिर हूं ही, आप झटपट तैयार हो जाएं।"

मैंने कहा, "यदि आज न जाऊं तो ?"

"यह कैसे हो सकता है भला। इतने दिन में आज ही अन्नदाता का चित्त ठीक हुआ है। वह नई रानी के महल में पधारे थे। कदाचित् आपसे कोई बात कहनी हो। उन्होंने मुझे हुक्म दिया है। उनका हुक्म बजा लाना ही मुनासिब है सरकार ! इसीमें सरकार की भलाई है।"

मैंने फिर ननुनच नहीं की। केसर ने दासियों की सहायता से मेरा विविध शृंगार किया। किसुन ने भी काफी सहायता की। किसुन मर्द था, पर अपनी चाकरी में था। उससे पर्दा होता ही न था। फिर वह मुझे प्रिय लगता था। वह बड़ा बुद्धिमान भी था। कदाचित् मुझे प्यार भी क लगा था। और मैं तो पहले ही स्वीकार कर चुकी हूं कि मैं उससे प्

करती थी। पर मुझे क्या मालूम था कि आगे उसके साथ मेरे कुछ और ही सम्बन्ध होने वाले हैं। मैं उसपर निर्भर थी, उसपर निर्भर रहना ही मैंने निरापद समझा। शृंगार-पटार से लैस होकर मैं चली सुखपाल पर बैठकर। केसर इस बार मेरे साथ नहीं थी। किसुन ने उसे रोक दिया था। अकेला वही मेरे साथ था। इस समय सांझ का झुटपुटा हो चला था। दिए जल चुके थे और मुझे गढ़ी की वह संध्या याद आ रही थी।

चाबुक की मार

आजकल दरबार अपनी नई कोठी में विराज रहे थे। यह कोठी पिछले ही साल बनी थी। एकदम नये ढंग की। काफी लागत लगी थी। सुना था कि इस कोठी को लेकर दीवान साहब और महाराज में चखचख भी काफी हुई थी। बात रेजीडेण्ट साहब बहादुर तक गई थी। परन्तु उसकी लागत की काफी रकम हुजूर मां साहब ने अपने पानदान के खर्च से लगाई थी, इसलिए बात वहीं रह गई थी। सर्वसाधारण का तो वहां जाना ही निषिद्ध था। यह कोठी रंगमहल से सटी हुई एक किनारे पर थी। सुघराई से कटी हुई रौंसें, उछलते हुए फव्वारे, सामने गुलाब बाग, जिसमें कटोरे के बराबर गुलाब के लाल और सफेद फूल खिले थे। एक प्रशस्त लान, जहां की घास सफाई से कटी थी।

सुखपाल से उतरकर मैं बड़े-बड़े कमरे और दलान पार करती हु[illegible] किसुन के पीछे जा रही थी। मैं डरती-डरती पैर रखती थी, अचल दीवा[illegible] की ओर मुंह किए खड़े सन्तरियों की ओर घूरती चली जा रही थी। मे[illegible] चलने तक की आहट न होती थी। हम एक सजे हुए कमरे में पहुंचे। वह बहुमूल्य कालीन बिछे थे, जहां हाथ-भर पैर धंसते थे। बहुमूल्य सोफों [illegible] कमरा सजा था। एक मखमली कोच पर मुझे बैठाकर किसुन साटन क[illegible] पर्दा उठाकर भीतर चला गया। मैं दीवार पर लगे बड़े-बड़े चित्रों क[illegible]

देखने लगी। हृदय मेरा धड़क रहा था।

थोड़ी देर में किसुन आया और उसने संकेत ही से मुझे अपने पीछे आने को कहा। मैं फिर बड़े-बड़े दालान और कमरे पार करती अन्त में एक सजे हुए कमरे के द्वार पर पहुंची। पर्दा उठा और कमरे में भीतर जाने का संकेत कर किसुन बाहर ही ठिठक रहा। कमरे में किरमिची रंग हो रहा था। सब सोफा-कुर्सी चांदी के थे। उनपर मखमल चढ़ा था। मेजों पर संगमरमर की अनेक मूर्तियां रखी थीं। ऐसी सजीव थीं कि देखते ही बनता था। पहले तो मुझे कुछ ज्ञात ही न हुआ, फिर अचानक ही देखा कि स्वयं अन्नदाता एक सोफे पर बैठे हाथ में सिगार लिए धुआं फेंक रहे थे।

मैंने आगे बढ़कर और जमीन तक झुककर दरबार को मुजरा किया। हाथ का सिगार फेंक वह उठ खड़े हुए और मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपनी बगल में बैठा लिया। नर्मी से कहा, "अब तो नहीं गई चम्पा! देखो, मैंने तुम्हारे लिए यह कैसी नफीस चीज बनवाकर मंगाई है। अट्ठाईस हजार रुपये खर्च हुए, पर चीज बेहतरीन है। देखो तो जिस्म पर फिट भी है या नहीं।" उन्होंने पास पड़े एक बक्स की ओर संकेत किया। उनके होंठ हंस रहे थे और बड़ी-बड़ी आंखों में लाल डोरे उनकी उद्दीप्त वासना की साक्षी दे रहे थे। इस समय वह सिर से पैर तक अंग्रेजी लिबास में थे। निहायत कीमती काला सूट पहने थे। यद्यपि इस लिबास पर उनके कानों के बड़े-बड़े हीरे कुछ अद्भुत लग रहे थे, पर इस लिबास में फब खूब रहे थे। उन्होंने प्यार-भरी चितवन से मुझे देखा और एक सिगार जलाई। मैंने धीरे से उठकर बक्स खोला। एक अभूतपूर्व फर का कोट था; बर्फ के समान श्वेत और झाग के समान कोमल, हवा की भांति हल्का। मैंने महाराज की ओर देखा। उन्होंने धुएं के छल्ले बनाते हुए कहा, "पहनकर देखो।" मैं इस कदर डर गई थी कि उस अट्ठाईस हजार की लागत के कोट को देखकर छूने की भी हिम्मत नहीं कर सकती थी। मैं सकते की हालत में खड़ी थी और मेरे मुंह से बोली नहीं फूट रही थी। मैं जो पोशाक पहने थी, वह भी शायद मेरे अंग पर खूब जंच रही थी।

तभी दरबार बोले, "कोफ्त कर दिया तुम्हारी कुंवरी ने। बड़ा

मिजाज है उसका, ओफ !"

महाराज ने एक गहरा कश खींचकर धुएं के बादल बनाए। फिर जैसे अपने ही आपसे कहा, "हमपर अदल जमाना चाहती है वह। खैर, जब तुम हो तो क्या गम? पहनो-पहनो !"

उनका स्वर किसी हद तक कम्पित था। कुंवरी के लिए अवश्य ही वह इस समय कुछ वेदना का अनुभव कर रहे थे। उनकी नजर मेरे ऊपर थी। यह स्पष्ट था कि वह मेरे रूप से अभिभूत हो रहे थे।

मैंने उस महामूल्यवान दुर्लभ कोट को अपने अंग पर डाल दिया। उन्होंने स्वयं उठकर उसके बटन लगाए। फिर प्रशंसा की नजर से देखते हुए कहा, "खूब फिट है। कोई हिन्दुस्तानी कारीगर नहीं बना सकता।" मुझे फिर वह कौच पर खींच ले गए और पास ही बैठ गए। आज न वह दिन के गढ़ी वाले महामहिम महाराज थे, न उस सुहागरात वाले मदहोश शराबी। आज तो वह एक प्रसन्न मुद्रा में आनन्दित प्रेमी और मित्र की भांति बातें कर रहे थे। मेरा मन हो रहा था कि मैं कुंवरी के सम्बन्ध में कुछ पूछूं। पर मेरा मुंह खोलने का साहस ही न होता था। वह कह रहे थे—केवल उसी कोट की बात। उसमें बिजली की बैटरियां लगी थीं, जिनके कारण वह जैसा चाहें, कम और अधिक गर्म हो सकता था। उन्होंने कहा, "इसका मजा तो तब आएगा जब तुम स्विट्जरलैण्ड की बर्फ से लदी चोटियों वाले पहाड़ों के ऊपर घूमोगी। तब तुम्हारे सब साथियों के दांत सर्दी से किटकिटाते होंगे और तुम आरामदेह गर्मी में खुश सफर कर रही होगी। शायद अगले ही साल तुम्हें ऐसा मौका मिल जाए। तबीयत ऊब रही है। एक बार मैं यूरोप जाकर कुछ दिन स्विट्जरलैण्ड रहना चाहता हूं। चलोगी न तुम चम्पा? स्विट्जरलैण्ड स्वर्ग है, स्वर्ग देखोगी तो खुश हो जाओगी।" मैं कुछ समझ रही थी। कुछ नहीं। पर मेरा मुंह बन्द था, मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं एक अत्यन्त मूर्खा और तुच्छ स्त्री यहां के महिमामय वातावरण में आ पहुंची हूं। परन्तु महाराज प्रसन्न मुद्रा में थे, वह एकाएक धुएं के छल्ले बना रहे थे। सिगार उनका खत्म हो गया। उन्होंने दूसरे को हाथ बढ़ाया। मुझे अपनी गढ़ी वाली चाकरी याद आ गई। मैंने लपककर सिगार उनके होंठों से लगाया और जला दिया। वह

जरा उठंगकर अलस भाव से कौच पर लेट गए और उन्होंने अपने दोनों पैर फैला दिए।

इसी समय किसुन शराब की टेबुल ले आया। खालिस बिल्लौर की यह टेबुल थी, जिसमें रबर के पहिए लगे थे। उसपर कीमती शराब की बोतलें, प्यालियां, पैग और गिलास रखे थे। भुने हुए कबाब, गजक और न जाने क्या-क्या खाने का सामान भी सजा था। सब सामान बिजली की रोशनी में चमचमा रहा था। चम्मच, रकाबियां सब चांदी की थीं। उन्होंने खुद अपने हाथ से खून जैसी सुर्ख शराब के दो पैग भरे और तिरछी नजरों से मेरी ओर देखते हुए एक पैग मेरी ओर बढ़ाया। उस दिन की सुहाग रात का घिनौना दृश्य मेरी आंखों में घूम गया। शराब के प्रति मेरे

मन में घोर घृणा उत्पन्न हो गई। मैंने कातर कण्ठ से कहा, "नहीं पिऊंगी, अन्नदाता !"

"हमारा हुक्म है।"

"तकसीर माफ हो, अन्नदाता !"

"क्या हुक्म-उदूली करती है ?" उनकी आंखों का रंग बदल गया उन्होंने गुस्से से गुर्राकर कहा, "बेवकूफ औरत, पी !" उनकी आंखें सुर्ख हो गईं और त्योरियां चढ़ गईं। परन्तु मैंने फिर हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहा, "नहीं पीऊंगी अन्नदाता !"

उन्होंने लपककर खूंटी से चाबुक उठाया और सपासप मेरी खाल उधेड़ना शुरू किया। मेरे चीखने-चिल्लाने से कमरा गूंज उठा। समूचे कमरे में मैं तड़पती, दौड़ती फिरी और वह सपासप चाबुक फटकारते रहे। मैं विकल होकर फर्श पर लेट गई। मेरी चीख-चिल्लाहट सुनकर कोई भी मुझे बचाने नहीं आया। मैं रोते-रोते हाथ बांधकर "दया करो पृथ्वीनाथ ! दया करो अन्नदाता !" कहती रही। ओंठ मेरे नीले पड़ गए और मैं बेहोश हो गई।

पर उस निर्दयी ने मुझपर तनिक भी दया न की। ज्यों ही मुझे होश आया और मैं उठी, त्यों ही उन्होंने प्याला हाथ में लेकर कहा, "पी !"

मैं गटागट पी गई। उन्होंने प्याला मेरे हाथ से ले लिया और मुझे सहारा देकर कौच पर बैठाया और कहा, "चम्पा ! आइन्दा कभी हुक्म उदूली की जुर्रत न करना। ओफ, कोट बिलकुल बर्बाद हो गया। जाओ कपड़े बदल लो।" उन्होंने दस्तक दी। एक बांदी दस्तबस्ता आ हाजिर हुई। उसे उन्होंने कुछ इशारा किया और मैं उसके संकेत पर उसके पीछे पीछे चली गई। बाथ-रूम में जाकर मैंने पोशाक बदली। बांदी ने मुझे एक कीमती साड़ी दी और मेरा जूड़ा ठीक किया। मुंह धोकर मैंने ठण्डे पानी का एक गिलास पिया, जिससे मेरा कण्ठ तर हुआ और जी जरा ठहरा। फिर मैं उसी बांदी के साथ चली—उसी निष्ठुर और अद्भुत व्यक्ति के पास जिसकी दया, माया, कृपा और क्रोध का न कहीं अन्त था न हिसाब-किताब।

इस बार दासी मुझे सीधी भोजन के कमरे में ले आई। अब उस कमरे का, भोजन-सामग्री का, वहां की साज-सज्जा का बखान करके आपका समय नष्ट नहीं करूंगी। इतना ही समझ लीजिये कि वह उस राजा का डाइनिंग रूम था, जिसने अट्ठाईस हजार के मूल्य का कोट पहना-

कर चाबुक से मेरी खाल उधेड़ी थी। वह चुपचाप डिनर ले रहे थे। उनके खास खिदमतगार अदव-कायदे से खाना परस रहे थे। वोलने-कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उनका वह फ्रांसीसी वावर्ची वहां हाजिर था और सब देख-भाल कर रहा था। जिस चीज की आवश्यकता होती थी, वही लाने का संकेत वह करता था, जिसे खिदमतगार तुरन्त ला हाजिर करते थे।

उसने मुझे वड़े अदव से महाराज की वगल में कुर्सी पर ला वैठाया और मेरे सामने भी वे देशी-विलायती विविध व्यंजन परोसे गए, जिनके न कभी स्वप्न में मैंने नाम सुने थे, न दर्शन किये थे। वही खून के समान सुर्ख मदिरा रह-रहकर मेरे गिलास में भरी जाने लगी। महाराज ने धीमे स्वर में केवल इतना ही कहा, "जो पसन्द हो खाओ।"

और मैं, जो मेरे सामने आया, खाती गई और मदिरा के गिलास पर गिलास पीती चली गई। मैंने सोचा, ज्यादा से ज्यादा इतना ही तो होगा कि मैं मर जाऊंगी, पर अब कभी चाबुक से पिटने की नौवत न आने दूंगी।

कमरा गर्म था। वह सुखद सुगन्ध से भरा था। लम्बी टेबुल पर भांति-भांति की वस्तुएं सजी थीं और विविध फूलों के गुलदस्ते अपनी वहार दिखा रहे थे।

वहुत देर तक खाना-पीना होता रहा। इस वीच महाराज एकाध वार ही वोले। खाना समाप्त होने पर हम फिर उसी कमरे में आए। उन्होंने कोमल स्वर में कहा, "जाओ, अब तुम आराम करो, मैं भी अब सोऊंगा।" इतना कहकर फिर उन्होंने दस्तक दी। वही वांदी मुझे शयन-कक्ष में ले चली। इस समय अर्धरात्रि व्यतीत हो चली थी। मैं जाकर उस अपरिचित शयन-मन्दिर में अकेली ही नर्म-गर्म वहुमूल्य दुग्ध-फेन-सम शय्या पर पड़ गई। अपने ही भूत-भविष्य के विचारों में डूवती-उतराती हुई। अपने क्षण-क्षण पर नये-नये चमत्कार दिखाते हुए जीवन पर विचार करती हुई। मेरी चोटें चुभ रही थीं और वह लाल खून के [illegible] नसों में घूम रही थी। वड़ी देर में पीड़ा और सुख का मेल

करती रही। कुछ ही देर में निद्रादेवी ने मेरी पीड़ा, चिन्ता और आगे-पीछे की सारी बातों पर पर्दा डाल दिया।

विदेश-यात्रा

मेरी नई दुनिया का अन्ततः आरम्भ हो गया। बीती बातें पुरानी होती गईं और नई बातें सामने आती गईं। परिस्थिति ने मुझे ढीठ और साहसी बना दिया था। मैं चुपचाप अपने भाग्य के खेल देखने लगी। हर दूसरे-तीसरे दिन महाराज मुझे बुला भेजते। वहां बहुमूल्य विलायती सुगन्धित शराब का दौर चलता। शाही ठाठ का खान-पान होता, बहुधा नाच-रंग का भी आयोजन होता था। दूर-दूर के गुणी कलावन्त आते ही रहते थे। ऐसे जल्से कभी भीतर जनाने में होते, कभी बाहर। पर बहुधा बाहर। मैं चिलमन में आकर बैठती। धीरे-धीरे राजा साहब के दिव्य गुणों का, उनकी उदारता, गुण-ग्राहकता और दातापन का मुझे पता लगता गया और मैं उनसे प्रभावित हो गई। मैंने यह भी देखा कि उनका प्यार भी असीम है। मैं यह सोच भी न सकती थी कि जिस पुरुष का संबंध अनेक स्त्रियों से हो, वह भी किसी स्त्री को प्यार कर सकता है। पर जब प्यार करते थे तब आनन्द की गंगा बहा देते थे। ईश्वर को धन्यवाद है कि मैंने फिर कभी उन्हें नाराज होने का अवसर नहीं दिया। यह भी एक चमत्कार है कि फिर कभी वह नशे में असंयत भी नहीं हुए। खास कर जब वह मुझे बुलाते थे। तब मेरे साथ ही पीते थे और अत्यंत विनोदपूर्ण व्यवहार रखते थे। हर बार वह मुझे कोई नई सौगात और नई भेंट देते। वैसे भी भेजते रहते। देश-देश की वस्तुओं को मंगाने का उन्हें शौक था—कहीं न कहीं से नई वस्तुएं आती रहती थीं। उनसे मेरा महल सजने लगा। अब बहुधा वह मेरे महलों में भी पधारते और तब मैं अतिथि की भांति उनका स्वागत करती। मैंने अपनी सपत्नियों को देखा। बड़ी महारानी के चरणों

में ढोक दी, उन्होंने रूखी नजर से मुझे देखा, पर वहुमूल्य मोतियों का एक हार वख्शीस में दिया। मझली और छोटी रानी से भी मैं मिली। मां साहव से मिली। उन्होंने मेरे साथ सहेली जैसा व्यवहार किया। उनके यहां वहुधा मेरा आना-जाना होने लगा। वह जव चाहतीं, मुझे वुला भेजतीं। खूव गप-शप, हंसी-मजाक होता, खाना-पीना चलता। वह दिल खोलकर वातें करतीं। वड़ी खुशमिजाज थीं वह। वह जैसे विधवा होने और हंसने के लिए ही पैदा हुई थीं।

रनवास की औरतों से, पड़दायतों से भी मैं मिली। धीरे-धीरे रंगमहल के सव हाल मुझपर प्रकट हो गए। वहुत-सी वातें केसर और किसुन से मालूम होती रहतीं। केवल मैं कुंवरी से नहीं मिल पाई। उन्होंने फिर मुझसे मुलाकात नहीं की। वहुत वार मैंने चाहा पर वेकार। मेरे आग्रह पर दरवार ने भी उन्हें मनाया। पर उसका भी कोई नतीजा न हुआ। वह उस रात सुहागरात को रूठीं सो रूठी ही रहीं। सारे जीवन उन्होंने महाराज से वात नहीं की।

इस प्रकार धीरे-धीरे मेरे इस नये जीवन के दो वरस वीत गए और अव मैं इस विचित्र जीवन की अभ्यस्त हो गई। फिर भी मेरे जीवन में एक व्यक्ति जवरदस्ती धंसा चला आ रहा था। वह था किसुन। एक अज्ञात प्रेम और आकर्षण मुझे उसकी ओर खींचता चला जाता था। वह मेरे सम्मुख सदैव अदव से ही वातें करता और मालिक की भांति मुझे मानता, पर मैं देखती उसकी तरुणाई की प्यासी आंखें कुछ दूसरा ही सन्देश दे रही हैं। उसका कण्ठ-स्वर सुनते ही मेरा कलेजा धड़कने लगता था। पर मैं भी मर्यादा से वाहर उससे वात न करती। चाहती रहती कि वह मेरी आंखों के सामने रहे। मन का पाप आपसे कहती हूं कि राजा इतने गुणी और उदार थे और इस अभागिन को वड़ा प्यार भी करते थे, फिर भी मेरे मन में उनके लिए प्यार कभी उगा ही नहीं। मैंने आत्म-समर्पण उन्हें अवश्य किया, पर प्यार न कर सकी। प्यार तो किया किसुन को। पर क्या मजाल कि कभी वह प्रकट हुआ हो। मैं भीतर ही भीतर उसकी आग में जल-जलकर खाक होती रही। आप कह सकते हैं, नीच गुलाम जो है, चाकर गोली जो है। राजा के प्यार को क्या जाने!

गोले-गुलाम पर ही मर मिटी। सो आपका यह कहना सच ही है। अस्वी-कार कैसे कर सकती हूं?

तो दो वरस वीत गए। महाराज ने मुझे लेकर यूरोप की यात्रा की। अंग्रेज गवर्नेस मेरे लिए नियत की गई। उसने मुझे केवल पढ़ाया-लिखाया ही नहीं, पाश्चात्य नृत्य-संगीत और अदब-कायदे की भी शिक्षा दी। हम लोगों ने समूचे यूरोप का भ्रमण किया। इस नई जागती हुई दुनिया को देखकर मेरे हिए के कपाट खुल गए और जब मैं लौटकर आई तब कुछ और ही बन गई थी। किसुन ही अकेला इस यात्रा में हमारे साथ रहा। अब मेरे रहन-सहन में, विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर हो गया था। दो मास यूरोप घूमकर जब हम राजधानी में लौटे, तब बड़ी धूमधाम से दरबार का स्वागत हुआ। मैं तो यह सब भूल ही गई थी कि मैं गोली-गुलाम हूं और अपनेको महारानी ही समझने लगी थी। यूरोप में महाराज ने महारानी की ही भांति मेरा सबसे परिचय कराया था। मैं अब ठसक से रहने लगी थी।

नये जीवन का प्रारम्भ

इसी समय मुझे एक नई अनुभूति हुई। इस अनुभूति की आशंका तो मुझे यूरोप के प्रवास में ही हो गई थी। पर अब उसका निश्चय हो गया। एक अनिर्वचनीय आनन्द और आशा से मेरा हृदय उल्लसित हो उठा। परन्तु एक अज्ञात भय से भी मैं अभिभूत हो उठी और जब मैंने केसर से वह बात कही तब वह कुछ विचलित-सी हो गई। उसने बारीकी से मेरा निरीक्षण किया। मैं नहीं जानती थी कि यह सुसमाचार था या कुसमा-चार। पर केसर ने जब गम्भीर मुद्रा से कहा कि अन्नदाता को खबर करनी होगी, तब मेरा मन आशंका से भर गया। और मैं शंकित-सी, भयभीत-सी अवसर की बाट जोहने लगी। कैसे कहूंगी, यही न सोच

पाती थी। एक मास बीत गया, पर महाराजाधिराज को मेरे महलों में पधारने का अवकाश ही न मिला। नित नये जश्न और नाच-रंग में वह समूचा मास बीत गया।

जब मैंने उनसे वह बात कही, तो मेरा दिल धड़क रहा था। लाज से मैं मरी जा रही थी। भय, आशंका और आनन्द के झूले में मैं झूल रही थी। परन्तु सुनकर वह प्रसन्न नहीं हुए। वह जैसे चौंक-से पड़े। क्षण-भर उन्होंने मेरी ओर ताका। फिर उनका मुंह भरे हुए बादलों की भांति गम्भीर हो उठा। उन्होंने धीमे स्वर में कहा, "क्या ठीक कहती हो?" न जाने क्यों, उनका वह प्रश्न मुझे अच्छा नहीं लगा। मेरा सारा आनन्द काफूर हो गया और मैं रोने लगी। परन्तु उन्होंने मुझे ढाढ़स बंधाया, कहा, "डरने और घबराने की कोई बात नहीं है।"

उनका यह आश्वासन इतना ठण्डा था कि मैं रोना भी भूल गई। मैं सोच रही थी कि सुनकर वह प्रसन्न होंगे। इनाम देंगे। स्त्री के जीवन में यह घड़ी तो न जाने कितने उत्साह, आनन्द और आशा लेकर आती है। पर मैं मूर्खा यह तो बिलकुल ही भूल गई थी कि मैं केवल एक स्त्री ही नहीं, एक गोली-गुलाम हूं, जिसका जीवन ही सब स्त्रियों से निराला होता है।

दूसरे दिन लेडी डाक्टर ने आकर मेरा मुआइना किया और सूचना दी कि गर्भ का तीसरा मास है। मुझे कुछ हिदायतें भी दीं। मेरी तबियत अब खराब रहने लगी थी। खाना-पीना पचता नहीं था। सब उलट जाता था। केसर रात-दिन मेरी साज-सम्हाल में रहती थी। शायद किसुन को भी कुछ सुन-गुन मिल गई थी। वह प्रसन्न मुद्रा में रहता था। पर मैं प्रायः दिन-दिन-भर बिछौने में पड़ी रहती थी और कभी-कभी मेरा मन ऐसा उचाट होता था कि कुछ भी अच्छा नहीं लगता था और मैं रोने लगती थी। मैं नहीं समझ पा रही थी कि यह सब कुछ अच्छा हो रहा है या बुरा।

दो-चार दिन में ही महाराज ने मुझे बुला भेजा। वह अकेले बैठे शराब पी रहे थे। मुझे देखकर बोले, "आओ बैठो। तबियत कैसी है?" मैं जवाब न दे सकी, रोने लगी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह अब

रुखाई से बात कर रहे हैं। वह कुछ देर चुपचाप शराब पीते रहे। मैं भी चुपचाप बैठी रही। पैग उन्होंने स्वयं भरा। मैंने भरना चाहा तो कहा, "रहने दे चम्पा! मैंने तुझे कुछ जरूरी बात करने को बुलाया है। वह किसुन तुझे कैसा लगता है?"

प्रश्न सुनकर मैं घबरा गई। किसुन के लिए मेरे मन में जो एक प्रच्छन्न आसक्ति थी, वह क्या उन्हें विदित हो गई है? मैं यही सोचने लगी। किन्तु महाराज अपनी ही धुन में थे। मेरे उत्तर की ओर उनका ध्यान ही न था। उन्होंने फिर कहा, "किसुन अच्छा लड़का है। भलामानुस है। घर का आदमी है, भरोसे का है, कभी तेरे साथ उसने कोई बदसलूकी तो नहीं की?"

"नहीं अन्नदाता!" मैंने उतावली से कहा। और उनका अभिप्राय जानने के लिए मैंने उनकी ओर देखा। उन्होंने मेरे उत्तर से आश्वस्त होकर कहा, "ठीक है तू उसे पसन्द करती है?"

मैंने डरते-डरते कहा, "वह अच्छा आदमी है।"

"तो मैं तेरा उसीके साथ व्याह करना चाहता हूं।"

मैं एकाएक जैसे पहाड़ से फेंक दी गई हूं, इस प्रकार चौंक उठी। क्षण-भर को तो मेरे शरीर में रक्त की गति रुक गई और मेरा मुंह सूख गया। इस बात का मतलब क्या है? क्या वह मुझे त्याग रहे हैं? क्या उन्हें मेरे मन की आसक्ति का पता चल गया है? किसुन को मैं चाहती अवश्य थी, पर जिस राजभोग की मैं अभ्यस्त हो चली थी, उसे अब त्यागने को भी तैयार न थी। किसुन चाकर है, गुलाम है। वह तो मेरी ही चाकरी में है। मैं गहरे सोच में डूब गई। उन्होंने कहा, "तुझे पसन्द है न?"

मैंने डरते-डरते कहा, "अन्नदाता, वह तो सरकार के हुक्म से मेरी ही चाकरी में है!"

"हां, तेरी ही चाकरी में रहेगा, चाकरी से मैं उसे हटाऊंगा नहीं।" उन्होंने कहा।

यह बात मैं समझ न सकी, किसुन से मेरा व्याह होगा और वह मेरी ही चाकरी में रहेगा! यह बात कैसे सम्भव हो सकती है? मैं कुछ भी

जवाब न दे सकी, परन्तु महाराज ने मेरे जवाब की प्रतीक्षा नहीं की। वह गिलास रखकर उठ खड़े हुए। बोले, "कुछ कहना चाहती है।"

"नहीं अन्नदाता!"

"तो आराम कर। कल तेरा ब्याह होगा।"

इतना कहकर वह चले गए। मैं जड़ बनी बैठी रही। दासी ने जब कई बार कहा, तब मैं उठकर पलंग पर लेट गई। पर यह क्या हो गया और क्या होने वाला है, यह मैं समझ न सकी। मैं इस कदर बौखला गई कि रो भी न सकी। सो भी न सकी। मेरी तमाम रात पलंग पर छटपटाते ही बीती।

किसुन के साथ ब्याह

मेरे ब्याह में आधा घण्टा भी नहीं लगा। न हवन हुआ, न फेरे पड़े। न बाजा बजा, न नाच-तमाशे हुए। न बरात आई, न नौबत बजी। यहां तक कि रंगमहल में बहुतों को खबर भी न हुई। तीसरे पहर अन्नदाता राजपुरोहित और किसुन को संग लेकर आए। किसुन नये वस्त्र, कमर में नई धोती पहने था। आंखें उसकी खुशी से चमक रही थीं। अन्नदाता कुर्सी पर बैठ गए और राजपुरोहित ने एक पाटे पर मुझे और किसुन को बैठाकर नवग्रह पूजन किया, दो-चार मंत्र पढ़े और केसर ने मेरा हाथ किसुन के हाथों में दे दिया। वहीं जीवन में पहली बार किसुन से मेरा अंग स्पर्श हुआ। केसर को नया जोड़ा मिला। नया जोड़ा और सुहाग की चूड़ी मैंने भी पहनी थी, मेहंदी भी हाथों में रचाई थी। जब मेरा हाथ किसुन को पकड़ाया गया, तब भावावेश से मैं अंधी हो गई। भविष्य में क्या होगा, यह मैं तब न जान सकी। पर मेरे लिए आंखें खोलना दूभर हो गया। मेरे रक्त की बूंदें नाच रही थीं। मैं सोच रही थी, हे भगवान, क्या सच मुझे मनचीता दूल्हा मिल गया है? पर मेरा नशा थोड़ी ही देर में उतर ग

जब मेरी मांग में सिंदूर देकर किसुन, राजपुरोहित और महाराजाधिराज लौट गए। रह गईं हम दोनों निरीह अभागिन नारियां। नहीं-नहीं, नारियां नहीं—गुलाम गोलियां—केसर और मैं, भला हम गोलियां भी कहीं नारी नाम धारण कर सकती हैं! गोलियां जिनके जीवन, आदर्श और ध्येय सभी कुछ संसार की नारियों से भिन्न होते हैं, जो राजसुख

भोगती हैं, पर रानी नहीं होतीं; जिनके ब्याह होते हैं, पति होते हैं पर वे उनकी पत्नी नहीं होतीं। उनके सन्तानें होती हैं, पर वे उनकी माता नहीं होतीं। उनका धर्म पृथ्वी की सब स्त्रियों से जुदा है, जीवन जुदा है, वे एक नयी ही दुनिया में जीती और मरती हैं।

बहुत देर तक मैं अभिभूत-सी गुमसुम बैठी रही। ऐसा लग रहा था जैसे आशा और आनन्द की एक चिनगारी कलेजे में जलती है और बुझ

जाती है। मन उछलता है और डूब जाता है। केसर भी गुमसुम थी। वह इधर-उधर धरा-उठाई कर रही थी। थोड़ी ही देर में किसुन आया, उसके अंग पर वे ही व्याह के नये वस्त्र थे। नित्य की भांति शयनागार को उसने सजाया। फालतू वस्त्र तहकर अलमारियों में रखे। रात की पोशाक निकालकर पलंग पर रख दी। वह इस भांति सब काम कर रहा था, जैसे आज कुछ नयी बात हुई ही नहीं है। उसने मुझे सरकार कहकर ही संबोधित किया। अपने आगे के इक्कीस साल के जीवन में उसी भांति वह यही सम्बोधन करके मुझे पुकारता रहा। पर मैं आज उसे किसुन नाम से न पुकार सकी। तूकार से भी बात नहीं कर सकी। आज ही क्यों, अपने आने वाले जीवन में भी, जब तक वह निरन्तर मेरी ही चाकरी में रहा, छाया की भांति, इक्कीस वरस तक—मैं फिर उसे न उसका नाम लेकर पुकार सकी, न तूकार से बात कर सकी।

परन्तु इस समय मैं हैरान थी। मेरा कलेजा धड़क रहा था। वह मेरी सेज सजा रहा था। और मैं भांति-भांति के सपने देख रही थी। मन का पाप आपसे कहती हूं। मैं अभागिन सोच रही थी, क्या आज यह मेरे सुहाग की सेज सज रही है? क्या आज मेरी यह सुहागरात है? जब कि मैं पराये आदमी की जूठन मात्र हूं और मेरे पेट में एक वालक पनप रहा है, जिसका मेरे पति से कोई सरोकार नहीं है। क्या जैसे मैं गोली-चाकर इस शाही छपरखट पर सोती हूं, उसी भांति क्या यह गोला-चाकर भी, जिसने ब्राह्मण की साक्षी में मेरा हस्त-ग्रहण किया है, इस सेज पर आज आरोहण करेगा?

मैं किसुन को प्यार तो करने ही लगी थी, यह बात तो आपसे छिपी नहीं है। वह प्यार मैंने सबसे छिपाया, पर किसुन की नजर से तो छिपा न था। पर हम दोनों धर्म के बन्धन में बंधे चाकर थे। स्वामी के साथ विश्वासघात करके अपनी गोली जाति को कलंकित नहीं कर सकते थे। हम दोनों ही कसकर अपने मन को बांधे रहते थे। पर अब? व्याह होने के वाद? परस्पर पति-पत्नी होने के वाद? क्या हम एक-दूसरे को खुलकर प्यार कर सकते थे? एक-दूसरे को आत्मार्पण कर सकते थे? आज से वह मेरे साथ पति की भांति व्यवहार करेगा? मुझे

कोठरी में जाना होगा या वही मेरे महल में रहेगा ? मैं यही सब सोच रही थी। परन्तु कहां ? चारों ओर जो कुछ हो रहा था, वह तो ऐसा था, जैसे मानो कुछ नयी बात हुई ही नहीं है। सब कुछ वैसा ही है। ब्याह मेरा चुपचाप कुछ मिनटों में ही हो गया था। उसमें अग्निहोत्र नहीं हुआ था, फेरे नहीं फिरे थे। हाथी, घोड़े, प्यादे, बाजे, गाजे से धूमधाम कुछ भी नहीं हुई थी। ब्याह मैंने कुंवरी का भी देखा था जहां पति भी हाजिर न था, केवल कटार के साथ फेरे हुए थे। फिर भी धूमधाम, गाजे-बाजे का अन्त न था। पर इससे क्या ? कुंवरी तो ठाकुर की बेटी, राजा की रानी थीं। आज वह रानी-महारानी सब कुछ होकर निर्वासिता थीं। पति-सुख से वंचिता थीं। जीवन के अन्धकार में धंसी चली जा रही थीं, इसी नव-वयस में। और मैं ? मैं दुर्लभ राजसुख भोग रही थी। राज कर रही थी पर इससे क्या ? मैं थी तो गोली, जन्मजात गुलाम, जिनका रक्त भी इन अभिजात ठाकुरों के यहां बन्धक था। सो मैं कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रही थी कि अब पति के साथ मेरे कैसे सम्बन्ध रहेंगे और अन्नदाता के साथ कैसे ? भय, आशंका और उद्वेग में मेरा मन झूल रहा था, पर मैं कुछ कह न सकती थी। किसुन शान्त, निरुद्वेग अपनी चाकरी बजा रहा था। जैसे वह भूल गया था कि आज अभी कुछ क्षण पहले ही मेरे साथ उसका ब्याह हुआ है। वह सेज सजा रहा था, क्या अपनी दुलहिन के लिए ? सुहागरात आ रही थी, सो क्या उसके लिए ? मैं यही सोच रही थी कि किसुन मेरे पास आया। धीरे से कहा, "अन्नदाता आज यहां कांसा आरोगेंगे।" और वह बाहर चला गया। उसकी नीचे झुकी हुई आंखें वेदना बिखेरती गईं और मेरा कलेजा धक् से रह गया, जैसे मैं मर गई होऊं।

वह चला गया और मैं ठगी-सी, लुटी-सी देखती रह गई। अपने भाग्य को कुछ-कुछ समझ गई। यद्यपि उस आग का मैं अभी कुछ अनुमान न लगा पाई थी जिसमें मुझे जीवन-भर जलना था, फिर भी उसने इस क्षण मेरे कलेजे को छू लिया। मैं केसर से लिपटकर फूट-फूटकर रो उठी।

बहुत देर तक रो लेने पर मेरा जी हलका हुआ, तब केसर ने मुझे

धर्म का मर्म समझाया। उस समय उसने अपने गत जीवन का भी इतिहास बताया। वह भी कुछ इसी प्रकार का जीवन काट चुकी थी। इसी कम आयु में बहुत कुछ भोग चुकी थी। उसने कहा, "क्या करेगी, रोना-धोना तेरे काम न आएगा। तुझे अपना चाकर का धर्म निबाहना है। धनी तेरे अन्नदाता हैं, उनकी सेवा तुझे तन-मन से करनी है। मन को पत्थर बनाना है। मन चलायमान किया तो जग में तेरा मुंह काला होगा। एक पल में ये राजसुख लोप हो जायेंगे और काल कोठरी मिलेगी या विष का प्याला पीना पड़ेगा। खबरदार रह! कभी किसुन को बढ़ावा न देना और कभी उसे एक चाकर से भिन्न और कुछ न समझना।"

मैंने रोते-रोते कहा, "तो फिर ब्याह के ढकोसले की क्या आवश्यकता थी?" केसर ने कहा, "बहन, हम गोली-गुलाम हैं। राजा-ठाकुरों के भोग-विलास के साधन। पर वे हमारी सन्तानों को तो अपनी नहीं कह सकते। ऐसा करें तो उनकी सारी रियासत गोली-गुलामों की औलाद ही के गुजारे में बंट जाए। इसलिए हमारे बाल-बच्चों के लिए पिता चाहिए, जो गोला हो और जो हमारे बाल-बच्चों का पिता कहलाए, जिससे वे राजाओं की रियासत में गुजारे के हकदार न बनने पाएं। तू गर्भवती हो गई, तेरे भावी बच्चे के लिए पिता की जरूरत थी। अन्नदाता भला उसके पिता कैसे बन सकते थे! इसीसे किसुन से तेरा ब्याह रचाया गया है। पतिव्रतधर्म तेरा अन्नदाता ही के प्रति है। हां, तेरे बच्चे सब किसुन के ही कहलायेंगे।"

मैं तो राजा के साथ विलायत का पानी पी आई थी। अंग्रेज महिला से शिक्षा पा रही थी। जीवन के सच्चे स्वरूप को समझने की बुद्धि मुझमें उग रही थी और यद्यपि मेरी बुद्धि अभी कच्ची थी, फिर भी बहुत-सी बातों को मैं समझने लगी थी। इन्हीं सब कारणों ने मेरा यह गुलामी का जीवन मुझे आज विषधर नाग बनकर डस रहा था। मैं चाह रही थी कि धरती फट जाए और मैं उसमें समा जाऊं।

परन्तु धरती फटी नहीं। प्रलय हुई नहीं। मैं मरी नहीं। जीती रही, जलती रही, सुलगती रही। नये-नये दिन आते गए। जीवन मुझे ठगता गया। कभी हंसकर और कभी रोकर मैंने विधाता के सारे लेख पढ़ डाले

दर्द को मैं सह गई, जैसे नीलकण्ठ ने हलाहल पीकर सह लिया था। मैं अपनेको अपने जीवन के अनुकूल वनाने में सिद्ध हो गई।

अन्नदाता दिन पर दिन मेरे निकट होते गए। उनके गुणों ने अवश्य मुझे मोह लिया, पर मैं अभागिन उन्हें प्यार न कर सकी। प्यार तो किया मैंने अपने पति को। वहुत वार चाहा कि उसे लेकर कहीं भाग जाऊं। यह कुछ मेरे लिए कठिन भी न था। मैं अव वहुत कुछ अपनी स्वामिनी थी। किसीका मेरे ऊपर अंकुश न था। महाराजा वहुधा हफ्तों मेरे पास न आते थे। प्रवास के ऐसे भी काल आए, जव महीनों तक वह मुझसे पृथक् रहे। मेरे ऊपर कोई पहरा न था। मैं आसानी से भाग सकती थी, पर मैं तो नींव के पत्थर की भांति वहां से डिगी नहीं। महाराज मेरे निकट होते, तव भी और महीनों-हफ्तों दूर रहते तव भी, किसुन तो मेरे निकट ही मेरी चाकरी में रहता था। फिर भी न मैंने, न उसने एक वार भी कभी अपनी मर्यादा के वाहर कदम रखा। कैसी विचित्र थी यह मर्यादा ! मुझसे अधिक उसकी···जो मर्द था, तरुण था, और मैं जिसकी विवाहित पत्नी थी। हमें एकान्त की लम्वी और सूनी रातें मिलीं। दुःख-दर्द के दल-दल में हम एकसाथ रहे, हास-परिहास भी हमने किए। और प्यार का सागर तो सदा ही हमारे दोनों के मन-मन्दिर में लहराता रहा। पर कभी एक वार हम नहीं डिगे। कैसा कठिन था यह व्रती जीवन, जो एक-दो दिन का नहीं, पूरे इक्कीस साल का था ! कौन स्त्री इतना सह सकती है, इतना जल सकती है ? और कौन मर्द इतनी मर्दानगी रख सकता है ? हां, मर्दानगी ही मैं कहूंगी। योगी-यति भी इतना संयम-धैर्य नहीं रख सकते जितना किसुन ने रखा। कैसे आश्चर्य की वात है कि मैं, जो एक क्षण के लिए भी किसुन को भूलती न थी, कभी उसके प्यार से खाली रहती न थी, उसीके सम्मुख पर-पुरुष की पर्यंकशायिनी वनती थी। क्य यह निर्लज्जता की पराकाष्ठा न थी ? क्या यह एक अधम जीवन का ज्वलन्त उदाहरण न था ? इसीसे तो मैं कहती हूं कि मैं स्त्रियों में अधम हूं। मैं रोती थी, किसुन के विछोह में सूनी सेज पर छटपटाती, और किसुन मेरी ड्योढ़ियों पर तव भी हाजिर रहता था, अपनी चाकरी में मुस्तैद। वह भी रोता था, यह मझसे छिपा न था। आखिर हाड़-मांस का ही तो शरीर था। वज्र तो

नहीं, पत्थर तो नहीं। पर हम अपने सेवकधर्म में बंधे चुपचाप अपनी-अपनी आग में जलते थे। न मेरे आंसू उसने कभी देखे, न मैंने उसके। पर जैसे मैं उसकी जलती-भुनती निःश्वासों को संजोकर अपने मन में रखती थी वैसे ही वह भी रखता था। मेरे मन का प्यार वह जान गया था और मैं उसके मन के प्यार में सराबोर थी। पर कभी एक बार भी तो हमारे ओठों में वह प्यार मूर्त्त न हुआ। ऐसे ही हमारी जवानी के उमड़ते हुए इक्कीस बरस बीत गए। पूरे इक्कीस बरस !

पुत्र-जन्म

यथासमय मैंने पुत्र को जन्म दिया। हीरे की कनी के समान आभा और ज्योति से जगमग उस जीवित तत्त्व ने जब अपनी अपरिचित आंखों से मुझे निहारा तो मैं ठगी-सी रह गई। जैसे मेरा ही धड़कता हुआ हृदय मूर्त्त हो उठा हो। मैं उसे अपलक देखती रह गई, भावालोक में डूबी हुई। आगे जो होने वाला था वह तो मैं अभी जानती ही न थी। पुत्र तो वह अन्नदाता का ही था, पर अन्नदाता को उसे देखकर, उसके जन्म की सूचना पाकर कोई विशेष खुशी न हुई, उनका रूखा-सूखा-सा भाव मुझे आहत कर गया और उस नन्ही-सी सन्धि के सहारे जो हलकी-सी प्यार की किरण उदय हुई थी, वह वहीं तिरोहित हो गई। किसी शक्ति ने जैसे मेरे कान में कह दिया, "यह तेरा पति नहीं, धर्म सखा नहीं, जीवन-संगी नहीं। केवल तेरा ग्राहक है, भोक्ता है।" और मैं उदास हो गई। उनकी समूची गुण-गरिमा, राज-महिमा जैसे मुझे अपने बोझ से चकनाचूर कर गई।

पर किसुन आनन्द में विभोर था। कई रातों वह जागता रहा। आंखें उसकी बहुधा सूजी रहतीं, लाल रहतीं और ओठ फूले हुए। मैं तब इतनी अबोध न थी कि यह न समझती कि वह रात-रात भर

क्यों न रोएगा भला ! उसके दुःख को भी क्या अब :

जाए? उसने मेरा इतना यत्न किया, इतनी सेवा की कि शायद वह
होता तो मैं मर ही जाती। प्रसव में मुझे बहुत वेदना हुई। महाराज एका
बार आकर पूछताछ कर गए। सारा ही भार उन्होंने किसुन पर डा
दिया। लेडी डाक्टर रियासत की थी ही। चिकित्सा-सुश्रूषा का प्रबन्ध थ
ही। पर किसुन तो मेरे जीवन का सहारा था। कितनी लज्जा की बा
है कि वह भी मुझे 'सरकार' कहकर ही पुकारता था। और उसके इ
प्रकार पुकारने पर मैं लाज में गड़ जाती थी। मेरी अन्तरात्मा चीत्का
करके पुकारना चाहती थी, 'प्रियतम, मैं तुम्हारी दासी हूं, तुम्हारी पत्न
हूं। और यह तुम्हारा पुत्र—हां-हां, तुम्हारा। अब चाहे हमारा-तुम्हार
शरीर-सहयोग न भी हुआ हो, पर मेरा यह पुत्र तुम्हारा है। तुम मेरे पति
हो और मेरे इस बालक के पिता हो।'

हाय रे विधाता, मैं प्यार और आवेश में जो सोचती थी, सत्य भ
तो वही था। मेरी सन्तान के पिता का दायित्व लेने ही के लिए तो व
मेरा पति बनाया गया था। वह बात तो केसर ने समझाई थी मुझे, प
इसका मर्म तो अब समझी। एक मास का मेरा यह बालक, मेरे जिगर क
टुकड़ा किसुन को सौंप दिया गया। दूध पीने को गाय लगा दी गई। कृत्रिम
उपचारों से मेरा दूध सुखा दिया गया। मेरा यौवन ढल न जाए, आकर्षण
कम न हो जाए, शरीर बेडौल न हो जाए—इस सम्बन्ध में चिकित्सकों
को पूरी हिदायतें दे दी गईं। मेरा मातृत्व हाहाकार कर उठा। मैं केवल
एकाध बार अपने लाल को देख-भर सकती थी। अब मैंने समझा कि कि
अर्थों में किसुन उस बालक का पिता है। ओफ, मैं कितना रोई। कैसे
आश्चर्य की बात है कि आंसुओं के उस समुद्र में वह रंगमहल डूब न गया

मेरे इस दुःख में साथिन थी केसर। वह रोती थी, ढाढ़स भी देती
थी। गोली का धर्म भी समझाती थी और उस धर्म का मर्म भी।

धीरे-धीरे मैं स्वस्थ हो गई और अन्नदाता फिर यथावकाश मेरे पास
आने लगे। बालक को नर्सें पाल रही थीं। उसका पालन अवश्य यत्न से हो
रहा था। किसुन अवकाश पाकर मेरी सेवा से बचा अपना शेष समय उसी-
को गोद में लेकर व्यतीत करता था। मैं उससे आंखों ही में पूछती, "कैसा
है मेरा लाल?" और वह होंठों में हास्य और आंखों में पानी भरकर

उसका मुझे जवाव देता, मेरी आंखों से आंख मिलाकर। तव मेरी आंखें भी गीली हो जातीं।

वह पहली चोट थी। जीवन-प्रवाह का यह चमत्कारिक दस्तूर है कि 'चोट का दर्द' कायम नहीं रहता, तो मेरा दर्द भी ठण्डा पड़ गया। मुझे भी हंसना पड़ा और अपना निर्लज्ज गोली का धर्म आगे निवाहना पड़ा। पूरे इक्कीस वर्ष। पांच वार मैंने सन्तान प्रसव की। हर वार मुझे नई भावनाओं का सामना करना पड़ा। अव उन सव वातों को कैसे कहूं? कैसे अपने उस उलझे हुए जीवन के सुख-दुख आपको वताऊं? वस, इतना ही समझ लीजिए कि सुख-दुख का एक अद्‌भुत मिश्रण था मेरा वह जीवन। सुख शरीर में था और दुःख मन में।

बंदर राजा

गद्दीनशीन राजा के भाई-वन्दों के जीवन भी अद्‌भुत रहस्यपूर्ण होते हैं। उनके चरित्र पर्दे में ही रहते हैं, इसलिए सव लोगों को उनका पूरा पता नहीं चल पाता। कभी-कभी उनके चरित्र अत्यन्त हास्यास्पद, कभी वीभत्स और कभी भयानक भी हो जाते हैं। वहुधा साम्पत्तिक मामलों में इन भाई-वन्दों में परस्पर और कभी-कभी हिज हाईनेस से भी झड़प हो जाती थी। केवल झड़प ही क्यों, कभी-कभी तो जवरदस्त कूटनीतिक टक्करवाजी हो जाती थी, जिसका पता ही सर्वसाधारण को नहीं लग पाता। अव आप जरा इन वन्दर राजा का भी दिलचस्प किस्सा सुन लीजिए और दाद दीजिए राज-रक्त की विशेपता, पवित्रता और [illegible] की, जिसकी रक्षा के लिए ५० साल की कुमारी राज-पुत्रियां २० [illegible] गद्दीनशीन राजाओं से व्याही जाती हैं। जहां कमाना-[illegible] परिश्रम नहीं; पड़े-पड़े हराम के माल-मलीदे उड़ाना [illegible] से जागीर-जमीन-जायदाद मिलती जाती हो केवल

नाम पर जागीर के स्वामी को न किसी योग्यता की आवश्यकता है न उसके लिए कोई शर्त या पावन्दी, कायदा-कानून है। सिर्फ खून का संवंध होना चाहिए। वस, उसे जैसे मुफ्त में जागीर मिल जाती, उसी प्रकार जागीर में वसने वाले प्रजाजनों पर मनमानी हुकूमत—जिसे मैं तो खुले शब्दों में अत्याचार कहूंगी—करने की खुली छूट्टी मिल जाती थी। उनका तो सारा जीवन ही इस तरह व्यतीत होता था कि पड़े-पड़े जागीर की आमदनी खाना, जोर-जुल्म से किसानों से अपना कर वसूल करना, चमारों और दूसरे सेवाकर्म करने वालों से जवर्दस्ती वेगार लेना। वात-वात में लाग लगाना, जिसे दूसरे शब्दों में लूट ही कहा जा सकता है, और अफीम पी लेना या चरस की दम लगाना या भंग के गोले सटकना। शिकार करना और रियाया की वहू-वेटियों पर गृद्धदृष्टि रखना। जिसे चाहे उसे जवरदस्ती उठवा ले आना। जी चाहे जिसके यहां से कुछ भी चीज उठा लेना और मूल्य न देना। जी चाहे जिसपर जूतों से पिटाई करा देना। यह उनके नित्य के काम थे। कुछ यही वात नहीं कि रियाया को कसूर करने पर ही पीटा जाय, वेअदवी और ठकुरास की तौहीन करने पर भी सजाएं मिलनी जरूरी हैं। कल्पना कीजिए कि जागीरदार, ठाकुर या उसकी विरादरी का कोई भी ठाकुर गांव में कहीं जा रहा है, कि उसने देखा, एक नाई या ऐसा ही कोई व्यक्ति जिसे जाति से छोटा समझा गया, अपने घर के द्वार पर खाट विछाकर वैठा है, उसने तुरन्त खड़े होकर दोनों हाथ जोड़कर ठाकुर का मुजरा नहीं किया तो ठाकुर की तौहीन हो गई। अव इसे जूतों से पिटवाना जरूरी हो गया। या कोई चमार वेगार से इन्कार करता है या खाने को मांगता है तो इस अपराध में उसे पीटना पड़ेगा। और कभी-कभी तो इतना कि वह मर भी सकता है। केवल पुरुष ही नहीं, स्त्री को भी पीटा जाता। ऐसी हालत में यदि वह गर्भिणी है, और मार से गर्भपात हो गया तो इसकी कोई दाद-फर्याद कहीं नहीं हो सकती; यहां तक कि मर जाने की भी नहीं।

वन्दर राजा महाराजाधिराज के सगे वड़े भाई थे। यह मैं आपको वता चुकी हूं कि महाराजाधिराज गोद आए थे। जिस ठिकाने से गोद आए थे उस ठिकाने की गद्दी पर गोद आने का प्रथम अधिकार प्राप्त था। यह

ठिकाना राजा के भाई-बन्दों के ठिकाने में सबसे निकट का और सबसे
ातिष्ठित था। यदि दुर्भाग्यवश इस ठिकाने पर भी कोई उत्तराधिकारी
। हो, फिर दूसरे ठिकानों से लड़के गोद लेकर गद्दी पर बैठाए जाते थे।
ाह पुरानी परम्परा चली आती थी। छोटा भाई जब गद्दीनशीन होकर
ाहाराजाधिराज हो गया, तब यह बड़ा भाई अपने ठिकाने का स्वामी,
ापने पिता की मृत्यु के बाद होता। परन्तु पिता के जीवनकाल में ही कुछ
ाटनाएं हो गईं। प्रथम तो यह कि उक्त बन्दर राजा सर्वगुणनिधान थे।
ाढ़े-लिखे छुच्छुम। सूरत-शक्ल में हूबहू बन्दर, तिसपर बचपन में चेचक
निकलने से ऐसे कुरूप हो गए कि सारा चेहरा ही बिगड़ गया। रंग एकदम
स्याह श्याम। नाक बहुत बड़ी और मोटी। गर्दन ठिगनी, मोटे कान और
ान्ने के पोर के समान मोटी और भद्दी उंगलियां। डील-डौल भैंसे के
समान। भोजन में भी समूचा बकरा या सूअर खाने पर तृप्ति। स्वर मोटा
और भद्दा। तौर-तरीके देहाती, अशिष्ट और भद्दे। व्यंग-मजाक
अश्लील। सोहबत गोले और दूसरे जी-हजूरों की। बचपन में जब किसी
तरह पढ़-लिख न सके तो दोस्तों के साथ आवारागर्दी करने, अमल
आरोगने या दारू पीने लगे। धीरे-धीरे अपनी कच्ची उम्र में ही पक्के
शराबी बन गए। राजा के बेटे थे, राजा थे; ब्याह एक ठिकानेदार की
बेटी से हो गया। एक लड़की भी पैदा हो गई। पर अब उन्हें जूए और
तमाशबीनी का चस्का लगा। घर में कोई चीज सलामत न थी। रुपया-
पैसा, जेवर-जवाहरात जो हाथ लगता कौड़ियों के मोल बेच जुआ खेलते।
किसीकी बहू-बेटी की इज्जत सलामत न रही। जिसे चाहते उठवा
मंगाते। लफंगा पार्टी के मुफ्तखोरे सदा साथ रहते, जिनके कारण कुकर्मों
की बाढ़ आ जाती। राजा साहब भले आदमी थे, समझदार भी थे। लड़के
के तौर-तरीके देखकर बहुत खीझते। इसी समय उनकी रानी का स्वर्ग-
वास हो गया और राजा साहब बहुत थक चुके थे। कुशिक्षा और कुसंस्कार
का प्रभाव, कहना चाहिए कि नयी माता से पुत्र का अनुचित सम्बन्ध हो
गया। इसपर राजा साहब ने क्रुद्ध होकर पुत्र को रियासत के उत्तरा-
धिकार से वंचित कर दिया और केवल एक गांव उसके गुजारे के लिए
उसे दे दिया। अब तो कुंवर साहब की आवारागर्दी और

वह गांव बेच-वाचकर एक ही वर्ष में उन्होंने ठिकाने लगा दिया। तीन वर्ष नयी रानी को सौभाग्य प्रदान कर राजा साहब स्वर्ग सिधारे। रानी अब रियासत की स्वामिनी हो गई। रियासती अधिकार पर माता-पुत्र में विग्रह हो गया जो विकट रूप धारण कर गया। दोनों एक दूसरे को मरवा डालने के षड्यन्त्र करने लगे। पर रानी स्त्री थी और कुंवर साहब कुल्लांच छूछे हाथ थे। इससे कोई योजना बनी नहीं। रानी ने उन्हें रियासत में घुसने की मनाही कर दी। उनकी लड़की की शादी बड़े महाराज ही कर गये थे। सो वह कुछ दिन तो बेटी के पास रहे। पीछे उन्होंने मटरगश्ती का धन्धा अख्तियार कर लिया। दो दिन इस रिश्तेदारी में, दो दिन उस रिश्तेदारी में। खाना खाते, कपड़े पाते, नकद दक्षिणा भी पाते थे। राजा के बेटे थे। राजकुमार थे। नाते-रिश्ते के लोग उन्हें मानते और सहायता देते थे। पर उनके लान-तान और शराबखोरी की लत इस कदर बढ़ गई थी कि इससे उनके नशे-पानी का खर्चा चलता नहीं था। उनकी पत्नी ने उन्हें घर से निकाल दिया। खाना देना भी बन्द कर दिया। अब वे चोरी और उठाईगीरी पर उतर आये। रिश्तेदारी में जाते, १०-५ दिन खाते-पीते, मौज-मजा करते। शराब और शिकार की वहां कमी नहीं होती। चांदी के बर्तनों में खाना मिलता। और कुंवर साहब अवसर पा चांदी के बर्तन या जेवर-माल या जो कुछ भी हाथ लगे उठाकर चुपचाप चम्पत होते।

परन्तु इतने पर भी हाथ उनका खाली रहता था। जो पाते जुए और शराब की भेंट हो जाता। बहुधा वे किराये के इक्के-तांगे में सवार होकर घूमने निकल पड़ते, और अन्त में बिना ही किराया दिए चल खड़े होते। ऐसी हालत में इक्के-तांगे वाले उन्हें पकड़कर ठोक-पीट देते या हाथ की छड़ी-छाता, पैर के जूते, कोट जो भी पाते थे, छीन-छानकर भगा देते थे। अब पिता के मरने पर, रियासत से बरतरफ होने पर भी वे अपनेको कुंवर नहीं, राजा कहते थे। पर हाल राजा साहब का यह था जो अभी मैंने बयान किया। सब बातें हिज हाइनेस ने सुनीं। सुनकर उन्हें बुलाया, समझाया। पर नतीजा कुछ नहीं हुआ। अन्ततः महाराजाधिराज ने गुस्सा होकर उन्हें महल में कैद कर लिया। महल के बाहरी हिस्से के एक कमरे

में बन्द कर उसपर ताला जड़ दिया। एक बन्दूकधारी सन्तरी पहरे पर नियत कर दिया। महल के रसोड़े से दोनों समय उनके लिए भोजन आ जाता था। खाते थे और आराम से पड़े रहते थे। किसी न किसी तिकड़म से शराब भी मंगा ही लेते थे।

राजा थे, इसलिए धर्म-कर्म, पूजा-पाठ भी करना जरूरी था। पर यह काम करता था राजपुरोहित का तरुण पुत्र। यह ब्राह्मणकुमार कुछ मूर्ख और बातूनी था। जन्म-जन्म के संस्कारों के प्रभाव से इस जंगली, असभ्य, कंगाल दुराचारी कैदी को वह अन्नदाता और सरकार कहकर पुकारता। अनेक धर्मकथाएं सुनाता। उस भाग्यहीन ने बातों ही बातों में, इस बन्दर से मेरी भी चर्चा कर दी। चर्चा भी ऐसी-वैसी नहीं। खूब नमक-मिर्च लगाकर। उन दिनों मेरे जले रूप की जैसी झूठी-सच्ची शोहरत रियासत में फैली थी, इस नालायक ब्राह्मण कुमार ने उसमें भी रंग चढ़ाकर बन्दर राजा को सुनाना आरम्भ कर दिया। और अब यह बन्दर सबसे अधिक मुझमें दिलचस्पी लेने लगा। मेरी ही बातें खोद-खोदकर पूछने लगा। अन्ततः यह कामुक और दुराचारी राजा मेरे विरह में सुलगने लगा। और वह पाजी ब्राह्मण उसे अच्छी तरह सुलगाने लगा। राजा रात-रात-भर अब गन्दी गजलें गाता, अनेक कुचेष्टाएं करता। जो मेरे नाम से इस कदर संयुक्त हो गईं कि वे अब मुझ तक पहुंचने लगीं। परन्तु इसका कोई गंभीर परिणाम भी हो सकता है, यह मैंने कभी नहीं सोचा था।

एक दिन ज्योंही पहरेदार ने ताला खोलकर और भोजन का थाल लेकर भीतर प्रवेश किया, कि राजा चीते की भांति उछलकर उसपर टूट पड़ा। और जब तक पहरेदार सम्हले, वह बन्दर की भांति उछलकर कमरे के बाहर हो गया। द्वार पर रखी बन्दूक उसने उठा ली और देखते ही देखते आंखों से ओझल हो गया। यह कमरा महल के भीतरी आंगन में था। इसलिए पहरा और सिपाहियों का यहां कुछ विशेष प्रबन्ध न था। खास राजा का बड़ा भाई समझकर लोग 'सरकार', 'अन्नदाता' कहकर पुकारते थे। रुआब भी मानते थे। इसीसे इस आकस्मिक घटना से बेचारा अकेला पहरेदार हक्का-बक्का हो गया। कुछ क्षण तक तो उसके मुख से बात ही न निकली। पीछे वह राजा की खोज में भागा।

कहीं पता ही न था। उसने मन ही मन जो स्कीम बना ली थी, उसे कोई सोच भी न सकता था। वह सीधा हाथी खाने पहुंचा और बन्दूक फीलवान की छाती पर तानकर कहा, 'साले फीलवान, हाथी खोल।' बेचारा फीलवान डर गया। मामला क्या है, यह वह समझ न सका। उसने हाथी खोल दिया। राजा सूंड़ पर होकर हाथी पर चढ़ गया। फीलवान को हुक्म दिया कि हाथी मेरे महल के पिछवाड़े ले चलो। ज्योंही हाथी महल की पिछली फसील के पास पहुंचा, यह बदमाश राजा धम्म से मेरे महल में हाथी से कूद पड़ा। बन्दूक अब भी उसके हाथ में थी। आंखों में खून तैर रहा था, सूरत उसकी एक खूंखार जंगली भैंसे या गैंडे के समान भयानक दीख रही थी। उस समय दैवयोग से मैं अकेली ही अकेली शयन-कक्ष में आराम कर रही थी। केसर बच्चे के पास थी। और किसुन किसी काम से गया था। राजा बन्दूक लिए एकदम मेरे पलंग पर चढ़ बैठा। और मैं जरा सम्हल कर उठी तो एक धक्का देकर मुझे गिरा दिया। क्षण-भर ही में मैं आसन्न विपत्ति को समझ गई। बहुत बार इस राजा की बेहूदी हरकतों पर मुझे हंसी आई थी। बहुत बार घृणा हुई थी। परन्तु इस बार तो क्रोध से मैं जल उठी—न जाने कहां से मेरे शरीर में दैत्य का बल आ गया। राजा मेरे ऊपर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था कि मैंने उसकी टांग खींचकर नीचे गिरा दिया। गिरते ही बन्दूक उसके हाथ से छूट गई। बिजली की तरह लपककर मैंने बन्दूक उठा दोनों हाथों से उस-पर एक भरपूर वार किया। वार करारा बैठा और उसका सिर फट गया। सिर से खून बहने लगा। पर मुझे इसकी क्या चिन्ता थी। मैं तो उसे जान से मार डालने पर आमादा थी। मैंने बन्दूक की नाल सीधी उसकी छाती पर तानकर घोड़े पर हाथ डाला। एक ही क्षण में इस पतित की मुक्ति का अवसर आ लगा था। पर इस कायर कुकर्मी ने एकदम हाथ जोड़कर मेरे पांव पकड़ लिए और गिड़गिड़ाने लगा। उसी समय बहुत-से सिपाही, किसुन और दूसरे लोग महल में घुस आए। परन्तु किसीका हियाव उसपर हाथ चलाने का न होता था। यह देख मेरा खून खौलने लगा। बन्दूक मैंने फेंक दी और बेंत उठाया, फिर तो मैंने गिना नहीं देखा नहीं। जिस ढब पड़ा मैंने वह मार मारी कि पीछे मुझे भी आश्चर्य

हुआ। राजा निरीह भाव से पिटता रहा। जब मैं ही थककर बेदम हो गई तो बेंत को फेंककर सिपाहियों से कहा, "ले जाओ इस जानवर को माहाराजाधिराज की सेवा में।" पर कैसे आश्चर्य की बात थी, इतने पर भी किसीकी हिम्मत उसे छूने की न हुई। तब मैंने ही उसे दुत्कार कर भाग जाने को कहा। और वह चुपचाप वहां से चल दिया। उसके पीछे ही सब सिपाही आदि भी चले गये। सिर्फ किसुन रह गया। वह भयभीत नजर से मेरी ओर देख रहा था। भय उसका गलत न था। एक गोली की यह हिम्मत कि राजवंशी पर हाथ उठाए। अन्नदाता को बेंत लगाए, जिसे महाराजाधिराज दादाभाई कहकर पुकारते हैं। परन्तु मैं उसी भांति सन्तुष्ट थी मानो कोई अत्यन्त मनोरंजक तमाशा मैंने देखा हो। मैं खुश थी अपने वीरत्व पर जिसकी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। किसुन ने डरते-डरते कहा, "अन्नदाता सुनकर क्या कहेंगे?"

मैंने दर्प से जवाब दिया, "कोल्हू में पिलवा देंगे। बस?"

पर किसुन ने मुझसे बहस नहीं की। वह कमरे की अस्त-व्यस्त सामग्री को ठीक करने में लग गया।

जब यौवन का ज्वार उतरने लगा

दिन बीते, मास बीते। वर्ष पर वर्ष बीत गए। इस बीच मैंने तीन और सन्तानों को जन्म दिया। तीनों पुत्रियां। इन सबके लालन-पालन का पूरा भार किसुन पर था, इसलिए किसुन का बहुत-सा समय बच्चों की ही सार-सम्हाल में बीत जाता था। सब बातों का ध्यान मैं यत्न से रखती थी। किसुन को खर्च-पानी का कष्ट नहीं होने देती थी। रु
कमी न थी। महाराज के नये से नये वस्त्र, शाल-दुशाले
दे देती। मेरे अटाले से अच्छे से अच्छा भोजन उसे मिल
जूठे थाल पर तो उसीका अधिकार था। प्रतिदिन

को सजा-धजाकर वह मेरी ड्योढ़ियों में जुहार कराने लाता था। अपनी चाकरी पर वह मेरे निकट अधिक रहना चाहता, पर मैं आग्रहपूर्वक उसे बच्चों के पास भेज देती। बच्चों की सार-सम्हाल के लिए मैंने एक दासी और दो नौकर भी उसे दे दिए थे और मेरी ताकीद थी कि वे उसे स्वामी की ही भांति मानें। पर किसुन का व्यवहार उनके साथ भी सदैव कोमल सहयोग का रहा।

बड़ा पुत्र अब मेरा सत्रह वर्ष का था और सबसे छोटी बच्ची तीन साल की। बड़ा पुत्र यह समझता था कि मैं ही उसकी मां हूं, पर वह ज्यों-ज्यों

ना होता गया, वह समझता गया कि वह जन्मजात गोला है। सुन को वह बापू कहता था और महाराज को अन्नदाता तथा मुझे सर-र। मुझे ऐसे भी अवसर मिले जब मैंने उसे अंक में भरकर बेटा कहा। से आंख से आंख मिलाकर कहा, "मैं तेरी मां हूं, मुझे मां कह।" पर

वह सदा हंसकर, लजाकर आंखें नीची कर लेता। उसे एक बार भी मुझे मां कहने का साहस न होता। पर अपने हृदय में वह जान अवश्य गया था कि मैं ही उसकी मां हूं। सो उसके नेत्रों में जब किसी स्नेह, प्यार और आत्मीयता की चमक मुझे दीख जाती थी तो मेरे अन्धकारपूर्ण मन-मन्दिर में बिजली-सी कांप जाती थी। जवानी का वह ज्वार, जो भावना की हिलोरों के कारण तूफानों से भरा रहता है, अब मन्द हो चला था। और इन दस वर्षों के इस द्वैध जीवन ने मुझे समुद्र की भांति गम्भीर बना दिया था। इस बीच मैं दो बार और समूचे यूरोप, जापान और अन्य द्वीप खण्डों में घूम आई थी। मेरा ज्ञान मेरे अनुभवों तथा भावनाओं का सहारा लेकर काफी परिष्कृत हो चुका था। मेरी आयु अब पैंतीस को पहुंच रही थी। अब भी तारुण्य मेरे अंग-अंग में व्याप्त था। इस बीच एक बार भी किसी गम्भीर रोग से आक्रान्त नहीं हुई थी। मेरा रूप अब भी निखरा पड़ता था और राजा एक प्रकार से अब भी मेरे अनुगत दास थे। मेरी किसी भी इच्छा की वह अवहेलना नहीं कर सकते थे। मेरे महल में आकर अलस भाव से दारू पीना और पड़े रहना एक प्रकार का उनका व्यसन हो गया था। मैं भी अब उतनी अदब-कायदे की पाबन्दी नहीं करती थी। महल में सब कोई मुझे रानी ही के समान आदर करते थे। केवल एक पुरुष था जो इसका अपवाद था, वह था लाल जी खवास। वह अब भी मुझे गोली ही समझता था। 'चम्पाबाई' कहकर पुकारता था। कभी सलाम-मुजरा नहीं करता था और चाहे जब बिना इत्तला किए मेरे महल में आ धमकता था। वह राजा से भी अधिक निर्द्वन्द्व था और उसमें मेरी कुछ भी पार नहीं पड़ती थी। मैं उसे घृणा की दृष्टि से देखती थी, यह बात वह जानता था और समय-कुसमय व्यंग्य-वाणी से उसका बदला भी चुकाता था। लेकिन किसुन वीरता से उसका मुकाबला करता। कभी-कभी दोनों की झड़प हो जाती थी। तब किसुन उसे खूब आड़े हाथों लेता था। इससे मुझे प्रसन्नता होती थी।

थे। एक काटन प्रेस रियासत में ही खुलवा दिया था। इस सवकी देख-रेख, हिसाव-किताव किसुन ही रखता था। रुपया-पैसा भी वही रखता। मेरे वैंक का हिसाव भी सव उसीके सुपुर्द थे। एक प्रकार से वही मेरा दरवान, खजांची और सलाहकार था। वह खूव सावधान होकर कौड़ी-पाई का हिसाव रखता था और समय-समय पर मुझे समझाता रहता था। मैं तो अपनी ओर से उसे ही अपने सर्वस्व का मालिक समझती थी। पर वह मेरा सारा काम केवल सेवा-भाव से करता था। उसका मुझे वड़ा सहारा था, भारी भरोसा था। वह मेरी जीवन-नैया का खेवैया था। अव और क्या कहूं, अपने इस अधम गुलाम शरीर को छोड़कर, जो अन्नदाता का था, और सव कुछ मैं किसुन को दे चुकी थी, अपना मन और धन। केवल तन पर मेरा हक न था। वह स्त्री-धर्म के अधीन नहीं, गोली-धर्म के अधीन था।

विचित्र गृहस्थी

अंग्रेजी और हिन्दी का मुझे अच्छा ज्ञान हो गया था। मैं अच्छी-च्छी पुस्तकें पढ़ने में रुचि रखती थी। पढ़ने-लिखने का मुझे अवकाश ी अवकाश था। दिन में वहुत कम महाराज मेरे महल में पधारते थे, ात को भी रोज नहीं आते थे। अत: मेरा सवसे प्रिय व्यसन पठन-पाठन ो गया था। पहले मैं धार्मिक पुस्तकों में रुचि रखती थी। गीता को मैंने ढ़ना चाहा। उसको अधिकांश कण्ठस्थ भी किया, पर उसमें मेरा मन न गा। महाभारत, वाल्मीकि रामायण मैंने खूव चाव से पढ़ा। परन्तु अव ुझे साहित्य का चस्का लग गया था। इसका आरम्भ मीरावाई की ंविता से हुआ। राजस्थान में मीरा के पद वहुत प्रसिद्ध हैं। महलों में वे ायः गाये जाते थे। मैंने भी कई पदों का गान सीखा था। मीरा की कविता के ही कारण मेरी रुचि धर्मग्रन्थों से हटकर साहित्य पर जा

लगी। आरम्भ में मैंने उपन्यास-कहानी पढ़े, पर पीछे तो साहित्य
अच्छी-अच्छी पुस्तकों को पढ़ने में मेरा मन लगता गया।

वार-वार विलायत-यात्रा करने से मेरी सामाजिक झिझक दूर
गई थी। अब तो अन्नदाता के अधीन केवल मेरा शरीर था। इस ब
को छोड़कर और किसी तरह से मैं दासी न थी। सम्पूर्ण रूप में मैं रा
की ही भांति रहती थी। मैं सदा सामाजिक कार्यों में भाग लेती, दि
खोलकर चन्दा देती। स्वयं समारोहों में सम्मिलित होती। परदे क
बन्धन तो अब भी था, पर मैंने बहुत अंशों में उसे तोड़ दिया था। यद्य
मैं खुले आम बहुत कम निकलती थी, फिर भी घूंघट मैंने त्याग दि
था। जब निकलती थी तब खुले मुंह। महाराज ने मुझे ऐसा करने क
अनुमति दी थी। वह कभी मेरे रूप पर रीझे थे, अब मेरे गुणों पर मोहि
थे। कठिन समय पर वह मेरा सहारा लेते थे। मन की खिन्नता में व
मेरे पास आकर प्रसन्न होते। उनके जीवन में भी कठिनाइयां थीं। उन
हम मिलकर हल करते। यद्यपि फिजूल-खर्ची रियासतों में बहुत होत
थी, तथापि वह एक परिपाटी ही थी। उससे बचा नहीं जा सकता था
रण्डी, भांड और अन्य कलावन्त आते थे। इनाम-इकराम पाते थे। इन
खर्चा होता था, पर वह उस खर्च की समता न करता था जो अंग्रे
हाकिमों के दौरे पर होता था। मुझे याद है, मेरे सामने दो बार वाइस
राय रियासत में पधारे और हर बार ५-६ लाख रुपया खर्च हुआ, यद्य
वह ठहरे केवल २-३ दिन ही। दरबार इन अंग्रेज मेहमानों से बहुत भ
खाते थे; खास कर वाइसराय से। ये रियासत में राजा को डांट-फटका
लगाने, उनकी अयोग्यताओं की कैफियत सुनने-सुनाने, धमकी देने औ
उनपर यह प्रकट करने आते थे कि हम तुम्हें अत्यन्त अयोग्य समझते
केवल कृपापूर्वक तुम्हें राजा बनाए हुए हैं। वास्तव में राजा उनके साम
एक पालतू कुत्ते से अधिक हस्ती नहीं रखता था। इसीसे जब ऐसे राज
मेहमान आते, रियासत-भर में गाजे-बाजे, सवारी-रोशनी, दावत-शिका
आदि की धूम मचती। तब महाराजाधिराज थककर, प्रायः बौखलाए हु
बेंत से पिटे हुए कुत्ते की भांति मेरे महल में आ पड़ते थे। एक बार तो मैं
उनकी आंखों में आंसू भी देखे। पर मैं सदैव उन्हें ढाढ़स देती।

वीरता से कठिनाइयों का सामना करने की सलाह देती। वहुत वार मैंने उन्हें विपत्ति से उवारा। एक वार तो मुझे अपना सारा संचित धन, हीरे-जवाहरात और जेवर निछावर कर देने पड़े।

मैं दवंग भी थी। प्रकृति मेरी वचपन से ही सतेज थी। अव राज-वैभव, सुख-सुविधा, यूरोप-यात्रा और शिक्षा के प्रभाव से मैं और दवंग हो गई। मेरा यह दवंगपन महाराज को पसन्द था। वह कहते "चम्पा, तू राजा वन जा और मैं तेरा चाकर वन जाऊं।" इसपर मैं केवल एक मीठी मौन मुस्कान से ही अपेक्षित उत्तर देती थी। मेरे विद्या-व्यसन को वह जानते थे, पसन्द करते थे। वे स्वयं विद्वान और विद्या-व्यसनी थे। पर पढ़ने-लिखने के लिए वहुत कम समय उन्हें मिलता था। सुवह का

वहुत-सा समय उनका पूजा-पाठ में वीतता और शाम का शराव की लत में। राज-काज भी वह कुछ देखते थे। पर हकीकत में वह इसके लिए योग्य पुरुष न थे। राजा की अपेक्षा वह प्रेमी अधिक थे। महल में और कोई भी स्त्री मेरी भांति विद्या-व्यसनी न थी। धर्म-कर्म, पूजा-पाठ का ढकोसला मुझे रुचिकर न था। यह सव पहले भी मैं कम ही करती थी,

अब तो प्रायः छोड़ ही दिया था। यहां तक कि श्रीजी के दर्शन भी खास-खास अवसरों पर ही करने जाती थी। राजपुरोहित मेरे महल में आकर ही नित्य चरणोदक दे जाते थे। राजा मुझे नास्तिक कहकर और कभी मेम साहब कहकर मेरी हंसी उड़ाते थे, पर कभी बुरा नहीं मानते थे। उन्हें गुस्सा बहुत आता था, पर मुझे देखकर वह उतर जाता था। मैं तो केवल एक बार उनके चाबुक से पिटी। फिर तो उन्होंने बहुत बार मेरे सम्मुख उस करनी के लिए खेद प्रकट किया। शराब की उन्हें बुरी लत थी। शराब पीकर वह आपे से बाहर हो जाते थे, पर मैं सदा उन्हें शराब से दूर रखने की चेष्टा करती। बहुधा उन्हें उत्तम पुस्तकें पढ़कर सुनाती। कविता सुनने में उन्हें रस आता था। वह कभी-कभी कविता रचते भी थे। वह जब कभी रियासत से बाहर जाते मैं उनसे अच्छी पुस्तकें लाने की फर्माइश करती और वह मेरे लिए पुस्तकें लाना कभी न भूलते। इस प्रकार मेरे पास उत्तम पुस्तकों का एक बड़ा संग्रह हो गया था।

महाराज को केवल संगीत सुनने का ही शौक न था, वह स्वयं संगीतज्ञ भी थे। उन्होंने मुझे खुद संगीत का शौक कराया। आरम्भ में उन्होंने ही मुझे इसराज-सितार और गायन सिखाया। बाद में उस्ताद जी को रखा। मैं अच्छा गाने लगी थी। हां, उन जैसा सितार न बजा सकती थी। वह बहुधा मेरे महल में आकर बड़ी रात तक स्वयं तबला बजाते और मेरा आलाप सुनते, कभी स्वयं भी आलाप लेते। तबला बजाने में किसुन भी सिद्धहस्त था। वह भी हमारी संगत में बहुधा रहता। उसकी उपस्थिति से मैं प्रसन्न होती थी। कभी-कभी मैं महाराज की अनुपस्थिति में भी गाने बैठ जाती। तब भी किसुन तबले पर संगत करता था।

अब मुझे अपनी सन्तान को उच्च शिक्षा दिलाने की धुन सवार थी। मैंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि चाहे जो भी हो जाए, मैं उन्हें गोले-गुलाम का जीवन नहीं व्यतीत करने दूंगी और उन्हें सभ्य तथा प्रतिष्ठित नागरिक बनाऊंगी। उनके लिए मैंने अच्छी-सी रकमें रियासत से बाहर बैंकों में जमा कर दी थी। मेरा ब
दस वर्ष का था, तभी मैंने महाराज से बहुत-बहुत आग्रह क
मेर के मेयो कालेज में भरती करा दिया था, जो केवल

लिए खोला गया था। वहां उसके लिए एक प्रतिष्ठित विद्वान गार्जियन भी नियुक्त कर दिया था, जिसका पूरा खर्चा मैं देती थी। इस साल वह वहां से ग्रेजुएट होकर कानून पढ़ने बम्बई चला गया था।

किसुन को भी मैंने विद्या-व्यसनी बना दिया था। उसके रहन-सहन, कपड़े-लत्ते का मैं पूरा ध्यान रखती थी। बहुधा मैं उसे पुस्तक पढ़कर सुनाती और छांट-छांटकर पुस्तकें पढ़ने को देती थी। मेरे बड़े पुत्र को वह लाल साहब कहता था। मैं भी उसे लाल साहब ही कहकर पुकारती थी। वह जब कालेज चला तब किसुन बड़ा अधीर हो गया। उससे उसे बहुत प्यार हो गया था। वह उसे बापू कहता था। पर अब उस कमी को वह मेरी तीनों पुत्रियों का लालन-पालन करके पूरी करता था। अभाव में भाव और भाव में अभाव—जैसे भी समझा जाए, हमारी विचित्र गृहस्थी इस तरह लुढ़की चली जा रही थी।

लाल जी की शत्रुता

लाल जी खवास रंगमहल में मेरा एकमात्र शत्रु था। जिस दिन मैं रंगमहल में आई और इस आदमी पर मेरी दृष्टि पड़ी, उसी दिन मेरा मन इसके प्रति घृणा से भर गया। इसके बाद जब मैंने इसके सारे चरित्र सुने-जाने तब से मैं इसे तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगी। वह भी मेरी दृष्टि को पहचान गया। भला, यह कैसे सम्भव हो सकता था कि जिसका रंगमहल पर अबाध शासन चलता हो, उसे एक जन्मजात गोली-गुलाम तिरस्कार की दृष्टि से देखे! उसे तुच्छ समझे! वह तो रानियों तक को कुछ न समझता था। बस, आरम्भ ही से मेरी उसके साथ ठन गई। सभी लोग उसे बाबा साहब कहते थे। पर मैं उसे 'खवास जी' कहकर ही पुकारती थी। मेरा यह सम्बोधन भी उसे सह्य न था। उसने भी मुझे नाम लेकर 'चम्पाबाई' कहकर पुकारना आरम्भ किया। पर मुझे यह पसन्द न

था। मैंने उसके लिए ड्योढ़ी बन्द कर दी, परन्तु वह रंगमहल का तो एक प्रकार से सुपरिण्टेण्डेण्ट ही था। रंगमहल की सभी स्त्रियों की आवश्यकता की पूर्ति वही करता था। इसीका उसे घमण्ड भी था। पर मैंने सारी असुविधाएं सहन कीं और मैं इस पशु के सामने नहीं झुकी। मेरे इस काम में किसुन ने सहायता की। वह जब भी मेरी ड्योढ़ी में आता, किसुन बाहर ही उससे बात करता। उसे भीतर आने न देता। वह कहता, "जैसे हम गोले-चाकर हैं, वैसे ही तुम भी चाकर-खवास हो। हमारे अन्नदाता नहीं हो। फिर कैसे हमारी सरकार को नाम लेकर पुकारते हो। तुम सरकार कहो और मुजरा-जुहार करो तो तुम्हारे लिए ड्योढ़ी खुल सकती है, नहीं तो नहीं।" उसने अन्नदाता से भी शिकायत की, पर उन्होंने कुछ कान नहीं दिया। इसीसे वह सदा मुझे तेल की धार में होकर देखता था। कहना चाहिए, सदैव मेरी जड़ काटने पर आमादा रहता था। पर मैं उसे मुंह नहीं लगाती थी। उसे तुच्छ और कमीना समझती थी।

मैं जान गई थी कि महाराज को जितनी बुरी लतें थीं, वे सब इसी आदमी ने लगाई थीं। यह मनुष्य के रूप में पक्का शैतान था। सम्भव है यदि रियासत में यह पुरुष न होता तो महाराज के अच्छे गुणों का और अधिक विकास होता। महाराज पूरी तरह से इसके चंगुल में फंसे थे। रंगमहल पर तो इसका अबाध शासन था ही। केवल मैं इसके शासन को नहीं मानती थी। इसीसे यह मुझे तुच्छ गोली-गुलाम की नजर से देखता। फिर गोली तो मैं थी ही। पर अपने गुणों तथा शिक्षा के कारण और आत्म-प्रतिष्ठा की भावना से ओत-प्रोत होने से मैं अपनेको अब उतना हीन नहीं समझती थी और समय-समय पर उसका तिरस्कार कर बैठती थी। इसलिए इसने महाराज का मन मुझसे फेरने में बड़े जोड़-तोड़ लगाए। पर चाहे मेरे रूप-गुणों से कहिए, चाहे सेवा-निष्ठा से कहिए, चाहे स्वयं महाराज की शालीनता से कहिए, एक बार जो उनका मन मुझसे मिला सो मिला। मैं तो यही समझती रही। पर भीतर ही भीतर जो विष का पौधा पनप रहा था, उसे मैंने उस समय जाना ही नहीं था। महाराज सब कुछ उसकी सुनते थे, पर मेरे विरुद्ध कुछ भी नहीं कहते थे। हां, उसके विपरीत भी नहीं सुन सकते थे। महाराज की मर्जी के खिलाफ

मैं उन्हें चिढ़ाना पसन्द नहीं करती थी। अतः मैं कभी अपने और उसके बीच के विवाद को महाराज तक नहीं ले जाती थी। स्वयं ही मैं इससे निबट लेती थी। इस काम में किसुन मेरे साथ था। वह एक वीर पुरुष की भांति इस नर-पिशाच से मेरे पक्ष में लोहा लेता था। अन्त में तो मुझे इस नर-पशु के षड्यंत्र का शिकार होना ही पड़ा।

वासुदेव महाराज

लाल जी खवास का एक और समर्थ प्रतिद्वन्द्वी रंगमहल में था, जो उसका अदल नहीं मानता था। वह था रंगमहल के रसोड़े का मुखिया वासुदेव महाराज। बड़ा टेढ़ा था वह ब्राह्मण। रंगमहल में यह पुरुष हीरा था। इसपर अन्नदाता का भी शासन नहीं चलता था। रंगमहल में यह महाराज के नाम से पुकारा जाता था। परन्तु रिसायत के बहुत-से तरुण उसे गुरुजी कहते थे। अवस्था उसकी साठ को पार कर गई थी। हाथी के समान डीलडौल। सिर और दाढ़ी-मूंछ सफाचट। हाथ में मोटा सोटा। मोटे खद्दर का एक कुर्ता और धोती। पैर में राजस्थानी जूता। विविध पक्वान्न बनाने में दक्ष। छुरी, तलवार, कटार और कुश्ती के दाव-पेंच में उस्ताद। पढ़ा-लिखा कम, पर सैकड़ों संस्कृत के श्लोक, फारसी के शेर, भिन्न-भिन्न भाषाओं की कहावतें उसके कण्ठ पर रहती थीं। कुछ हकलाकर बोलता था, पर बात-बात में श्लोक, कवित्त और शेर का पुट लगाकर जब वह अपनी वक्तृत्वकला का विस्तार करता था तब रंग आ जा जाता था। अकेली जबान का ही उसे जोर न था, उसकी सहायता के लिए हाथ का सोटा सदा प्रस्तुत रहता था। रंगमहल में ही नहीं, राजधानी में कहीं किसीपर कुछ अत्याचार हुआ नहीं कि वासुदेव महाराज बुलाए गए, या बिना बुलाए वहीं हाजिर हो गए। अच्छे-अच्छे व्यंजन बनाना और जिन पर प्रसन्न हों उन्हें खिलाना उनका व्यसन था। राज्य से १००) रु० माह-

वार मुशाहरा उन्हें मिलता था, पर यह तनख्वाह न थी, पेन्शन थी, क्योंकि उनसे काम-काज की कोई बात नहीं पूछता था। नाम के वह प्रधान रसोइया थे, पर रसोड़े पर वह केवल देख-भाल ही रखते थे। अपने हाथ से कोई काम नहीं करते थे। देख-भाल भी मनमौजी थी। कुछ आवश्यक न था कि वह रसोड़े में हाजिर ही हों। बस, उनके डण्डे का प्रताप पुजता था। सब काम आप ही आप सब लोग ठीक-ठाक करते रहते थे। दीन-दुखियों की सहायता करने तथा पक्ष लेने के कारण लोग उन्हें प्यार करते थे। नगर में बहुत-से तरुण उनके शागिर्द थे, जिनके लिए उन्होंने अपने घर में अखाड़ा बना रखा था। वहां उन्हें वह कुश्ती तथा छुरी-तलवार के पेंच सिखाते थे। उनकी गालियां सुनकर लोग खुश होते थे। अपने डण्डे को वह निर्भयराम कहते थे। 'चलो बेटा निर्भयराम' उनका तकिया-कलाम था। जब डण्डा हाथ में उठाकर चलते तब यही वाक्य उच्चारण करते थे। जिस तरह मेरे रंगमहल में आते ही खवास अकारण ही मेरा वैरी बन बैठा था, उसी तरह अकारण ही यह ब्राह्मण भी मेरा मित्र बन गया। किसुन उससे कुश्ती लड़ना और तलवार चलाना सीखता था। अच्छा बदन था किसुन का। वह वासुदेव महाराज को गुरु जी कहता था और उनकी अच्छी सेवा करता था। वासुदेव भी किसुन को 'बेटा जी' कहते थे। उससे मिलकर खुश होते थे। वासुदेव महाराज से मेरी भी पटरी बैठ गई। मेरे महल की ड्योढ़ी उनके लिए सदा खुली रहती थी। हम दोनों में शीघ्र ही घनिष्ठता बढ़ गई। हम दोनों ने एक-दूसरे के विशिष्ट नामकरण कर डाले। वासुदेव मुझे 'चम्पाकली रानी' कहते और मैं उन्हें 'बाप जी' कहती। बहुधा वह मेरे लिए कुछ न कुछ खाने की वस्तु बनाकर लाते। एक रोज लाए करेले का मुरब्बा। हरे रंग की बिल्लौरी प्याली में रखकर बड़े सुचारु रूप से वह मुरब्बा मुझे पेश किया और उन्होंने कहा, "चम्पाकली रानी, देखो क्या नायाब चीज लाया हूं तुम्हारे लिए।" मैंने हंसकर नमस्कार किया। चौकी पर बैठते हुए बोले, "देखो, चम्पाकली रानी, मेरे पास सोने-चांदी के पात्रों की कमी नहीं। फिर क्या कारण है कि मैंने तुम्हें इस बिल्लौर की प्याली में यह नायाब मुरब्बा पेश किया?" मैंने कहा, "यह तो सीधी बात है, एक तो करेले का मुरब्बा, फिर उसका असली

रूप-रंग, इसकी बहार इसी प्याली में प्यारी लग सकती है। भला सोने चांदी की प्यालियों में यह बात कहां?" मेरा जवाब सुनकर वह ठठाक हंस पड़े। बोले, "जीती रहो, जीती रहो। बड़ी जहीन हो, भगवान् तुम्हार उम्रदराज करे। लो, अब जरा चखकर भी देखो। मजा करेले का भ कायम है और मुरब्बे का भी।"

एक रोज एक थाल कलाकन्द ले आए और लगे कलाकन्द की खूबिय बयान करने। मुझसे पूछा, "तुम्हें बर्फी पसन्द है या कलाकन्द, चम्पाकल रानी?" मैंने हंसकर कहा, "मुझे तो कलाकन्द ही ज्यादा पसन्द है। कहने लगे, "तो चखकर देखो, कैसा बना है?" एक डली मुंह में डालक मैंने तारीफ की, "बहुत उम्दा बना है।"

"उम्दा कलाकन्द की क्या पहचान है, बताओ तो? और बर्फी तथ कलाकन्द में क्या फर्क है, यह भी बताओ।"

अब मैं क्या बताऊं, खाक या पत्थर? "इन बारीक बातों को भल मैं क्या जानूं?" मैंने झेंपते हुए कहा। तब बोले, "राजाओं की सोहब में रहती हो। बर्फी तो वह उम्दा, जो मुंह में डालते ही घुल जाए। औ कलाकन्द उसका नाम कि एक डली दीवार पर मारो तो रवा-रव बिखर जाए। अब देखो तो जरा, इस डली में दाने का क्या उभार आय है।"

एक बार उन्होंने मुझे दावत दी। मेरे ही महल में विविध पक्वान बनवाए। एक-दो चीजें अपने हाथ से भी बनाई। बड़े शौक और प्यार थाल परसकर मेरे पास लाए। ज्यों ही मैंने पूरी का टुकड़ा तोड़ा, तड़ा से बोले, "भैंस हो भैंस तुम, चम्पाकली रानी! बस देखने को ही चम्पाकल हो। खाने की तमीज नहीं।"

मैंने घबराकर हाथ खींच लिया। डरते-डरते कहा, "कहां चूक ह गई बाप जी?" तो हकलाते हुए गुस्से से बोले, "भुक्खड़ की तरह पूरी प टूट पड़ी। जैसे छप्पन के अकाल की मारी हुई हो। अरे, यह हलुआ त पहले चखो, जिसे मैंने सिर्फ तुम्हारे लिए अपने हाथ से बनाया है।" औ जब मैंने हलुआ खाकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, तब उन्होंने दम-बी हलुए के नुस्खे बयान कर डाले। ऐसे ही मस्त जीव थे वासुदेव महाराज

उनकी गालियां बड़ी प्यारी लगती थीं। प्यार में ही वह गाली देते थे। भावुक ऐसे कि बात करते-करते रो उठते थे। जब तबियत ऊब जाती तब मेरे महल में आ बैठते। जब मेरे बच्चे हुए तब उनका सारा ही प्यार बच्चों पर उमड़ आया। घण्टों बैठकर उन्हें खिलाते, पेट पर उछालते। बहुत बार मैंने उन्हें रुपया-पैसा और भेंट-नजर देना चाहा। पर उन्होंने कभी मेरा दान स्वीकार नहीं किया। जब कभी ऐसा प्रसंग आता तब हंसकर अपना डण्डा ऊंचा करके कहते, "सुनते हो निर्भयराम, चम्पाकली रानी इस ब्राह्मण को आज दान देना चाहती है।" और हो-होकर हंसते हुए चल देते।

महाराजाधिराज की भी वह परवाह नहीं करते थे। इसका कारण यह था कि उनकी वृद्धा माता, जो अब अस्सी बरस से भी अधिक आयु की थीं, राजमाता की गुरु थीं। वह उन्हें गीता-पाठ सुनाती और पूजा कराती थीं, इससे वासुदेव महाराज राजमाता से जो चाहे कहा लेते थे। उनकी कहीं कोई दाद-फर्याद न थी।

रसोड़े के सब कर्मचारी रसोइये उनसे डरते भी थे, उन्हें प्यार भी करते थे। पर कभी-कभी कोई दुष्टता भी कर बैठता था। एक बार मैंने गोठ की और अन्नदाता को बुलाया। और भी सरदार आने वाले थे। मैंने राय में ही कह दिया था कि खीर अवश्य बनाना। खीर के लिए अन्नदाता ने खास फर्माइश की थी। कोई एक और राजा राज अतिथि भी उस गोठ में महाराजाधिराज के साथ पधारने वाले थे। इसलिए गोठ की व्यवस्था जरा ठाट से की गई थी। वासुदेव महाराज ने और सब व्यंजनों को बनाने का भार रसोड़े के अन्य सेवकों को बांट दिया था और खीर स्वयं अपने जिम्मे ली थी। वह दूध को चूल्हे पर मन्दाग्नि में पकाने को रख, उसमें अमुक मात्रा में चावल देने का आदेश अपने सहायक को देकर स्वयं मेवा तराशने आ बैठे थे। खीर की चिन्ता मुझे भी थी। अतः एक-दो बार मैंने याद दिलाया था। वासुदेव महाराज स्वयं ही यह व्यंजन बना रहे थे, इससे मुझे सन्तोष था। परन्तु सहायक ने बड़ी दुष्टता की। उसने दूध को ठीक-ठीक नहीं पकाया। आग तेज कर दी और चावल अ[illegible]

परिणाम यह हुआ कि जब वासुदेव महाराज उसमें मेवा[illegible]

वह जल-भुनकर भात का चक्का बन चुका था। देखते ही वासुदेव महाराज एड़ी से चोटी तक जल उठे। वह ऐसे जोर से गरजे कि एक बार तो सभी लोग स्तम्भित हो उठे। पर दूसरे ही क्षण उन्होंने असीम धैर्य, चातुर्य और प्रत्युत्पन्नमति से काम लिया। समय अब बिल्कुल न था, क्योंकि कांसा आरोगने की वेला उपस्थित थी और खीर की खास फर्माइश थी, अतः खीर परोसना अनिवार्य था। सहायक ने जान-बूझकर वासुदेव महाराज को नीचा दिखाने को यह दुष्टता की थी। अब एक-एक क्षण मूल्यवान था। तत्काल उन्होंने अपना मलमल का कुर्ता फाड़ डाला और यह भात का चक्का उसमें डाल जितना सम्भव था मथकर छान लिया। फिर ताजा मक्खन कड़ाही में चढ़ा उसे भूना और मेवा डालकर अनुपात से पका, केवड़ा, केसर-कस्तूरी आदि सुगन्ध डाल, चांदी की तश्तों में ढाल, बर्फ में दबा दिया। फिर उसपर सोने के वर्क लगा दिए। और जब तक दूसरी जिन्सों की परसगारी हुई, वासुदेव महाराज ने खुद तश्तरियों में वह निराली खीर ले महाराजाधिराज के सम्मुख पेश की। हाथ जोड़कर अर्ज की, "खीर हाजिर है, अन्नदाता!" महाराज ने मुस्कराकर तश्तरी अपने मान्य अतिथि राजा के सम्मुख पेश की। अतिथि महाराज ने ज्यों ही चम्मच में खीर लेकर चखी, त्योंही वाह-वाह कह उठे। बोले, "खूब बनी। लेकिन यह कैसी खीर कहलाती है?"

राजस्थान में विशिष्ट खाद्य पदार्थों के नाम अवश्य पूछे जाते हैं और उनकी तारीफ होती है। अतिथि महाराज के प्रश्न के उत्तर में वासुदेव महाराज ने खट से हाथ जोड़कर अर्ज की, "यह घोटा खीर है माई-बाप!" अथिति ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। और इसपर वासुदेव महाराज को अन्नदाता ने सरोपा दिया तथा वह घोटा खीर तब से राज्य के विशिष्ट भोजों में एक अनिवार्य और प्रसिद्ध खाद्य बन गई।

ज्योनार बीत गई। अब वासुदेव महाराज थे और वह बदनसीब सहायक। प्रथम तो निर्भयराम से उसका भली भांति सत्कार हुआ और उसके बाद तो बस कुछ पूछिये मत। बहुत बार मैंने भी उसकी हिमायत ली, पर वासुदेव महाराज ने उसे ऐसा रगड़ा कि वह अधमरा हो गया। ऐसे ही थे वासुदेव पण्डित। अनेक कठिन अवसरों पर उन्होंने मेरी मदद

की। आवश्यकता होने पर वह सामर्थ्य से भी अधिक कर गुजरते थे। एक घटना सुनिए—दाता का स्वर्गवास हो गया और ठिकाना उनका खाली हो गया। ठिकाने का कर्जा चुकाने के लिए बहुत-से फालतू सामान, जवाहरात और जेवर नीलाम किए गए। इन जेवरों में मेरी मां की एक नथ भी थी, जिसकी कीमत तीन लाख थी। उन दिनों मेरी मां रियासत में आई हुई थी। उसने वासुदेव महाराज ने उस नथ की चर्चा की। सुनकर उन्होंने कहा, "देखूंगा।" ठीक समय पर जब नथ नीलाम की जा रही थी तब महाराज भी आ धमके। जौहरियों का बंधा नियम है कि जब रियासतों में कीमती जवाहरात नीलाम होते हैं तब वे चाहे बम्बई, कलकत्ता, जयपुर कहीं के भी हों, गुट बना लेते हैं और थोड़ी घटा-बढ़ी के बाद बोली नहीं बढ़ाते। लाखों का माल वे कौड़ियों में खरीद लेते हैं और पीछे माल बेचकर मुनाफा बांट लेते हैं। वासुदेव महाराज सब जानते थे। जब नथ पर बोली लगी तब जौहरी लोग बारह हजार लगाकर रुक गए। आगे किसीने बोली नहीं बढ़ाई। वासुदेव महाराज ने खड़े होकर बोली दी, "साठ हजार रुपये।" सुनकर जौहरी चौंके। कानाफूसी की, यहां तक कि पचास हजार रुपया उन्हें देने को राजी हो गए कि वह बोली न बोलें, पर वासुदेव महाराज भला क्यों मानने लगे! हकला-हकलाकर लगे शोर मचाने, "तुम चोर हो, उठाईगीर हो। जौहरी नहीं हो। अभी तो मैं तुम्हारी सब पोल खोलूंगा। तुमने गुट बनाकर राज्य का लाखों का माल कौड़ियों में खरीदा है।" नतीजा यह हुआ कि नथ नहीं बिकी और जौहरी मिलकर मेरे पास आए। रोए-पीटे कि हम लोगों का धन्धा ही डूब जाएगा। वासुदेव महाराज अपना हक ले लें। मां ने कहा, "नथ की कीमत तीन लाख है। यह मैंने स्वयं खरीदी थी।" जौहरियों ने कहा, "जरूर खरीदी होगी सरकार, आप रईस हैं। आपका शौक है। पसन्द आने पर दस लाख में भी आप खरीद सकती थीं, पर हम लोग तो व्यापारी हैं, हम तो देख-भालकर ही दाम देंगे।" अन्ततः यह फैसला हुआ कि नथ लेकर फिर वासुदेव महाराज तंग न करेंगे। और साठ हजार रुपया नकद देकर वह नथ खरीद लाए और मुझे दे दी। मेरे पास उस समय इतना रुपया न था। मजा यह था कि रुपया वासुदेव महाराज के पास भी

पर रुपया उन्होंने मुझसे मांगा ही नहीं। नय ला दी। पीछे मैंने सुना — अपनी जायदाद रेहन रखकर उन्होंने रुपया जुटाया। बड़ी कठिनाई से उन्होंने वह रुपया मुझसे लिया।

वासुदेव महाराज के निर्भयराम की भी यशोगाथा कम न थी। उसकी भी एक घटना सुनिए। एक नये पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट आए थे, नौजवान और दिलफेंक। रियासत के दीवान ने अंग्रेज सरकार से इन्हें मांगा था। वड़ा रुआव और दवदवा था उनका। अच्छे-वुरे सभी लोग उनके नाम से कांपते थे। चोर-डाकुओं के काल थे। पर लंगोट के कच्चे थे। किसी एक गरीव सिपाही की युवती स्त्री पर उनकी आंख जम गई। धीरे-धीरे अपने अधिकार और रुपये के बल से उन्होंने उसपर अधिकार जमा लिया। गरीव सिपाही वासुदेव महाराज के पास आकर वहुत रोया-पीटा। एक दिन वीच वाजार सुपरिण्टेण्डेण्ट साहव वहादुर को जाते देखा तो वासुदेव महाराज ने आगे वढ़ उनके घोड़े की रास पकड़ ली। हकलाते हुए कहा, "आशीर्वाद हुजूर ! आप तो राजधानी के माई-वाप हैं। वदमाशों और गुनहगारों को सीधा करना आपका काम है। पर मैंने सुना है कि उस वेचारे गरीव सिपाही की वीवी पर आपकी नजर है। वड़ी खराव वात है सरकार !"

सुपरिण्टेण्डेण्ट साहव यह सव कैसे वरदाश्त कर सकते थे भला। वहुत विगड़े और 'दूर हट वूढ़े' कहकर उन्होंने घोड़ा वढ़ाया। वासुदेव महाराज चिल्लाकर वोले, "अच्छा तो कान खोलकर सुन लेना, अव उधर न जाना, वरना 'निर्भयराम' आपको राह दिखाएगा।" और एक दिन उन्होंने मौके-वारदात पर पहुंचकर सुपरिण्टेण्डेण्ट साहव की अच्छी तरह मरम्मत कर दी। दूसरे दिन वासुदेव पंडित को हवालात में वन्द कर दिया गया। उन दिनों अन्नदाता विलायत गए हुए थे। मैं भी उनके साथ थी। अतः तीन महीने वह हवालात में सड़ते रहे। जव वाहर निकले त[व] सीधे दीवान साहव के वंगले पर जा धमके। लगे चीखने-चिल्लाने, "दुहा[ई] सरकार, जुल्म हुआ है, मुझपर जुल्म ! मुझ व्राह्मण की भी सुनिए [...] दीवान अय्यर वूढ़े और गम्भीर पुरुष थे, वोले, "सुनूंगा पंडित, सौ व[ार] सुनूंगा। पर फुर्सत होने पर।" इसपर वासुदेव महाराज वोले, "सरक[ार]

का जय-जयकार, एक बार तो आज ही सुन लीजिए।" और उन्होंने सारा मामला सुना दिया। फिर तो दिन निकलते ही रोज का उनका काम हो गया, जब दीवानजी हवाखोरी को निकले तब सामने वासुदेव महाराज, "दुहाई सरकार, सौ बार सुनाने का हुक्म हुआ है, अभी निन्यानवे बार सुनना बाकी है।" नतीजा यह हुआ कि दीवान तंग आ गए। मामले की जांच हुई और सुपरिण्टेण्डेण्ट मुअत्तिल हो गए।

मसखरे भी वासुदेव महाराज नम्बर एक के थे। उनके मजाक बेजोड़ होते थे। इसका भी एक उदाहरण सुनिए। मेरी तबियत खराब थी। महीनों हो गए थे, ज्वर उतरता ही न था। चिकित्सा के लिए दिल्ली के प्रसिद्ध चिकित्सक नन्हे जी वैद्य को बुलाया गया था। दिल्ली में दो चिकित्सकों की तूती बोलती थी—एक हकीम अजमल खां, दूसरे नन्हे वैद्य। डाक्टरों की उन दिनों पूछ कम थी। नन्हे वैद्य एक हल्के-फुल्के कोई ढाई माशे के आदमी थे। वेषभूषा, आकार-प्रकार सब निराला था। मिजाज भी निराला था। दुबला-पतला शरीर, ठिगना कद, छोटी-सी खिजाब लगी डाढ़ी, बदन पर सफेद अंगरखा, कमर में धोती और सिर पर गोल तुक्केदार दिल्ली-फैशन की पगड़ी। बगल में दुपट्टा या दुशाला। हाथ में चांदी की मूंठ की मोटी छड़ी। बस, यही उनका वेश था। बड़े मृदुभाषी थे। कवि भी थे और हर विषय में टांग अड़ाते थे। दिल्ली की ललकती भाषा में बातें करते थे। अब तो दिल्ली में न वह पगड़ी, न वह अंगरखा, न वह भाषा रही। पर 'नन्हे वैद्य' का नाम अब भी है। दीवाली पर अब भी दिल्ली के कुम्हार 'नन्हे वैद्य' की मिट्टी

की मूर्ति बनाते हैं, जिसे दिल्ली वाले बड़े चाव से खरीदते और बच्चों को उनके लतीफे सुनाते हैं।

सुबह का वक्त था। वैद्यजी मेरे पलंग के पास कुर्सी पर बैठे मेरी नब्ज देख रहे थे। नब्ज देखते जाते थे और श्लोक पढ़ते जाते थे। यह उनकी आदत थी। किसुन अदब से पास खड़ा था और वासुदेव महाराज जरा फासले से चौकी पर बैठे उनके श्लोकों पर अपने जोड़-तोड़ लगाते जाते थे। बीच-बीच में नुस्खे में लिखी दवाइयों पर बहस भी चल रही थी। गिलोय, नीम की छाल, लाल चन्दन, पद्माख ऐसा ही नुस्खा मुझे पिलाया जा रहा था। एक-एक जड़ी की व्याख्या वैद्य जी श्लोकों में कर रहे थे। बात की बात में कुश्ती की बात निकली। नन्हे जी ने अपने स्वभाव के अनुसार कहा, "बचपन में अभ्यास किया था। अब छूट गया। पर शौक अब भी रखता हूं।" ऐसी बातें वासुदेव महाराज चुपचाप सुनने के आदी न थे। बोले, "तब तो आप गुणी और पुराने कद्रदान हैं। लीजिए, एक नया पेच दिखाता हूं। देखिए और दाद दीजिए!" इतना कहकर वह उठे और कुर्सी पर से वैद्य जी को इस तरह उठा लिया जैसे किसी बच्चे को उठाते हैं। एक-दो बार हवा में उछाला, उलटा-पुलटा किया। कहीं पगड़ी, कहीं दुपट्टा और कहीं दाढ़ी। वैद्यजी लगे हाथ-पैर मारने और छटपटाने। दो-एक बार उलट-पुलट करने के बाद वासुदेव महाराज ने वैद्य जी को आहिस्ता से कुर्सी पर रख दिया। सिर पर पगड़ी और गले में दुपट्टा रख दिया। फिर अपने आसन पर बैठते हुए कहा, "कहिए, है न निराला पेच? कहीं देखा न होगा।" वैद्य जी श्लोक पढ़ना भी भूल गए और कुश्ती की उस्तादी भी। कहने लगे, "यह तो दैत्यों का पेच है, भगवान बचाए आपसे।" हंसी से मेरा बुरा हाल हो रहा था और किसुन 'गुरु जी' गुरु जी रट रहा था, परन्तु वासुदेव पंडित मौज में थे। एक से एक बढ़कर कुश्ती के पेच बताते चले जा रहे थे—उसी प्रकार हकलाती हुई निराली भाषा में। ऐसे ही थे वासुदेव महाराज।

गोदनशीनी

बन्दर-राजा की बात तो आप भूले न होंगे। मेरे हाथों की मार खाकर वह न जाने कहां जहन्नुम में चला गया था। इसके बाद उसकी कोई खैर-खबर नहीं मिली। महाराजाधिराज ने उसकी बहुत खोज की। बहुधा वह मुझसे उसकी चर्चा करते थे। मैंने उसे पीटा था, यह बात यद्यपि उन्हें अच्छी नहीं लगी थी, पर इस सम्बन्ध में उन्होंने मुझसे कुछ भी नहीं कहा। इस प्रकार उसका मेरे घर में घुसना और दुस्साहस करना स्वयं हिज हाइनेस को भी बुरा लगा था। उन्होंने यद्यपि उसे कैद कर रखा था, पर बड़े भाई की भांति ही मानते थे। यह बात तो मैं भी जानती थी। इसीसे मैं अपनी ओर से उनके सम्मुख यह प्रसंग छेड़ती ही न थी।

अब इस घटना को कोई दस बरस बीत चुके थे कि एकाएक महाराजाधिराज ने उसका उल्लेख किया। कहा, उसकी हालत खतरनाक है। उसे भगन्दर का भयानक रोग हो गया है और वह एक धर्मशाला में असहाय अवस्था में पड़ा है। महाराज उसे महलों में लाकर रखना और उसका इलाज करना चाहते हैं, यह इच्छा भी मुझपर प्रकट कर दी। बीती बात मैं भूल चुकी थी। दुरावस्था की बात सुनकर तथा महाराजाधिराज से रक्त-सम्बन्ध की बात का ख्याल करके मैंने महाराज के इस इरादे का समर्थन किया। मेरा समर्थन पाकर वह खुश हो गए और वह बदनसीब राजा फिर महलों में आ गया। उसकी चिकित्सा के लिए दिल्ली से एक प्रसिद्ध वैद्य बुलाया गया। दो खिदमतगार उसकी सेवा को रख दिए गए। और इस बार उसकी राजअतिथि के समान खातिर-तवाजा तथा खुशामद होने लगी।

इन सब बातों को, और इन बातों के भेद को मैं नहीं जानती थी। केवल महाराजाधिराज की सुजनता ही समझती थी, परन्तु यहां तो एक विचित्र ही खेल खेला जा रहा था, जिसका पता मुझे बाद में लगा।

अकस्मात् ही एक दिन महाराजाधिराज

मेरे बड़े लड़के को गोद लेना चाहता है।" उसने

महाराज से मैंने पूछा, "किसलिए ?"

"इसलिए कि उस ठिकाने पर उसके बाद तुम्हारे लड़के का अधिकार हो जाए। मैं उसे राजा देख सकूं।"

"परन्तु यह कैसे हो सकता है ? प्रथम तो मेरे पुत्र को गोद लेने की बात ही में कोई तुक नहीं है। हम लोग गोली-गुलाम हैं। राजा बन नहीं सकते। दूसरे इस राज का ठिकाने पर अधिकार ही नहीं है। अधिकार रानी साहिबा का है। तीसरे राजा के पिता ने राज में पक्की लिखा-पढ़ी कराकर ही उसे राज से बर-तरफ कर दिया था।"

मेरी बात सुनकर महाराजाधिराज हंसने लगे। बड़ी विचित्र-सी, ठण्डी-सी, कड़ुवी-सी थी वह हंसी। कभी भी महाराज को मैंने वैसी हंसी हंसते देखा नहीं था। मैं महाराजाधिराज की वह मुद्रा देख ठगी-सी रह गई। महाराज ने मुझे समझाते हुए कहा, "यह ठीक है कि बाबा ने दादा को ठिकाने के अधिकार से वंचित कर दिया था। परन्तु दादा ही को तो किया था परन्तु उनके पुत्र को तो नहीं किया।"

"उनके पुत्र को ?" मैंने अचकचाकर कहा। "उनका पुत्र कौन है ?"

"क्यों ? तुम्हारा लड़का।"

"वाह, यह भी कोई बात है !"

"क्यों नहीं है। गोद लेने पर वह उनका पुत्र हो गया या नहीं ?" क्षण-भर मैंने हिज हाइनेस के मुंह की ओर देखा। फिर कहा, "खैर, ऐसा हुआ भी तो उनके जीते जी तो ऐसा नहीं हो सकता। फिर अभी तो रानी साहिबा जीवित हैं, जो इस समय ठिकाने की मालिक हैं।

"वे बीमार हैं। और दिल्ली के अस्पताल में उनका इलाज हो रहा है।"

"क्या बीमारी है उनको ?"

"कैन्सर हो गया है।"

भय की एक सिहरन मेरे शरीर में दौड़ गई। मेरे मुंह से निकला, "कैन्सर ?"

"तुम जानती हो कि इस मूजी रोग के चंगुल में जो फंस गया, उसका बचना सम्भव नहीं है ?"

"मैं जानती हूं।"

"यही बात तो भगन्दर के सम्बन्ध में भी कही जाती है। फिर, दादा की हालत सर्वथा निराशापूर्ण है। उनका रोग अब अच्छा नहीं हो सकता।"

"क्या वे इस बात को जानते हैं?"

"नहीं, वे तो आराम होने की आशा लगाए बैठे हैं। वैद्यराज ने भी उन्हें आशा बंधाई है।" यह बात कहते-कहते महाराजाधिराज के मुंह पर वैसी ही ठण्डी और अशुभ मुस्कराहट फूट पड़ी।

वह मुस्कराहट मुझे रत्ती-भर भी न भाई। परन्तु मैंने एक शब्द भी न कहा। चुपचाप महाराजाधिराज के मुंह की ओर ताकती रही। महाराज ने उसी मुस्कान में कहा, "तुम्हारा बेटा राजा बन जाएगा। मेरे मन में भी यही है, और तुम्हें भी इसमें कोई आपत्ति न होगी।" परन्तु इसपर भी मेरे मुंह से बोली न फूटी। किसी अज्ञात भय की एक सिहरन-सी मेरे शरीर में फैल गई।

महाराज ने कहा, "सब व्यवस्था ठीक है। दीवान और ए० जी० जी० की खानापूरी तो करनी ही पड़ेगी। इसके अतिरिक्त मैं खुल्लम-खुल्ला इस मामले में आना नहीं चाहता। भाईबन्दी का मामला ठहरा। परन्तु इन्तजाम मेरा पक्का है।"

"कैसा इन्तजाम?" मैंने सहमकर पूछा।

"बस, पहले मां, पीछे बेटा।"

"क्या मतलब?"

"वैद्यराज से मामला तय हो गया है। बहुत होशियार आदमी है। उसने दादा को विश्वास दिलाया है कि वे जरूर अच्छे हो जाएंगे। तुम्हारे लड़के को गोद लेने का प्रस्ताव भी उन्होंने सुझाया है। उन्होंने कह दिया है कि इससे महाराजाधिराज प्रसन्न होकर इलाज जारी रखेंगे। खातिर-दारी भी करेंगे। आराम होने पर वे ठिकाने के मालिक हो जाएंगे।"

"लेकिन आपका इन्तजाम?"

"कहा तो, पहले मां, पीछे बेटा।"

"पर मैं तो समझी नहीं इसका मतलब?"

"सीधी बात है। पहले मां खत्म होनी चाहिए, जिससे अधिकार सीधा बेटे को जाय। बापू बर-तरफ अवश्य कर गए हैं, परन्तु जब कोई दूसरा वारिस ही न होगा तो दादा ही का हक है। उनके बाद तुम्हारा लड़का।"

"बड़ी भयानक बात है। मरना-जीना तो भगवान के हाथ है।"

"होगा, पर ऐसे मौकों पर दूसरे लोगों को भी भगवान का काम करना पड़ता है।"

"तो" मेरा हलक सूख गया, मगर मैं कुछ-कुछ समझ गई। पर महाराजाधिराज ने एक लम्पट की भांति हंसकर कहा, "वैद्यराज ने इस बात का जिम्मा ले लिया है कि जब तक रानी साहिबा न मर जाएं वे दादा को जिन्दा रखेंगे। रानी साहिबा के मरते ही दादा भी खत्म। फिर ठिकाने पर तुम्हारे लड़के का दखल।"

हे परमेश्वर, ये राजा-महाराजा, रईस इस कदर नीच-स्वार्थी-निर्दय होते हैं कि सगे भाई, मां और सम्बन्धी को जहर देकर मार डालने की बात हंस-हंसकर करते हैं। ऐसे कामों की व्यवस्थित योजना बनाते हैं और उसे दूसरों से कहते हुए तनिक भी नहीं शर्माते! मेरी आंखों से झर-झर आंसू बहने लगे। मैंने गिड़गिड़ाकर कहा, "क्षमा करो, अन्नदाता! इस कुकर्म से मुझे और मेरे बच्चे को दूर ही रखिए। मैं गोली हूं, गुलाम हूं। मेरा बच्चा भी गुलाम रहे, कुछ हर्ज नहीं। पर ऐसी बातें मुझसे न कहिए।"

महाराजाधिराज पर मेरी बातों का कुछ असर न हुआ। उन्होंने कहा, "तू बेवकूफ है। सब बातें नहीं समझती। ये रियासती मामले हैं, तू देखती रह, क्या-क्या गुल खिलते हैं। दिल्ली मेरा आदमी जा चुका है। रानी जी वहां से जिन्दा लौटेंगी नहीं।"

महाराजाधिराज ने और बातें नहीं कहीं। मेरा रोना-धोना उन्हें भाया नहीं। उनकी योजना चलती ही रही। अपने बच्चे के अनिष्ट की आशंका से मैं रह-रहकर कांप उठती। बन्दर-राजा की खूब आवभगत हो रही थी। चार-चार खिदमतगार उसकी सेवा में लगे थे। वैद्यराज खूब मालमलीदे उड़ा रहे थे। उधर रियासत-भर में मेरे लड़के की गोदनशीनी की धूम मच रही थी। इन दिनों मेरा लड़का मेयो कालेज, अजमेर,

में पढ़ रहा था। मैं चाहती थी कि इस पाप-कर्म से मैं अलग ही रहूं तो अच्छा। पर मेरा तो कुछ अधिकार ही न था। मैंने किसुन से सब बातें कहीं और वासुदेव महाराज से भी सलाह लेने को कहा। इसपर और एक दूसरे भेद का भण्डाफोड़ हुआ। ज्ञात हुआ कि दादा के बाद ठिकाने पर उनकी लड़की-दामाद दावेदार हुए हैं, जिनसे अन्नदाता नाराज हैं और केवल उन्हें नीचा दिखाने ही को यह सब प्रबन्ध प्रारम्भ हुआ है। यह भी हो सकता था कि मेरे बेटे के प्रति महाराजाधिराज का कुछ मोह हो, परन्तु मैं तो किसी भी हालत में यह सब कुकर्म पसन्द नहीं करती थी।

पर मेरी पूछता कौन था! रियासत में महाराजाधिराज की इच्छा के विपरीत मैं कर ही क्या सकती थी। ठीक मुहूर्त-शुभघड़ी दिखाकर गोदनशीनी का जल्सा धूमधाम से हो गया। बन्दर-राजा को सजा-धजाकर सोने की कुर्सी पर बैठाया गया। सोने के हुक्के पर तम्बाखू पिलाया गया। रियासत के सभी जागीरदार और रईस-उमरा आए। दावतें हुईं, जश्न हुए। लीजिए साहब, मेरा बेटा अब राजा का उत्तराधिकारी बन गया। पक्की लिखा-पढ़ी हो गई। कागजात पर गवाही करने और इस बात का सार्टीफिकेट देने के कि राजा पागल या मदहोश नहीं है, दो अंग्रेज सिविल सर्जन भी बाहर से बुलाए गए। सब काम पूरा हो गया। यह काम जैसे मुझे अच्छा न लगा, उसी भांति किसुन को भी पसन्द न आया। हमने, जैसे सम्भव हुआ, लड़के को तुरन्त ही अजमेर वापिस भिजवा दिया। रियासत में उसका रहना हमें अच्छा न लगा। एक बात और हुई—महाराजाधिराज इस मामले से बजाहिरा दूर ही दूर रहे। एक प्रकार से यह स्वतन्त्र ठिकाने का ही समारोह था, ऐसा प्रकट किया गया।

मां और बेटा

अभी गोदनशीनी के जश्न खत्म भी न हुए थे कि सुना, रानी साहिवा दिल्ली से लौट आई हैं। राजधानी में ही ठिकाने की कोठी थी उसीमें वे ठहरी हैं। हालत उनकी वहुत खराव है। वे जिन्दा तो हैं, पर वेहोश हैं। दिल्ली के अस्पताल में उन्हें असाध्य कहकर हटा दिया गया है। अव यहां उनका इलाज महाराजाधिराज की आज्ञा से रियासत के डाक्टर लोग कर रहे थे। राजा साहव अलवत्ता वैद्यराज के फन्दे में थे। किसुन इन मामलों में चौकन्ना था। और मैं भी अव उत्सुकता से, आगे क्या होने वाला है, जानने को अधीर हो रही थी। मुझको किसुन ने वताया कि ठिकाने कोठी को हथियारवन्द सिपाहियों ने घेर रखा है। सिवा डाक्टरों के वाहर का दूसरा कोई आदमी भीतर नहीं जा सकता। महाराजाधिराज को भी अपनी इन मां साहव की वड़ी चिन्ता है। इलाज धूमधाम से हो रहा है। मैंने एकाध वार अन्नदाता से इस मामले में कुछ पूछना चाहा भी, पर मुझसे कुछ पूछते न वना। वे भी इस सम्वन्ध में चुप ही रहे। एक वात यह भी थी कि इस वीच मुझे उनसे मिलने का अवसर भी कम ही मिला।

एक दिन भोर ही में सुना कि रानी साहिवा चल वसीं और राजा साहव सिपाही और वन्दूक लेकर ठिकाने की कोठी पर दखल करने गये हैं। वाद में सुना उनकी वेटी-दामाद भी वहां पहुंच चुके थे। उन्हें सिपाहियों से पिटवाकर खदेड़ दिया। लाश निकालकर सहन में डलवा दी और कोठी के सव कमरों में ताले जड़ दिए। खजाना, सामान, मोटर सव पर कव्जा कर दो लारी हथियारवन्द सिपाही ले राजा साहव तावड़-तोड़ ठिकाने पर कव्जा करने दौड़ चले।

रानी साहिवा का क्रिया-कर्म व्राह्मणों ने सम्पन्न किया।

वेटी और दामाद ने ए० जी० जी० के यहां अर्जी दी। अपना हक जाहिर किया। दोनों तरफ के वकीलों ने अपने-अपने पक्ष का समर्थन किया। एक-दो महीने इस मुकदमे में लगे और अन्त में ए० जी० जी० का निर्णय राजा ही के पक्ष में हुआ। वहां से हुक्म आया कि राजा ही ठिका-

का सच्चा उत्तराधिकारी है। यह ठीक है कि स्वर्गीय राजा ने उसे रियासत से बर-तरफ कर दिया था पर अब उसके जीवित रहते दूसरा कोई व्यक्ति विरासत को नहीं पहुंचता है। इसलिए राजा ही ठिकाने का अधिकारी घोपित किया जाता है। अवश्य ही ए० जी० जी० ने इस सम्बन्ध में अन्नदाता से भी अनुमति मांगी थी। वे राज्य के अधीश्वर थे। इसके नाते भी और ठिकाने के बेटे थे इस नाते भी। पर अन्नदाता ने स्वीकृति इस नाते दी कि वे निर्मम, निर्दय राजवर्गी थे जहां न भाई की ममता, न खून का लिहाज था।

परन्तु इधर ए० जी० जी० का हुक्म पहुंचा ही था कि राजा साहब भी खट् से मर गए। बेचारे वह हुक्म सुन भर पाये। सुना, तीन-चार दिन से वे केवल शराब ही पीते रहे थे। यह हुक्म सुन —ठिकाने पर राजा का अधिकार प्राप्त कर, उन्होंने परमधाम की यात्रा की। हिज हाइनेस ने बड़ी ही धूमधाम से उनकी शवयात्रा की, भारी मातम मनाया। दान-पुण्य किये। इस सब पाखण्ड को देख घृणा से मेरा मन भर गया।

अब असल नाटक आरम्भ हुआ। ठिकाने पर अब कौन अधिकार करे, राजा के लड़की-दामाद ने फिर ए० जी० जी० का द्वार खटखटाया। फिर मुकदमा हुआ। वकीलों की दौड़-धूप हुई। और निर्णय हुआ कि मृत राजा का गोद लिया पुत्र ही उनका उत्तराधिकारी तथा ठिकाने का स्वामी हो।

इस प्रकार मेरा बेटा राजा बन गया। पर मेरे मन ने इसे स्वीकार ही न किया। ठिकाने की आय अब मेरे पास आने लगी थी। किसुन उसकी भी देख-भाल करने कभी-कभी जाता था। वहां का कारिन्दा भी आता-जाता रहता था। पर मैंने अपने लड़के को वहां कभी जाने ही नहीं दिया।

महाराजाधिराज अपनी इस सफलता, कूटनीति और योजना पर बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने मुझे बहुत-बहुत बधाइयां दी थीं। बधाइयां और भी बहुत मिली थीं। पर मेरे हृदय पर तो वह बोझ ही थीं। बहुत दिनों तक मैं इस भाग्यहीन बन्दर-राजा के प्रति मन ही म

डेढ़ करोड़ की पतलून

और भी कुछ दिन बीत गए। अब मैं फिर एक बच्चे की मां होने वाली थी। पर मेरी तबियत ठीक नहीं रहती थी। महीनों से मन्द ज्वर रहता था, अपच था और मैं बहुत कमजोर हो गई थी। कोई चीज हजम नहीं होती थी। चिकित्सकों का कहना था कि रक्त की बहुत कमी हो गई है। जलवायु बदलना आवश्यक है।

उधर महाराजाधिराज विलायत जाने की तैयारी कर रहे थे। इस बार की तैयारी साधारण न थी। खास जार्ज पंचम का निमन्त्रण था। लन्दन में राउण्ड टेबल कानफ्रेंस हो रही थी। उसमें गांधी जी जा रहे थे, मालवीय जी जा रहे थे, सरोजिनी नायडू जा रही थीं। सम्राट् जार्ज पंचम ने हमारे महाराजाधिराज को भी सादर निमन्त्रण दिया था। सो इस बार ऐसी तैयारी हो रही थी जिसकी राजधानी में धूम मची हुई थी। जब से महाराजाधिराज को जार्ज पंचम से लन्दन आने का निमन्त्रण मिला था, वह इसी उधेड़-बुन में थे कि इस खास अवसर पर वह कोई ऐसी अनोखी चीज साथ ले जाएं, जो बेजोड़ हो और जिसकी विलायत में धूम मच जाए। खूब सोच-समझकर उन्होंने यह तै किया कि कानफ्रेंस के ऐन इजलास में वह ऐसी बेजोड़ पतलून पहनें, जैसी संसार में आज तक किसी-ने न पहनी हो। महाराजाधिराज बुद्धिमान तो थे ही, सो उन्होंने सोचा कि जब गांधी जी सिर्फ एक लंगोटी पहनकर उक्त कानफ्रेंस में जा रहे हैं, तब क्यों न इस लंगोटी का जवाब इस पतलून से दिया जाए। इससे भारतीय संस्कृति का भी सवाल हल होता था। भारत के शिरोमणि दो ही जाति के पुरुष हैं—एक संत, दूसरे राजा। गांधीजी संत हैं, वह लंगोटी पहनकर जाएंगे, तो हम राजा हैं, हम पतलून पहनेंगे। जैसे उस राजसभा में गांधी जी की लंगोटी अद्वितीय होगी, वैसे ही हमारी पतलून। अब सवाल यह रह गया कि लंगोटी और पतलून इन दोनों में सबसे अधिक चर्चा का विषय कौन हो? श्रेष्ठता किसे मिले? बस, हम जो पतलून पहनेंगे वह अद्वितीय होनी चाहिए। उसे गांधी जी की लंगोटी को मात करना चाहिए

और उस 'अद्वितीय' कानफ्रेंस में हमारी पतलून को भी 'अद्वितीय' की उपाधि मिलनी चाहिए।

महाराजाधिराज खुश हो-होकर ये सब बातें मुझे सुनाते थे और कहते थे, "अफसोस, इस बार तुम यह सब देखने के लिए साथ न रह सकोगी।" मैं सुनती थी और मन ही मन हंसती थी। पर प्रकट में अन्नदाता की बुद्धि की प्रशंसा करती थी। मेरी प्रशंसा का व्यंग्य वह समझते नहीं थे। उनके स्वभाव और सनक को मैं जानती थी। विलायत में उन्होंने जाकर पहले भी अनेक हास्यास्पद चेष्टाएं की थीं, पर यह सबसे बढ़कर थी। पर उन्हें समझाए कौन? मैं तो सोलह आना हां-जी की चाकर थी।

पीढ़ियों की लूट-खसोट के फलस्वरूप करोड़ों रुपयों के हीरे-मोती उनके खजाने में भरे पड़े थे। कीमती रत्नों के संग्रह का उन्हें शौक था। गत बार विलायत में उनका प्रदर्शन भी किया था। उस प्रदर्शन की अखबारों में प्रशंसा भी छपी थी। वह भी उनकी इस सनक में जोर लगा रही थी।

सो पतलून बनी। बनारस के खास कारीगरों को आर्डर देकर उन्होंने सोने के ठोस तारों और चीन के महीन रेशम का कपड़ा पतलून के लिए तैयार कराया। वह कपड़ा दिन के प्रकाश में सूर्य की तरह चमकता था। पतलून बम्बई की एक अंग्रेजी फर्म में एक फ्रांसीसी कारीगर दर्जी से सिलाई गई थी। जब पतलून सिलकर आ गई तब उसपर दिल्ली के बाहर से चतुर कारीगरों को रियासत में बुलवाकर हीरे-मोती-जवाहर टंकवाए गए। इन कारीगरों ने रात-दिन पचास संगीनधारी पहरेदारों के पहरे में परिश्रम करके ये रत्नकार चोबी और सलमे के सहारे पतलून में टांके। सुना कि कुल जमा डेढ़ करोड़ रुपयों की लागत पतलून पर [illegible] है। पतलून को देख-देखकर महाराजाधिराज खुश थे। उन्होंने [illegible] कहा, "देख चम्पा, गांधी जी की लंगोटी हर्गिज इस पतलून का [illegible] नहीं कर सकती। क्या कहती है तू, बोल।"

मैंने हंसकर कहा, "अन्नदाता, पतलूनों के इतिहास [illegible] अद्वितीय है।"

महाराज खुश होकर मूंछों पर ताव देने लगे। फिर अफसोस के स्वर में बोले, "अफसोस है, तू नहीं चल सकेगी। चलकर एक बार देखती तो!"

अफसोस मुझे भी हो रहा था। आखिर इस अनोखी हिमाकत की विलायत में कैसी फजीहत होती है, यह देखना मैं अवश्य चाहती थी, पर लाचार थी। इस समय मैं यह यात्रा कर ही नहीं सकती थी।

यात्रा के लिए इस बार एक खास जहाज समूचा ही किराये पर लिया गया था। पतलून की चोरी न हो जाए, इस अन्देशे से बहुत-से पुलिस-अफसर और सिपाही तो तैनात किये ही गये थे, लन्दन के स्काटलैंड यार्ड से भी आठ मुस्तैद अफसर मांगे गये थे। परन्तु अफसोस कि राजा साहब वह पतलून वहां पहनने का शौक पूरा न कर सके। सम्राट् के प्रति शाही अदब और एटीकेट सिखाने वाले अंग्रेज एटिकेट-मिनिस्टर से जब पतलून की चर्चा चली, तब उसने पतलून को देखकर साफ कह दिया कि आप यह पतलून नहीं पहन सकते। इस बात पर बहुत हुज्जत भी हुई। महाराज ने कहा:

"क्यों नहीं पहन सकते?"

"एटिकेट के खिलाफ है।"

"लेकिन गांधी जी कैसे लंगोटी पहन सकते हैं?"

"वह पहन सकते हैं।"

"वह एटिकेट के खिलाफ क्यों नहीं है?"

"उनके साथ ब्रिटिश सरकार की कोई 'ट्रीटी' (सुलह) नहीं है। वह ब्रिटिश रूकोक नहीं हैं। वह महात्मा हैं। वह बादशाह के प्रतिष्ठित मेहमान हैं।"

"मैं भी प्रतिष्ठित मेहमान हूं।"

"पर आप बादशाह के अधीन करद राजा हैं।"

"तो इससे क्या? इंगलैंड से हमारे बाप-दादों ने कोई ऐसी ट्रीटी नहीं की है कि हम अपनी मनचाही पतलून न पहन सकेंगे।"

"न सही, पर यह एटिकेट के खिलाफ है। वहां आपको किस अवसर पर कैसी पोशाक पहननी होगी, इसका विचार मैंने कर लिया है और

ाकी तैयारी का आर्डर मैंने लन्दन की एक प्रसिद्ध फर्म को दे दिया है। ां पहुंचते ही पोशाकें मिल जाएंगी।"

"लेकिन मैं यह पतलून पहनकर खास इजलास में जाना चाहता ।"

"ऐसा नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं हो सकता ?"

"कहा तो एटिकेट के खिलाफ है।"

"फिर भी यदि मैं पहनूं ?"

"तो लन्दन के लोग आपको पागल समझेंगे। आपका मजाक ड़ाएंगे।"

"यह तो सरासर वदतमीजी है।"

"वदतमीजी नहीं, एटिकेट है।"

और भी वहुत वहस हुई, पर एटिकेट-मिनिस्टर ने किसी तरह ामी नहीं भरी। महाराज सख्त नाराज हो गए। उनका लन्दन जाने का ारा उत्साह ठण्डा हो गया। उन्होंने ठण्डी सांस लेकर कहा, "फिर तो रा लन्दन जाना ही वेकार है।"

"वेकार क्यों है ?"

"मैं यह पतलून तो वहां पहन ही नहीं सकूंगा।"

"लेकिन आप एक काम कर सकते हैं," चतुर एटिकेट-मिनिस्टर ने सकर कहा।

"वह क्या ?"

"लन्दन से वापसी में आप अपनी रियासत में एक जल्सा करके वह ातलून पहन सकते हैं।"

मेरा वहां जाना ही बेकार है। मगर कोई बात नहीं। लन्दन में न सही, वहां से वापसी में जबरदस्त दरबार करूंगा और यही पतलून पहनूंगा।"

मौत के चंगुल में

महाराजाधिराज विलायत चले गए। अफसोस कि मैं इस बार न जा सकी और मन मसोस कर रह गई। किसुन को वह साथ ले गए। किसुन जैसे विश्वस्त, चतुर और अन्तरंग सेवक के बिना उनका काम ही नहीं चल सकता था। अपनी सुख-सुविधा का विचार किए बिना ही मैंने किसुन को चले जाने दिया। मैं जानती हूं कि किसुन गया तो अवश्य, पर बहुत भारी मन से। जाती बार उसकी आंखें बरस उठीं। आंखें मेरी भी बरसीं। पर हम दोनों ने ही एक-दूसरे को आंखों की उस बरसात से अज्ञात रखने की असफल चेष्टा की। मैं बीमार थी, दुर्बल थी। आसन्न-प्रसवा थी। मेरे प्राणों पर संकट भी आ सकता था, इसलिए मुझसे अधिक भयभीत किसुन था। पर उसे जाना ही पड़ा। सेवा-धर्म ऐसा ही दुरूह होता है। कोटि-कोटि जन्म के पाप से मनुष्य को सेवक होकर रहना पड़ता है। फिर हमारा गोले-गोली का जीवन! छीः-छीः!

किसुन का विछोह तो दुस्सह था ही, उसका चला जाना मेरे लिए एक मुसीबत भी था। पर मुसीबत इस बार अकेले यही नहीं थी। इस बार मुझे केसर से भी बिछुड़ना पड़ा। जो अब तक मेरी पर-छाईं की भांति मेरे साथ रहती रही थी, मेरी हर कठिनाई में जिसने मुझे उबारा था, मेरी हर मुसीबत में जिसने हिस्सा लिया था, वह केसर जो मुझ अन्धी की लकड़ी थी, मेरी जीवन-नैया की खिवैया थी, इस बार वह भी मुझसे बिछुड़ी। किसुन के जाने के बाद बच्चों की सारी सार-सम्हाल उसी पर आ पड़ी। वह स्वयं भी बहुत कमजोर हो गई थी और बीमार थी। अभागिन को यद्यपि अपने बच्चे के साथ मां के समान व्यव-

हार करने का अधिकार तो प्राप्त न था, पर मेरा हृदय तो मां का हृदय था। अत: मैंने केसर के मामले में भी वही किया जो किसुन के मामले में किया था। अपनी सुख-सुविधा का तनिक-सा विचार किए बिना ही मैंने केसर को बच्चों पर ही लग जाने दिया और मैं उसकी सेवा, सहायता और सान्निध्य से वंचित रह गई। यह मेरी दूसरी मुसीबत थी।

परन्तु अभी तो मैं तीसरी और सबसे बड़ी मुसीबत की चर्चा करूंगी। महाराजाधिराज ने चलती बार मेरी जांच की और स्वास्थ्य-सुधार के लिए आबू में जाकर रहने की व्यवस्था कर गए थे। और उस व्यवस्था का भार दे गए थे मेरे पिछले जन्म के वैरी उस पाजी लाल जी खवास को, जिससे मैं घृणा करती थी, जिसे मैं पशु समझती थी, और जिसे कभी मुंह नहीं लगाती थी। वह भी मुझे एक शत्रु की भांति देखता था। स्त्री समझकर दयाभाव रखना या स्त्रियों के प्रति कोमल रहने की सद्भावना उस जानवर में नहीं थी। वह तो स्वभाव से ही स्त्रियों के प्रति निर्दय और निर्मम था। उसका कुत्सित जीवन ही कुछ ऐसा था, उसका स्वभाव भी ऐसा था कि स्त्रियों को सताने में उसे मजा आता था। रंग-महल में मैं सदा उसकी जड़ काटती थी और वह भी मेरी जड़ काटने में कसर न रखता था। पर अफसोस कि हम दोनों ही की जड़ें पाताल तक धंसी हुई थीं। हम एक-दूसरे पर चोटें करके रह जाते थे। पर इस बार तो मैं उस पाजी के पंजे में फंसी हरिणी थी। महाराजाधिराज ने जब यह व्यवस्था की थी, तब मैं इसका विरोध कर सकती थी। पर अपने स्वाभाविक आत्म-सम्मान की भावना से मैंने विरोध नहीं किया। फिर तब तक मुझे यह भी मालूम नहीं हुआ था कि मैं किसुन और केसर के सान्निध्य से भी वंचित रह जाऊंगी। परन्तु अब मैं भयभीत थी और चिन्तित भी। मैं रोगिणी थी, कमजोर थी, आसन्न-प्रसवा थी, असहाय थी और इस दशा में दूर तक अपरिचित स्थान पर अपने [illegible] वैरी के साथ जा रही थी। मैं औरत हूं और मेरी जात गोली है. [illegible] बातें मैंने उस दिन सबसे अधिक जानीं जिस दिन उस पशु ने [illegible] आवाज में कहा, "कल हमें चलना है, बस, जरूरी सामान [illegible] अपना राजपाट यहीं छोड़ देना।"

वह एक कुटिल भ्रू-भंग करके चला गया। किसी अज्ञात भय की भावना से मैं कांप गई। पर मैंने उसकी किसी बात का जवाब नहीं दिया, बस क्रोध में उछलती रही। यद्यपि आज मुझे कोई सहारा न था, मैं

अकेली-असहाय इस पाजी के साथ जा रही थी, पर मैं कोई बच्ची न थी अपना बोझ उठाने में स्वयं समर्थ थी; तीन बार यूरोप घूम आई थी अतः इस दुरात्मा से डरने की मुझे ऐसी कुछ आवश्यकता नहीं थी।

मुस्तैदी से कमर कस ली। अब मुझे न केवल अपने रोग और प्रसव से निबटना था, बल्कि इस जन्म के वैरी से भी लोहा लेना था, और मैंने ठान ली थी कि मैं अकेले ही डटकर उसका मुकाबला करूंगी पर उस समय यह मैं कहा जानती थी कि वहां कोई दूसरा ही गुल खिलने वाला है, जिसका सब पक्का प्रबन्ध भीतर ही भीतर हो चुका है। इक्कीस वर्ष रंगमहल में रहकर और सारी दुनिया की खाक छानकर भी मैं इस बात का तनिक भी संकेत न पा सकी कि मेरे विरुद्ध कोई भयानक षड्यन्त्र हो रहा है, और किसी खास ही मतलब से मेरे इस वैरी के साथ मुझे भेजा जा रहा है।

राजा में अवश्य ही बहुत-से गुण-दोष थे, जैसा कि उसे पहले ही कह चुकी हूं, फिर भी बीस वर्ष तक मैंने उनकी तन-मन से सेवा की थी। यद्यपि अब वह साठ को पार कर चुके थे और मैं चालीस की देहरी पर पहुंच रही थी, पर बीस बरस उनसे मेरी अत्यन्त घनिष्ठता रही थी। मैंने उनका गुस्सा भी देखा था, उनका प्रमाद भी देखा था। सबके ऊपर मैं उन्हें एक उदार हृदय व्यक्ति ही समझती थी। वह कोई नीच कर्म भी कर सकते हैं और वह भी मेरे ही साथ, इसकी मैंने कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी, क्योंकि चलते-चलते भी उनकी किसी चेष्टा से मुझे कुछ भी सन्देह नहीं हुआ था।

केसर ने मुझसे एक बार साथ चलने को कहा भी, पर मैंने कहा, "तेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है और लड़कियों की व्यवस्था होनी अधिक आवश्यक है।" यह कहकर मैंने उसे साथ नहीं लिया और मैं अकेली ही लालजी के साथ चल दी। मुझे यह पता नहीं लगा कि मेरे महल से बाहर पैर रखते ही विधाता मुस्कराने लगा था।

रियासत की नौकरी में काफी अरसे से थे। अपनी खुशमिजाजी और मिलनसारी से वह बहुत लोकप्रिय हो गए थे। रंगमहल में बहुधा मेरी चिकित्सा करते थे। हिन्दी अच्छी बोल लेते थे। मुझसे वह बहुत खुश थे। वह जानते थे कि मैं तीन बार यूरोप घूम आई हूं। वह बहुधा मुझसे गप-शप किया करते। यूरोप की मजेदार बातें सुनाते। हिन्दुस्तान के अनुभव सुनाते। मैं कभी-कभी उन्हें दावत देती। हिन्दुस्तानी भोजन उन्हें बहुत पसन्द आता। राजस्थान का खास भोजन दाल-बाटी और चूरमा वह खूब चाव से खाते थे। मेरे साथ वह सदा हिन्दुस्तानी भाषा में ही बात करते थे और सदा बाई साहेब कहकर पुकारते थे। पर कभी-कभी अधिक विभोर होने पर 'माई चाइल्ड' (मेरी बच्ची) कह देते थे। महाराजाधिराज के साथ मेरी घनिष्ठता उनपर प्रकट थी। किसुन से भी वह बहुत खुश थे। उसे वह 'ओल्ड गुड ब्वाय' कहा करते थे। मेरे मन में उनके प्रति पिता के जैसी आत्मीयता थी। उन्होंने मुझसे नजर-भेंट, फीस भी लेनी छोड़ दी थी। मैं जब कुछ देना चाहती तब वह खूब हंसते और कहते, "नो, नो, माई चाइल्ड, नो (नहीं, मेरी बच्ची, नहीं), हम नहीं ले सकता। रियासत से हमको तनख्वाह मिलती है।" कभी-कभी वह अपनी लड़की की चर्चा करते, जो मर चुकी थी। वह मुझसे उसकी तुलना करते और कहते, "तुम भी हमरा बच्चा हाय!" और उनकी आंखें गीली हो जातीं। महाराज ने उन्हें खास तौर से मेरे साथ भेजा था। उनका आना मेरे लिए बड़ा सहारा था। इनसे मुझे बड़ी तसल्ली थी।

डाक्टर नायडू एक मोटी-ठिगनी, मद्रासी ईसाइन थी, बदमिजाज और सख्त। न वह मुझे पसन्द करती थी, न मैं उसे। पर चिकित्सा में उसका बड़ा नाम था। उसने विलायत की बड़ी डिगरी प्राप्त की थी। आयु में अभी वह जवान ही थी। मुश्किल से चालीस बरस की होगी। उसने तीन पतियों को तलाक दिया था। मिजाज उसका बड़ा तीखा था पर वह बार-बार ईसामसीह के गीत गाती थी। हिन्दुस्तानियों को वह काला आदमी कहती थी, यद्यपि वह स्वयं भी काफी काली थी। वह सदा अंग्रेजी वेश-भूषा में रहती थी। जब कि डाक्टर राबर्ट जैसा अंग्रेज डाक्टर मेरे साथ हिन्दुस्तानी में बात करता था, वह ईसाइन मेरे साथ अंग्रेजी बघारती थी।

अंग्रेजी में अब अच्छी बोल लेती थी, इसलिए मैं उसके साथ ठाट से अंग्रेजी ही में बात करती थी। मैं उसे रियासत का नौकर समझती थी और उसके साथ मालिक की भांति बात करती थी। पर वह मेरी असलियत जानती थी, इसलिए मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी। फिर भी वह मेरे रुतबे से इनकार नहीं कर सकती थी, क्योंकि यह तो वह देखती ही थी कि महाराजाधिराज मेरे साथ महारानी से किसी तरह कम पेश नहीं आते हैं। मैं हमेशा ही उसे नीचा दिखाने की चेष्टा करती रहती। जब कभी वह कोई दवा या पथ्य मेरे लिए तजवीज करती, तभी मैं उसे नपा-तुला जवाब देती, "कर्नल रावर्ट से पूछूंगी।" इसपर वह जल-भुनकर कहती, "हम भी डाक्टर हैं। कर्नल से सलाह करना हमारा काम है, आपका नहीं।" तब मैं शान्त संयत स्वर में कहती, "मैं कर्नल रावर्ट से बिना पूछे कुछ कर नहीं सकती।"

पर उसका कथन सत्य था और मेरा उसके साथ यह व्यवहार ठीक नहीं था। वास्तव में वह बहुत बड़ी डाक्टर थी। कर्नल रावर्ट स्वयं यह बात कई बार कह चुके थे। परन्तु मैं तो उससे चिढ़ी हुई थी। अतः वह शुरू से ही मुझसे खुश न थी। परन्तु अब तो वह मुझसे सख्त नाराज रहती थी। अभी मैं रोगिणी थी तथा प्रसव का समय निकट आ रहा था। मेरी जान उसके हाथ में थी। ऐसे समय में इतनी बड़ी डाक्टर को नाराज करना मेरी मूर्खता थी। पर मैं करूं भी क्या? उसकी सूरत देखते ही मेरा मन खराब हो उठता था। मैंने उसे वास्तव में अपने ऊपर सख्त नाराज कर लिया था। उसे चिढ़ाने में मुझे बड़ा मजा आता था। पर मैं स्वीकार करती हूं कि यह मेरी नादानी थी। इतनी बड़ी डाक्टर से मुझे ऐसा बेहूदा व्यवहार नहीं करना चाहिए था। कभी-कभी मुझे अपने व्यवहार पर ग्लानि भी होती थी। पर मैं कतई नहीं जानती थी कि कुछ और भी गम्भीर तथा भयानक बातें हो सकती हैं, और आगे चलकर मेरी यह मूढ़ता मेरे लिए कितनी भयानक सिद्ध होगी।

खवास का षड्यंत्र

आबू राजस्थान और गुजरात की सीमा-सन्धि पर एक मनोरम पार्वत्य स्थली है। राजस्थान के प्रायः सभी बड़े-बड़े अंग्रेज अफसर और राजे-महाराजे यहीं ग्रीष्मवास करते हैं। हरी-भरी उपत्यकाओं, मनोरम पर्वत-शृंखलाओं और छोटी-छोटी घाटियों ने इस स्थान को अत्यन्त दर्शनीय बना दिया है। यहां गुजरात के महामन्त्री विमलदेव का एक भव्य मन्दिर भी है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का ऐसा अद्भुत स्थापत्य भारत में विरले ही कहीं देखने को मिलता है। रियासत की यहां एक विशाल कोठी थी। उसे कोठी न कहकर महल ही कहना चाहिए। सामने से वह दुमंजिली दीखती है, पर पीछे से पांचमंजिली है। पर्वतीय उतार, चढाव पर अत्यन्त कारीगरी से यह कोठी बनाई गई है। इमारत बनाने का महाराजाधिराज को व्यसन है, परन्तु यह कोठी तो महाराज के पिताश्री ने बनवाई थी। महाराज प्रायः यहीं ग्रीष्मवास करते थे। तब बड़ी-बड़ी रंगरेलियां होती थीं। अंग्रेजों की शानदार दावतें होतीं, जलसे होते, नृत्य होते और शराब की नदियां बहतीं। परन्तु मैं अभी तक एक बार भी यहां नहीं आई थी। इधर महाराज भी कई वर्षों से नहीं आ
थे। एक प्रकार से कोठी बन्द ही पड़ी थी। इसलिए सफाई होने पर
सभी कमरों और फर्नीचर में एक प्रकार की सील की गन्ध आ रही थ
मेरे लिए ऊपर के दो कमरे ठीक किए गए थे। मेरी बगल में ही डा
नायडू का कमरा था। कर्नल राबर्ट नीचे के कमरे में ठहरे थे। खवा
भी डाक्टर नायडू के कमरे के बराबर ही कमरे में डेरा जमाया था।
सुश्रूषा के लिए दो नर्सें बम्बई से बुलाई गई थीं। दोनों हिन्दुस्तानी
उनमें से एक न एक हर समय मेरे पास बनी रहती थी। दोनों का
की थीं। उनमें से एक मुझे पसन्द थी। उसका भोला-भाला चेहरा औ
मुख स्वभाव मुझे बड़ा अच्छा लगता था। वह सीधी और मित
थी। मेरे मन में उसके प्रति प्यार भी हो गया था। बहुधा मैं उसे
बैठाती और उसके हाल-चाल पूछती। इससे वह भी मुझसे प्रेम क

थी। इस निर्वासन में मैं उसे ही अपना मित्र समझती थी। परन्तु वह एक धोखे की टट्टी थी और मैंने आदमी की परख में कितनी भारी भूल की थी, यह आपको आगे चलकर मालूम हो जायेगा।

एक दिन अकस्मात् ही मुझे खवास के भयानक इरादे का पता चल गया। वह नहीं जानता था कि मैं बराबर के गुसलखाने में हूं। वे दोनों—डाक्टर नायडू और वह—साथ-साथ बातें करते हुए हाल में से निकले। मैंने डाक्टर नायडू को फुसफुसाते हुए सुना, "बहुत खतरनाक काम है। पच्चीस में नहीं होगा, पचास हजार देना होगा और कर्नल राबर्ट को यहां से टरकाना होगा।"

खवास का स्वर भी मैंने सुना। वह कह रहा था, "उस अदना गोली की जान की इतनी कीमत? आप यह न भूलिए कि रियासत में आप मेरे कारण ही जमी हुई हैं और मेरे द्वारा आपने इतना कमाया है कि जिन्दगी-भर ऐश कर सकती हैं।"

नायडू कह रही थी, "तो मैंने भी हमेशा तुम्हारी मदद की है, तुम्हारे लिए खतरे उठाए हैं। फिर हमेशा मैंने तुम्हारा हिस्सा तुम्हें दिया है।"

खवास कह रहा था, "लेकिन यह तो अन्नदाता का काम है। आपको इतना दे दूं तो मेरे पल्ले क्या पड़ेगा?"

"दस तुम लो और चालीस मुझे दो, बस!"

मैं इतना ही सुन सकी। वे बातें करते हुए चले गए और मैं सन्नाटे के आलम में जड़ बनी खड़ी की खड़ी रह गई। उसका एक-एक शब्द बन्दूक की गोली की तरह मेरे मस्तिष्क में घूमकर मेरे स्नायुओं को तोड़-फोड़ रहा था। मुझे धरती-आसमान घूमते नजर आ रहे थे और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं बेहोश हो जाऊंगी। मैं दोनों हाथों से सिर पकड़कर वहीं धरती पर बैठ गई। हे भगवान, ये हत्यारे मुझे मार डालने के लिए यहां लाए हैं और मैं हत्यारों के चंगुल में फंस गई हूं! सबसे ताज्जुब की बात यह है कि अन्नदाता भी इस घृणित हत्याकाण्ड में शरीक हैं। वह मुझे अपनी राह से दूर करना चाहते हैं। किन्तु क्यों? मैंने तो कभी उनका कुछ बिगाड़ा नहीं। धर्मपूर्वक अपना तन-मन सब कुछ उन्हें सौंप दिया। एकनिष्ठ होकर उनकी सेवा की, चाकरी बजाई।

का स्पर्श नहीं किया। अपनी जान तो मैं इनके लिए तलवार की धार पर चली। उसका यह बदला? यह भी क्या हमारे गोली-गुलामों के भाग्य में लिखा है? इन राजा-रईसों के लिए हम केवल फूलों के गजरे हैं? बासी होने पर फेंक दिए जाते हैं, हमारी जगह और ताजे आते हैं। हममें जैसे जान नहीं है, अहसास नहीं है, इज्जत नाम की कोई चीज नहीं है। हम गोली है, गुलाम हैं— मनुष्यों में अधम, स्त्री-जाति में कलंकरूप। अधर्म ही हमारा धर्म है, दुष्कर्म और दुराचार ही हमारा सदाचार है। सो क्या इसी पाप का दण्ड मुझे भोगना पड़ेगा? परन्तु बात क्या है? क्या कोई ताजा फूल अन्नदाता की सेवा में आ रहा है? फिर मैं तो अभी जवान हूं, सुन्दर हूं। बचपन की सारी ही आदतें तो अभी मुझमें हैं। मेरा रूप और यौवन भी अभी ढला नहीं फिर मैं अभी से कैसे बासी हो गई? चलती बार भी तो उन्होंने मेरे प्रति बड़ी ममता दिखाई थी। तो क्या वह नाटक था? बनाव था? वह किसुन को मुझसे दूर क्यों ले गए? केसर को तो खैर मैंने ही दूर कर दिया, पर उसके लिए मैं पछताती नहीं। आखिर मेरे ही बच्चे को तो वह छाती से लगाए बैठी है। यह काम तो मुझे ही करना था। सभी माताए यही तो करती हैं। पर गोली तो डायन होती है, माता कहां होती है! उसका धर्म तो संसार की सभी स्त्रियों से निराला होता है। पाप ही उसका पुण्य है। मृत्यु ही उसका जीवन है। सो, अब ये मुझे मारकर क्या सचमुच जीवन देना चाहते हैं? पर प्राणों से मेरी इतनी ममता क्यों है? भला इस अधम, कलुषित शरीर पर इतना मोह क्यों है? यह तो अच्छा ही है कि अब इसका अन्त हो जाए। परन्तु क्या मैं सचमुच ऐसा चाहती हूं? यह तो मैंने आज पहली बार अनुभव किया कि मैं अपने जीवन से कितनी लिपटी हुई हूं।

खवास के दुष्ट स्वभाव और चरित्र को तो मैं जानती थी। परन्तु यह नहीं जानती थी कि मनुष्य की जान लेना भी उसके बाएं हाथ का खेल है। और डाक्टर नायडू को मैं क्या कहूं? इतनी बड़ी डाक्टर, विदुषी। मानती हूं कि उसके साथ मैंने सद्व्यवहार नहीं किया। पर क्या इसी से यह डाक्टर मेरी हत्या का जघन्य पाप करने को तैयार हो जाएगी? क्या रुपये का मूल्य इतना अधिक है कि मनुष्य उसके लिए सब कुछ कर सकता

है ? परन्तु अब तो सब कुछ मेरी समझ में आ रहा था। मुझे अब यह भी भान होने लगा था कि हो न हो डाक्टर मान्टू मुझे ऐसी दवाइयां दे रहे हैं, जो मुझे अच्छा होने के स्थान पर रोगी बना रहे हैं और सम्भवतः मैं धीरे-धीरे मौत के मुंह में अकेली जा रही हूं। इन सब बातों को सोचते-सोचते मेरा कलेजा कांप गया और मैं पसीने से नहा गई। पर मैं तुरन्त ही सावधान हो गई। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मेरी सम्पूर्ण चेतना मेरी रक्षा के लिए उद्विग्न हो उठी है। अब मैं अपनी आत्मरक्षा के लिए चौकन्नी हो गई। मैं सोचने लगी कि अब मुझे क्या करना चाहिए और किसकी सहायता लेनी चाहिए। सब बातों पर ध्यानपूर्वक सोचने के बाद मैंने दृढ़ निश्चय किया कि जो काम किया जाय, शान्त चित्त से सब बातों का आगा-पीछा सोचकर किया जाय। उत्तेजना के वशीभूत नहीं होना चाहिए और अपना सन्देह भी किसीपर प्रकट न करना चाहिए।

इस विजन विदेश में मैं नितान्त अकेली थी। मुझे इस समय एक विश्वासी मित्र की अत्यन्त आवश्यकता थी। पर गलत आदमी से और भी खतरा था। मुझे अपने पति और अनन्य सहायक किशुन की याद आ रही थी। आज केसर का अभाव भी मुझे खटक रहा था। पर वे दोनों मेरे सहायक मुझसे दूर थे। बहुत बार मैं उनकी याद में रोई पर इससे क्या लाभ था! अब तो केवल मुझे अपनी ही बुद्धि का भरोसा था। मैं

पास रखती थी। सुई मैं केवल कर्नल रावर्ट से लगवाने को राजी हुई। डाक्टर नायडू वहुत विगड़ी, पर मैंने उसकी एक न सुनी। फिर भी मैंने यह न प्रकट होने दिया कि मैं उसपर सन्देह करती हूं। उसे खुश करने के लिए मैं कभी-कभी उसकी खुशामद भी करती, पर वह कभी सीधे मुंह मुझसे वात नहीं करती।

मैं यह जानने को व्यग्र हो उठी कि अव और आगे क्या हो रहा है। एक वार मन हुआ कि कर्नल रावर्ट से भेद खोल दूं, पर फिर सोचा, कर्नल को भी अभी जांचना चाहिए।

वरसात का आरम्भ था। प्रथम मेघ आकाश में घुमड़-घुमड़कर आ रहे थे। उस मनोरम पर्वत की उपत्यका में वे मुझे वड़े प्रिय लग रहे थे। सुखद समीर वह रही थी। अभी अपराह्न ही था। मेरा मन फुर्ती से भर रहा था और मैं आज कई दिन वाद अपने को कुछ अच्छा अनुभव कर रही थी। एकाएक मेरी इच्छा जरा घूम आने की हुई। एक शाल मैंने कन्धे पर डाला और मैं चल दी—एक के वाद दूसरे कमरे पार करती हुई। दैवयोग से किसीने मुझे देखा नहीं। न खवास ही अपने कमरे में था, न डा० नायडू। नर्स को भी मैंने आराम करने को कह दिया था। वह यह समझकर निश्चिन्त थी कि मैं अपने कमरे में आराम कर रही हूं। मैं नीचे उतर आई। कर्नल रावर्ट अपने वरामदे में वैठे कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। मुझे देखकर उन्होंने मेरी तवियत का हाल पूछा। मैंने कहा, "अच्छी हूं कर्नल! कृपा के लिए धन्यवाद। मैं जरा घूमना चाहती हूं।"

"लेकिन ठण्डी हवा चल रही है, ज्यादा दूर न जाना।"

"जी, नहीं, मैं कोठी में ही इधर-उधर घूम रही हूं।"

डाक्टर पुस्तक पढ़ने लगे और मैं आगे वढ़ी। सव कमरों को, उनके फर्नीचर को, साजो-सामान को देखते हुए मैं कोठी के पिछवाड़े के कमरों की ओर चली गई। सामने लान में माली काम कर रहा। था उसने झुककर मुझे सलाम किया। मैं उससे विना कुछ वात किए ही केवल मुस्कराकर आगे वढ़ गई। यहां सन्नाटा था। कोठी का यह भाग रोज साफ भी शायद न होता था। कमरे वन्द थे। मुझे एक प्रकार का भय-सा लगने लगा। एक सिहरन-सी मैंने अनुभव की। लौट जाने को ही थी कि मुझे किसीकी

बातचीत करने और हंसने की ध्वनि सुनाई दी। मैंने ध्यान से देखा और मैं उसी ओर चल दी। मैंने समझा कि शायद यहां नौकर-चाकर और उनके परिवार के लोग रहते होंगे। उनसे बातचीत करके मन बहलाने का मेरा मन हो गया। दालान पार करके मैंने एक बड़ा हाल पार किया। उसके दाहिने ओर के कमरे में दो आदमी धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। बीच-बीच में हंस भी रहे थे। मेरा मन हुआ कि मैं लौट चलूं। पर किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर मैं आगे बढ़ी। अब मैंने दोनों कण्ठ-स्वर पहचान लिए—डाक्टर नायडू और खवास के थे। मैं अपनी उत्सुकता और जिज्ञासा को न रोक सकी। पहले मैंने कान लगाकर सुना। फिर मैंने दरार से झांककर देखा। जो कुछ देखा, उससे मेरा मन कुत्सा से भर गया। इसकी तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी। वहां शराब के नशे में चूर वे दोनों गुनहगार न कहने योग्य स्थिति में पैग पर पैग चढ़ा रहे थे। मैं तो जड़ हो गई। ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरी चीख निकल जाएगी। पर किसी तरह मैंने अपने को व्यवस्थित किया। यद्यपि मैं चाह रही थी कि ठहरूं और देखूं कि कहीं कुछ मेरे विपरीत बात भी सुनाई देती है या नहीं, तथापि मैं ठहर न सकी। मैं उल्टे पैर भागी। माली एक सुन्दर गुलदस्ता लिए द्वार पर खड़ा था। वह एक बूढ़ा निरीह आदमी था। उसने मुझे झुककर सलाम किया और गुलदस्ता मुझे भेंट किया। मैं उस समय किसीसे बातचीत करने की स्थिति में नहीं थी। फिर भी गुलदस्ता लेकर मैंने उससे कहा, "शाम को कोठी पर इनाम लेने आना।" वह झुककर सलाम करके एक ओर खड़ा हो गया और मैं लम्बे पग रखती हुई अपने कमरे में आ पलंग पर पड़ रही। उस समय मेरा दिल जोरों से धड़क रहा था। मैं बहुत परेशान थी, परन्तु न जाने कैसे मुझे जल्दी ही नींद आ गई और मैं सो गई।

विषपान

प्रसव का समय निकट आ रहा था, परन्तु मेरी हालत तेजी से खराब होती जा रही थी ! मेरा सारा शरीर काला हो गया था और मेरा सौन्दर्य गायव हो चुका था। मैं हैरान थी। वास्तव में मैं अकस्मात् ही वुढ़िया हो रही थी। ज्वर अव दिन में कई वार कमोवेश होता था। सारा अंग भीतर से जला जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि कलेजे में अंगीठियां दहक रही हैं। वाल मेरे झड़ने आरम्भ हो गए थे। आवाज खोखली और धीमी हो गई थी। यत्न करने पर भी मैं जोर से नहीं वोल सकती थी। इस एक हफ्ते में ही मैं इतनी कमजोर हो रही थी कि टट्टी-पेशाव के लिए जाने में मैं हांफने लगती थी। स्पष्ट था कि इतना यत्न करने और साव-धान रहने पर भी विप मेरे शरीर में पहुंचाया जा रहा था। परन्तु कैसे ? यह मैं नहीं जान पाती थी। इधर दो दिन से मेरे सिर में भी चक्कर आ रहे थे। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता था कि धरती उलट-पुलट हो रहीं है, सिर पर जैसे पहाड़ लदे हुए हैं।

अव मैं क्या करूं ? किसका सहारा लूं ? क्या ये लोग मुझे मार ही डालेंगे ? क्या मैं अव अपने वच्चों को भी न देख सकूंगी ? रंगमहल के मेरे वे सपने क्या सव समाप्त हो चुके ? हे भगवान, क्या मैं मर रही हूं ? हाय, एक वार भी मैंने अपने पति को अपना प्यार नहीं दिया। वह राजा मेरी जान का ग्राहक वन गया जिसपर मैंने सव कुछ न्योछावर कर दिया ? मुझे सारे ही संसार के मनुष्यों से घृणा हो गई। परन्तु यह कैसे ? क्या किसुन जैसे श्रेष्ठ पुरुप दुनिया में नहीं हैं ?

फिर भी मैंने हिम्मत नहीं हारी। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं अन्त तक लड़ूंगी। परन्तु क्या डाक्टर रावर्ट भी इस घृणित पड्यन्त्र में शामिल हैं ? दवा तो मैं उन्हींसे लेकर खाती हूं और सुई भी उन्हींसे लगवाती हूं।

परन्तु शीघ्र ही मेरा भ्रम दूर हो गया। एक दिन मेरी हालत देखकर डाक्टर रावर्ट एकदम अधीर हो उठे। स्पष्ट था कि मेरे लक्षणों को देखकर

बहुत परेशान हो गये थे और वह ठीक-ठीक उसका कारण नहीं समझ पा रहे थे। उस दिन मेरे ही सामने उन्होंने नायडू से बहुत-सी बहस की। दवाइयां बदलीं। नये नुस्खे तजवीज किए। बम्बई से नई दवाइयां मंगाने को तार दिए। वह बहुत देर तक बेचैनी से मेरे कमरे में चक्कर लगाते रहे।

मेरा मन हुआ कि मैं उन्हें सब बातें बता दूं जो मुझे ज्ञात हो चुकी थीं। परन्तु अभी मेरा मन साफ न। क्या जाने राबर्ट भी षड्यन्त्र में सम्मिलित हों! परन्तु मुझे विष कैसे और कब दिया जा रहा है, अब यही जानने को मैं बेचैन हो उठी। परन्तु उसी रात मुझे इसका भी पता चल गया। मैं दीवार की ओर मुंह फेरकर सो रही थी। कमरे में मद्धिम रोशनी हो रही थी। डाक्टर नायडू अपना अंतिम राउण्ड करने आई। क्षण-भर उसने मसहरी में मुझे सोते देखा। दीवार पर मेरे सामने ही आइना लगा था, उसमें मैंने उसे आते और तेज नजर से अपनी ओर ताकते देखा। पर मैं नींद का बहाना करके चुपचाप पड़ी रही। दो ही मिनट में नायडू चली गई और उसके कुछ देर बाद वही नर्स कमरे में आई, जिसे मैं पसन्द करती थी और प्यार करने लगी थी। मेरी मसहरी के निकट आकर उसने भली भांति जांचा कि मैं सो रही हूं या जाग रही हूं। जब उसे विश्वास हो गया कि मैं सो रही हूं तब उसने लैम्प की रोशनी और मद्धिम की। फिर वह उस टेबुल के पास आई, जो मेरे सिरहाने रखी थी। उसपर पानी की सुराही रखी थी। नर्स ने एक पुड़िया चोली से निकाली और सुराही में डाल दी। उसने फिर मेरी ओर देखा और वह दबे पांव चली गई। आइने में होकर मैंने सब कुछ देख लिया। ओफ, मुझे दवा में नहीं पानी में जहर दिया जा रहा है—कोई ऐसा मन्द विष कि मैं घुल-घुलकर मर जाऊं और किसीको गुमान भी न हो कि मेरी हत्या की गई है। कितनी चतुराई और सावधानी से इस गोली का खून किया जा रहा था! वाह!

उस दिन मैंने वह पानी नहीं पिया और सुबह मैंने यह अनुभव किया कि आज अपेक्षाकृत मेरी तबियत ठीक है। कलेजे में जलन कम है। बदन में दर्द नहीं है। सिर उतना भारी नहीं है। मैंने

की एक शीशी खाली करके उसमें पानी भरकर अपने तकिए के नीचे छिपा लिया। उसके बाद मैं सो गई। सबसे पहले वही नर्स आई। सावधानी से मेरे सिरहाने आकर जांचा कि मैं सो रही हूं या जाग रही हूं, फिर वह सुराही उठाकर चली गई।
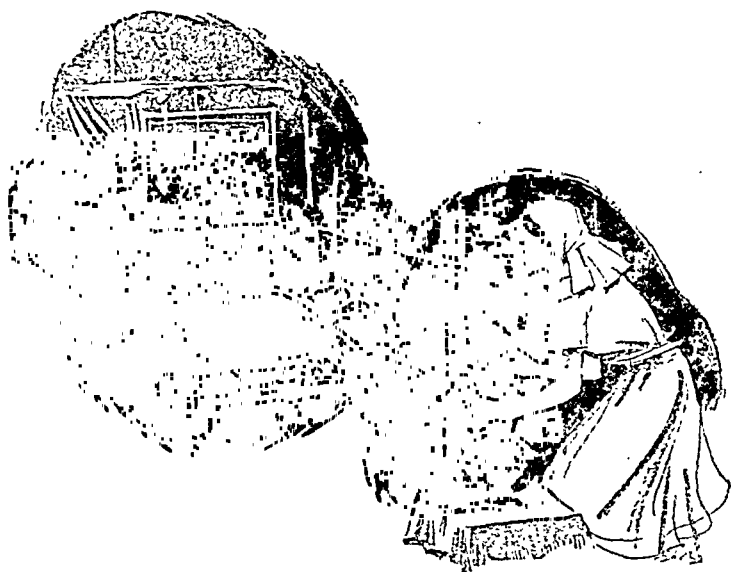
न नायडू को, न उस नर्स को यह पता लगा कि मैं उसका भेद जान गई हूं। वास्तव में उस आइने की ओर उनका ध्यान ही न था।

दूसरे दिन रात की ड्यूटी दूसरी नर्स की थी। पर उस दिन वह जहर नहीं मिलाया गया। मालूम होता है कि उस नर्स को षड्यन्त्र में सम्मिलित नहीं किया गया था। इससे दूसरी सुबह मैं और भी चंगी गई। ताकत भी मालूम हुई। खाना भी ठीक खाया। पर तीसरे दिन फि वही नाटक हुआ और मैंने उस पानी का नमूना भी शीशी में भरकर अपने पास रख लिया।

मैंने यह प्रकट न होने दिया कि मेरी तबियत आज अकस्मात् अच्छी

है। उसी भांति मैं बीमारी का बहाना करके पड़ी रही। दोनों डाक्टरों से और नर्स से भी मैंने वही व्यवहार रखा। मैं यह सोचने लगी कि मैं यहां किसकी मदद लूं। अब इस विपत्ति में कौन मेरा मित्र है, शुभ-चिन्तक है, जो मुझे मौत के मुंह में से उबारे। एकाएक मुझे वासुदेव महाराज का ध्यान आया और मैंने उसके नाम एक तार लिखा। तार में इतना ही लिखा कि तुरन्त आओ। हां, एक बात कहना तो भूल ही गई। वह बूढ़ा माली उसी दिन से नित्य शाम को मेरे लिए फूल लेकर आने लगा था। वह बहुत भला, सीधा आदमी था, इनाम देकर मैंने उसे अपना भक्त बना लिया। वह तार मैंने चुपचाप उसीके द्वारा भिजवा दिया। तार की रसीद उसने मुझे ला दी। यह बात किसीसे वह न कहे यह बात भी मैंने उसे समझा दी थी।

ए० जी० जी० से भेंट

दूसरे दिन भोर में ही पड़ोस वाली कोठी में बड़ी हलचल दिखाई दी। बहुत-से सिपाही, अहलकार, अफसर और बैरा-खानसामा वहां दौड़-धूप कर रहे थे। कोठी पर यूनियन जैक फहरा रहा था। माली ने मुझे बताया कि हुजूर एजेण्ट गवर्नर जनरल साहब बहादुर पधारे हैं। इस अंग्रेज हाकिम की सारे राजस्थान में तूती बोलती थी। कहना चाहिए कि सारे महा-राजाओं का वह विधाता था। बड़ा सख्त आदमी था। मुझे लेकर रियासत में जो आन्दोलन कुंवरानी का चला था, उसमें मेरे साथ ताल्लुक रखने के कारण इसने महाराजाधिराज को बहुत डांट पिलाई थी। तभी से मैं जानती थी कि वह मेरा प्रबल विरोधी है। बहुत देर तक मैं इस बात पर विचार करती रही और अन्त में मैंने चुपचाप उससे मुलाकात करने का पक्का इरादा कर लिया।

दो बजे सबके खा-पीकर आराम करने के

खवास अपनी रंगरेलियां करने कोठी के पिछवाड़े वाले भाग में चले जाते थे, यह मैंने जान लिया था। आज भी वे चले गए। उनके जाने पर मैंने नर्स को आराम करने की छुट्टी दे दी और कहा, "मैं सोऊंगी, मुझे डिस्टर्ब न किया जाए।" कुछ देर मैं और रुकी। फिर मैंने कपड़े वदले। पानी की शीशियां कपड़ों में छिपाईं और दवे पांव मैं नीचे उतर आई। सौभाग्य से इस समय कर्नल रावर्ट का कमरा भी वन्द था। किसीने मुझे नहीं देखा और मैं कदम वढ़ाती हुई ए० जी० जी० के वंगले में जा पहुंची।

इत्तला पाते ही साहव ने तुरन्त मुझे भीतर वुला भेजा। मेरा परिचय पाकर कहा, "हां, हां, मैं आपको जानता हूं। कहिए, क्या दिक्कत है?" उसने वड़ी इज्जत और प्रेम से मेरा स्वागत किया, खूव ध्यान से मेरी वात सुनी। जो कुछ मैं जानती थी, वह सव मैंने उन्हें वता दिया। साहव का प्रेम देख अपनी वेवसी पर मैं रो उठी। साहव ने मुझे तसल्ली दी और कहा, "आप फिक्र मत कीजिए, मैं सव आवश्यक प्रवन्ध कर दूंगा। आपका वाल भी वांका नहीं होगा। पर आप अभी इस भेद को गुप्त ही रखिए।"

जव मैं वहां से लौट रही थी, तव भी हमारी कोठी में सन्नाटा था। मैं चुपचाप अपने कमरे में जा रही थी कि किसी ने 'चम्पाकली रानी' कहकर मुझे पुकारा। वासुदेव महाराज थे। हंस रहे थे और हकला-हकलाकर कुछ कहना चाह रहे थे। पर मैं एकदम अधीर होकर दौड़ी और उनके वक्ष से वच्ची की तरह चिपटकर फफककर रोने लगी। वासुदेव महाराज को इसकी कल्पना भी न थी। वह घवराकर वोले, "क्या हुआ, हुआ क्या? मैं तो तार पाते ही···"

मैंने ओठों पर उंगली रखकर धीरे से कहा, "आपको मैंने तार भेजकर वुलाया है, यह वात किसीसे मत कहिए। वड़ी भयानक वात है। आप मेरे कमरे में आइए।"

वासुदेव महाराज को कमरे के भीतर ले जाकर मैंने द्वार वन्द कर लिया और सव कुछ उन्हें वता दिया। अभी-अभी मैं ए० जी० जी० से मिल आई हूं, यह भी कह दिया। सुनकर वासुदेव गुस्से से लाल हो गए, कहने लगे, "उस खूसट नाऊ के वच्चे को तो मैं आज ही कच्चा चवा जाऊंगा। और वह रांड···"

पर मैंने वासुदेव महाराज को शान्त करते हुए कहा, "नहीं, नहीं, सब काम सावधानी से चुपचाप करना होगा। इस कुकर्म में केवल खवास और डाक्टर नायडू ही नहीं हैं, अन्नदाता भी हैं।" बात की गम्भीरता समझकर वासुदेव महाराज भी गम्भीर हो गए। उन्होंने कहा, "भले ही अन्नदाता भी हों, पर मैं तुम्हारे साथ हूं चम्पाकली रानी! तुम्हारा कोई बाल बांका भी नहीं कर सकता।"

वासुदेव महाराज को मैंने समझा दिया कि दूसरों से कहो कि यों ही चले आए हैं। वासुदेव महाराज को भी यह तजवीज पसन्द आई। हमने यह भी तय कर लिया कि प्रकट में वासुदेव महाराज मेरी ही भांति डाक्टर नायडू और खवास से मिल-जुलकर रहेंगे।

हत्या का प्रयत्न

एक घण्टे में ही डाक्टर नायडू का बिस्तर गोल हो गया। ज्ञात हुआ कि ए० जी० जी० साहब बहादुर के खास हुक्म से वह कहीं किसी खास केस पर नियुक्त होकर जा रही है। उसके साथ एक नर्स भी जा रही थी। पर उन्होंने हरामजादी भोली-भाली नर्स को मेरे ही पास छोड़ा। मैं भी उस गुनहगार को अपने कब्जे में रखना चाहती थी।

डाक्टर नायडू रवाना हो गई और उसके कोई एक घण्टा बाद कर्नल राबर्ट बहुत परेशानी की हालत में मेरे कमरे में आये। उन्होंने बहुत बारीकी से मेरी जांच की और बिना कुछ कहे वह चुपचाप चले गए। मैं खूब सावधानी से इन सब बातों को देख रही थी। चलती बार जब डा० नायडू विदा होने पर मेरे कमरे में आई, तब कमजोर और दुःख-सागर में डूबी होने पर भी मैं अकस्मात् मुस्करा दी। वह मुस्कराहट उससे छिपी न रही। एक बार उसने भयभीत नजरों से मेरी ओर देखा। पहली ही बार मैंने उसकी वह भय-विह्वल दृष्टि देखी थी। कदाचित् वह ...

करने लगी थी कि उसका भेद मुझपर खुल गया। पर उसके पास सो
का समय ही कहां था! वह दो-चार औपचारिक बातें कर चली गई।

डाक्टर रावर्ट की परेशानी से मैं पहले तो घबरा गई, पर पीछे
ज्ञात हो गया कि ए० जी० जी० ने उन्हें भी चेतावनी दी है। डा
रावर्ट ने उस नर्स से बहुत हुज्जत की थी, जिरह की थी, यह भी पीछे
सुना। मैंने यह भी जान लिया कि नर्स कम उम्र और बुद्धि की क
है। अतः मैं उससे सब बातें उगलवाने का अवसर देखने लगी।

खवास का चेहरा इस समय बिगड़ा हुआ था। क्यों न बिगड़ता भल
तका सारा प्रोग्राम जो बिगड़ गया। वह भुनभुना रहा था, बात-बात
ौकरों से बिगड़ रहा था। पुराना घाघ था, इसलिए घबराहट का ना
ाशान उसके चेहरे पर न था। कदाचित् उसे मेरी कारस्तानी का
ा भी न था। डा० नायडू के चले जाने की तो उसे परेशानी थी
ानुदेव महाराज के आने से भी उसके तन-बदन में आग लग गई थी।

वासुदेव उससे खूब हंस-हंसकर, खूब घुल-घुलकर बातें कर रहे थे। चुहल और मजाक भी बीच-बीच में चलते थे। खवास का मन यद्यपि ठीक न था और वह वासुदेव का दोस्त भी न था पर मन के भाव छिपाने में वह उस्ताद था। अतः वह भी वासुदेव महाराज का साथ दे रहा था। दोनों पुराने खिलाड़ी अपने-अपने खेल खेल रहे थे। परन्तु खेल का मजा तब आया जब रात कोई चोर आकर खवास को ठोक-पीट गया। शोर-गप्पा बहुत हुआ, पर चोर पकड़ा नहीं गया। पहचाना नहीं गया। चोर ने कम्बल खवास पर डाल उसे उसमें लपेट लिया। फिर लात-घूसों से अच्छी तरह मरम्मत की। सुबह खवास जब सूजा हुआ मुंह और फूली हुई आंखों पर पट्टियां बांधे उधर से निकला तब बरबस मुझे हंसी आ गई। वासुदेव महाराज अपने डण्डे को सहलाते हुए हकला-हकलाकर कह रहे थे, "बेटा निर्भयराम, खवास का खयाल रखा करो, वह हमारे पुराने दोस्त हैं।" खवास भी समझ गया था और मैं भी, कि सारी कारस्तानी वासुदेव महाराज की थी।

तीसरे पहर जब वासुदेव महाराज मेरे पास बैठे, तब मैंने कहा, "यह क्या किया बाबा जी, खवास को खतम ही कर दिया?" तब हंसकर वासुदेव महाराज बोले, "ख···खतम क···कहां कि···किया, आ···ज···जरा सी खो···खोपड़ी···स···सहलाई है सिर्फ। अब जब तक बेटा जी आबू से अन्तर्धान नहीं हो जाते उनकी सेवा तो निर्भयराम को करनी ही पड़ेगी। क···क्या कहते हो बेटा निर···निर्भयराम!"

मैं हंसते-हंसते लोट-पोट हो गई और कल तक मैं कैसी भनयाक मुरौवत में फंसी थी, यह बिलकुल ही भूल गई।

इस घटना के तीसरे ही दिन पुलिस दल-बल सहित आ धमकी। पुलिस के बड़े साहब आये थे। नौकर-

चाकर छोटे-बड़े सभी भय से कांपने लगे। जो असल कारण नहीं जानते थे वे भांति-भांति की अटकल लगाने लगे। पुलिस ने सबसे प्रथम उस नर्स को फांसा। उसने पांच-दस मिनट में ही सब भेद खोल दिये। जहर की पुड़िया भी उसके पास से बरामद हुई। उसके बाद मेरा बयान हुआ। अथ से इति तक सब बातें मैंने बता दीं। परन्तु जब मैं बयान दे रही थी, तभी अकस्मात् खवास ने मेरे ऊपर रिवाल्वर चला दिया। परन्तु इसी क्षण वासुदेव महाराज गरजकर खवास पर चीते की भांति टूट पड़े। खवास का निशाना चूक गया और गोली मेरे कान को छूती हुई दीवार में घुस गई। इसी समय मैंने देखा कि खवास में दैत्य के समान बल था। उसने अनायास ही वासुदेव महाराज को उठाकर दूर फेंक दिया और लगा दनादन गोलियां दागने। एक गोली वासुदेव महाराज की जांघ में घुस गई। पुलिस के जवान तुरन्त ही उसपर टूट पड़े और उन्होंने पिस्तौल छीनकर उसपर कब्जा कर लिया तथा हथकड़ियों में जकड़ लिया। एक क्षण-भर में ही यह सब भयानक काण्ड हो गया। वासुदेव महाराज खून से भर गये, पर उन्हें इस समय अपने जख्मी होने की जरा भी परवाह न थी। वह हकला-हकलाकर खवास पर व्यंग्य बाण चला रहे थे और खवास गन्दी-गन्दी गलियां बक रहा था। मैं उस हत्यारे की गोली से बाल-बाल बच गई थी, इसलिए वासुदेव महाराज बहुत खुश थे। उन्हें तत्काल प्रारम्भिक उपचार के लिए अस्पताल भेज दिया। खवास ने प्रत्येक बात से कतई इन्कार कर दिया। पुलिस ने उसके वस्त्रों की भी तलाशी ली और कमरे की भी। मेरे कहने पर कोठी के पिछवाड़े वाले कमरे की भी। वहां से कई संदिग्ध वस्तुएं मिलीं। उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था एक अधूरा पत्र, जिसे वह महाराजाधिराज को कदाचित् उसी समय लिख रहा था जब कि पुलिस ने उसे घर दबाया था। पत्र अधूरा था और उसपर उसके हस्ताक्षर नहीं थे, पर वह उसीके हस्तलेख से था और उससे मेरी हत्या की योजना तथा महाराजाधिराज से उस योजना के सम्बन्ध पर काफी प्रकाश पड़ता था।

पुलिस खवास और नर्स को गिरफ्तार करके ले गई। कर्नल राबर्ट ने बाद में मुझे बताया कि मैंने जो पानी ए० जी० जी० को दिया था, वह

बम्बई जांच के लिए भेजा गया था और उसमें विष पाए जाने पर ही ए० जी० जी० ने पुलिस बुलाई थी। उन्होंने मुझे बहुत-बहुत तसल्ली दी और कहा, "अवश्य ही डाक्टर नायडू भी गिरफ्तार होगी।" उन्हें इस बात का भारी खेद था कि इतनी योग्य डाक्टर होने पर भी उसने यह दुष्कर्म किया। उन्होंने मुझे यह भी बताया कि मेरी डिलीवरी के लिए बम्बई से एक लेडी डाक्टर और दो नर्सें बुलाने का प्रबन्ध ए० जी० जी० महोदय ने कर दिया है।

यह अंग्रेज चरित्र था जिसपर आज मुझे विचार करना पड़ा। डाक्टर राबर्ट इस समय एक सच्चे पिता की भांति मेरी सेवा-सहायता कर रहे थे और ए० जी० जी० साहब बहादुर ही नहीं बल्कि उनकी मेम साहिबा भी दो बार आकर मुझे तसल्ली दे गई थीं। यह मेरे ऊपर उनका अनुग्रह ही न था, कर्त्तव्य पालन भी था। मैं जानती थी कि यही साहब कुंवरानी के मामले में मेरे कितने विरोधी थे। मुझे रंगमहल से निकालने में उन्होंने बड़ा बल लगाया था, पर आज वही मेरे प्राणों की इस प्रकार रक्षा कर रहे थे। सच तो यह है कि उन्होंने ही मुझे नव जीवन दान दिया था। मैं मन ही मन उनकी कृतज्ञ हो रही थी। और जब-जब सारी बातों पर ध्यान आता था तब-तब मेरी आंखों में आंसू उमड़ आते थे।

मुझे वासुदेव महाराज की बड़ी चिन्ता थी। बेशक उन्होंने मेरे प्राण बचाने में अपने प्राण संकट में डाल दिए थे। वह बूढ़ा ब्राह्मण अकारण ही अपने प्यार से मुझे आप्लावित कर रहा था। मैं उन्हें देखने और उनका हाल जानने को अधीर हो रही थी, पर कर्नल ने मुझे बता दिया था कि गोली उनकी जांघ से निकाल दी गई है और उनकी हालत सुधर रही है, कोई खतरे की बात नहीं है।

मातृ-सुख

प्रसव सही-सलामत हो गया। यद्यपि मैं अत्यन्त कमजोर थी ः र
मुझे अभी ज्वरांश भी था तथापि मेरा बच्चा अत्यन्त स्वस्थ था, वह म ाे
चांद का टुकड़ा था। इस बार जो लेडी डाक्टर बम्बई से आई थी, ह
बड़ी सुयोग्य गुजराती महिला थी। अभी-अभी कोई बड़ी भारी ि ी
लेकर अमरीका से आई थी। बहुत कम आयु थी, कुमारी थी। अमरं ी
समाज और शिष्टाचार का उसपर पूरा प्रभाव था। सुन्दरी वह मु से
भी अधिक थी। मेरी तो अब उतरती जोत थी। मैं तो उसकी प्रिय ा त
को ठगी-सी देखती रह जाती थी। मेरी सारी दुःखगाथा सुनकर से
मुझसे प्यार और सहानुभूति भी हो गई थी। अब हम गहरे मित्र ।
बहुधा मैं उसे अपने यहां आग्रहपूर्वक शाम की चाय पिलाती थी। नर्सें ी
दोनों बहुत भली थीं। नर्सें एंग्लो-इण्डियन थीं। एक तो खूब मोटी अ ड़
औरत थी। टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेती थी। मजेदार औरत थी। ऐ ा-
ऐसी नकलें करती और लतीफे सुनाती थी कि हंसते-हंसते पेट में बल ड़
जाते थे, दूसरी नर्स कम उम्र की थी। पर अपने काम में चौकस थ ।
उसका सेवा-भाव धर्म को छू गया था। वह श्रद्धा और प्रेम से सेवा क ी
थी। अब मेरे चारों ओर प्रेम, मित्रता और आनन्द का वातावरण थ ।
मोटी नर्स को राजा-रजवाड़ों के, खवासों के, सौतों के झगड़े-बखेड़े सु ने
का बड़ा चाव था। जब उसे मालूम हुआ कि मैं रानी-महारानी न ीं,
गोली हूं, और मेरे जीवन की विचित्रताएं ज्यों-ज्यों उसपर प्रकट ह ने
लगीं त्यों-त्यों वह मुझे खिलौना समझकर खोद-खोदकर मेरा जीवन- त
पूछने लगी।

यह सब प्रबन्ध बड़े साहब ने स्वयं किया था। वह बराबर की क ो
में अभी तक उपस्थित थे तथा मेरे साथ दिलचस्पी रखते थे। दो बार ो
वह सपत्नीक मुझे देखने आ चुके थे और फल-फूल के उपहार तो व ा
भेजते ही रहते थे। मेरे प्रति जैसे उनकी ममता जाग उठी थी। इन ब
बातों के कारण भी डाक्टर, नर्स और दूसरे लोग सब मेरी लगन से सेवा-

सुश्रूषा करते थे। वासुदेव महाराज स्वयं अपने हाथ से मेरा पथ्य बनाकर अपने सामने मुझे खिलाते-पिलाते। जब तक मैं खाती-पीती रहती अपनी हकलाहट-भरी बातों से वह मुझे खिलाते-पिलाते, हंसाते रहते थे।

दिन बीतते चले गए और मेरा बच्चा अब एक महीने का हो गया। मेरा स्वास्थ्य अब बहुत कुछ सुधर गया था पर कमजोरी तो अभी थी ही। इसने डाक्टर राबर्ट ने यह निश्चय किया कि अभी और दो मास तक मुझे यहीं रहना चाहिए। मुझे इसमें कुछ उज्र न था। मनोरम दृश्य, सुखद वातावरण, स्वास्थ्यप्रद जलवायु, आनन्दमयी मित्र-मण्डली। और अब मुझे क्या चाहिए था? वह माली अब मेरा भारी मित्र बन गया था। दोनों समय फूलों के गुलदस्ते। हार, चोटी और न जाने वह क्या-क्या ले आता था। घण्टों बैठाकर मैं उससे बातें करती और चलती बार उसे कुछ न कुछ अवश्य देती थी। उसके बेटे की बहू कभी-कभी आकर मेरे पैरों के तलुओं में तेल मल जाती थी। बड़ी लजीली और स्वस्थ बहू थी। एकदम नुर्मई रंग और खूब भरा शरीर। पच्चीस वर्ष की आयु। बड़ी-बड़ी आंखें। चांदी के भारी-भारी गहने। उसे मैंने अपना एक सोने का जड़ाऊ गहना दे दिया था। वह पहले मुझे सरकार कहकर पुकारती थी। सभी मुझे यही सम्बोधन करते थे। केवल वासुदेव महाराज चम्पाकली कहते और डाक्टर राबर्ट 'माई चाइल्ड' कहते थे। नई डाक्टरनी ने भी सरकार कहना आरम्भ किया था, पर मैंने उन्हें जब अपना सारा जीवन खोलकर बता दिया तब उन्होंने मेरा एकदम नया नामकरण कर डाला। किसुन का शुद्ध उच्चारण लगाकर वह मुझे श्रीमती कृष्ण कहने लगी। बालक के पिता का नाम जो अब तक किसुन दरोगा लिखा जाता था, यहां डाक्टरनी के कहने से मिस्टर कृष्णसिंह लिखा गया। मैं अपने अदृश्य किसुन को मिस्टर कृष्णसिंह के नवीन संस्करण में न केवल नये सिरे से प्यार करने लगी, अपितु श्रीमती कृष्ण के नाम में एक नया गौरव भी अनुभव करने लगी। उस माली की बहू को मैंने जीजी कहना सिखा दिया। बड़ी कठिनाई से उस भोली के मुंह से मुझ जैसी राजरानी के लिए जीजी शब्द निकला। फिर तो वह मेरे ऊपर मर मिटी।

ऐसे सुखद वातावरण को छोड़कर मैं भला क्या करने जा

जाना पसन्द करती ! विशेषकर मैं जानती थी कि जब तक यहां हूं तब तक मेरा पुत्र, मेरी आंखों का तारा, मेरी छाती से लगा हुआ है। वहां तो जाते ही छीन लिया जाएगा। यह सोचकर भी मैं यहीं रहना पसन्द करती थी। मैं सुन चुकी थी कि महाराजाधिराज राजधानी में विलायत से लौट आए हैं। परन्तु उन्होंने न कोई खत लिखा था, न मुझे बुलाया था, न कोई सन्देश ही भेजा था। उनकी यह उपेक्षा मुझे भयानक-सी लग रही थी। खास कर यह याद करके कि उन्होंने ही मेरी हत्या करने को उस खवास के बच्चे को नियुक्त किया था। अब क्या मेरे वे राजसुख के दिन बीत चुके ? अब क्या मैं राजा के मन से उतर गई ? क्या गजब कि रिया-सत में जाने पर वह मुझे फिर न मरवा डालें। अब तो मैं फूंक-फूंककर पांव रख रही थी। पर मुझे सबसे अधिक अपने किसुन का अभाव खटक रहा था। मैं चाह रही थी कि केवल किसुन यहां आ जाए, तो मैं अब जीवन-भर कभी रियासत में जाऊं ही नहीं। पर मुझे न किसुन का कोई समाचार मिला था, न केसर का और न अपने बच्चों का। इन सब बातों के लिए मैं कभी-कभी बहुत ही व्याकुल हो उठती थी।

इसी समय कर्नल राबर्ट ने मुझे सूचना दी कि उन्हें रियासत से बुलावा आया है, और उन्हें यह भी आदेश हुआ है कि वह मुझे भी साथ लेते आएं। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने अपने मन की बात भी कह दी। उन्होंने कहा, "मेरी बच्ची, मुझे अभी वहां नहीं जाना चाहिए। प्रथम तो अभी तेरा स्वास्थ्य पूरे तौर से ठीक नहीं हुआ। दूसरे वहां का वातावरण कैसा है, हिज हाइनेस की मनोवृत्ति कैसी है, यह मैं पहले जाकर जांच करना चाहता हूं। तीसरे यहां तेरे लिए सब भांति का आराम है। इसलिए तू अभी तीन महीने यहीं रह। मैं ए० जी० जी० से कहकर इसका प्रबन्ध करा दूंगा।"

मुझे इस बूढ़े अंग्रेज की बात भा गई। मैंने कहा, "आप मेरे पिता-तुल्य हैं। मेरे भले के लिए आप जो ठीक समझें, वही करें। परन्तु आप भी यहीं रहें तो उत्तम है।" पर डाक्टर राबर्ट ने बताया कि यह सम्भव नहीं है। अन्ततः यह तय पाया कि जब तक मैं यहां हूं, वह लेडी डाक्टर और नर्स भी यहीं रहेंगी, भले ही इनका खर्चा मुझे पाकेट से ही देना पड़े।

वासुदेव महाराज भी मेरे पास ही रहेंगे, यह भी तय हुआ।

डाक्टर रावर्ट ने ऐसा प्रबन्ध करा दिया और चलते-चलते वह कह गए, "जब कभी कोई कठिनाई हो, बड़े साहब से कहना।"

वह चले गए और अब मैं स्वच्छन्दतापूर्वक अपने बेटे को छाती से लगाकर निर्द्वन्द्व माता का सुख-भोग करने लगी—अपने जीवन में पहली ही बार। यद्यपि यह मेरी पांचवीं सन्तान थी, और अब मैं अधेड़ आयु की स्त्री थी।

मुकदमा

एजेण्ट गवर्नर जनरल बहादुर बड़े सख्त अंग्रेज थे। पहले कह चुकी हूं कि कुंवरी के मामले में वह मेरे प्रबल विरोधी थे, यहां तक कि मुझे रियासत से बाहर निकालने में उन्होंने कोई कोर-कसर नहीं रखी थी। परन्तु आज वह मेरे ऊपर अत्यन्त सहृदय थे। वास्तव में न्याय और व्यवस्था पर ही उनका ध्यान था। मेरी हत्या का षड्यंत्र अत्यन्त ही जघन्य था। वह जानते थे कि ऐसे मामले अक्सर रियासतों में होते रहते हैं। मेरी जैसी गोलियां, जब तक सुन्दर व जवान रहती हैं, इसी तरह चूसी जाती हैं, और फिर उनका कण्टक दूर कर दिया जाता है। राजा-रईसों की रंगरेलियों की यह पुरानी परम्परा है। एक निष्ठावान अंग्रेज कैसे इसे बर्दाश्त कर सकता है। अतः इस मामले में ए० जी० जी० ने बड़ा सख्त कदम उठाया और जिस समय मैं आबू की उपत्यकाओं में बैठी अपने पुत्र को लोरियां गा-गाकर वहां के स्वस्थ सुखद वातावरण का आनन्द ले रही थी, उस समय राजधानी में उथल-पुथल हो रही थी। मेरी हत्या का प्रयत्न करने में लाल जी खवास और डाक्टर नायडू की गिरफ्तारी की बात हजार मुंह से विविध रूप धारण करके फैल गई थी। उसमें बहुत-सी बातों का भी समावेश हो गया था। उधर महाराजाधिराज

लौटते ही अपनी पतलून का जलसा धूमधाम से करने की तैयारी कर चुके थे। बहुत-से राजा-रईस अंग्रेज अफसरों को आमंत्रित किया गया था। दावत की बहुत भारी तैयारी की जा रही थी। इतने में ही इस मुकदमे में महाराज का नाम आ जाने से ये सारी तैयारियां उलट-पुलट हो गईं और महाराज को गद्दी से उतार देने की अफवाह सारी रियासत में फैल गई।

महाराजाधिराज एकदम बौखला उठे। मैं कह चुकी हूं कि उनमें अनेक अच्छे गुण थे। परन्तु वह सनकी भी एक नम्बर के थे। उन्होंने सनक में ही वह पतलून सिलवाई थी। भला कौन उन जैसा पढ़ा-लिखा सभ्य पुरुष ऐसी पतलून पहनने की कल्पना कर सकता था! अब तो ऐसी भी खबरें आ रही थीं कि राजा पागल हो गए हैं।

इन सब सूचनाओं को पाकर मैं बौखला उठी। कैसी अद्‌भुत बात है कि मेरा भाग्य इसी पुरुष से बंधा था। अब मैं कभी-कभी यह सोचने लगती थी कि मेरा क्या होगा। यद्यपि मेरे पास अब अपनी काफी जमा पूंजी थी, हीरे-जवाहरात भी थे, तथापि मैं रह-रहकर यही सोचा करती कि मेरा किसुन मुझे मिल जाए और मैं सचमुच श्रीमती कृष्ण बनकर राजधानी से बाहर कहीं अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में किसी नगर में जा बसू। परन्तु क्या यह सम्भव हो सकता था? हम गोली-गुलामों का है ऐसा भाग्य!

फिर भी यह विचार मेरे मस्तिष्क में पुष्ट होता जा रहा था और मैं यही सोचा करती थी कि कभी न कभी यह स्वप्न पूरा होगा ही। परन्तु किसुन की मुझे कोई सूचना न मिल रही थी। हर बार मैं वासुदेव महाराज से कहती। वह अपने आदमियों को लिखते, पर हर बार उन्हें वही जवाब मिलता कि किसुन का कुछ भी पता नहीं है। सुना है कि अन्नदाता ने उसे कैद में डाल दिया है। यह समाचार सुनकर मैं अधीर हो उठी। मैंने चाहा कि एक बार वासुदेव महाराज स्वयं राजधानी जाएं और सब समाचार ले आयें। परन्तु अभी मैं यहां निरापद न थी। वासुदेव महाराज ने भी मुझे छोड़ जाना ठीक नहीं समझा। इतने में मुझे सूचना मिली कि मेरी हत्या के षड्‌यंत्र का जो मुकदमा चल रहा है, उसमें मुझे भी गवाही

देने राजधानी जाना होगा। षड्यन्त्र में महाराजाधिराज भी सम्मिलित थे, इसलिए यह मुकदमा साधारण अदालत में न चलाकर इसके लिए एक विशेष अदालत बैठाई गई थी, जिसकी कुल कार्यवाही बन्द कमरे में हो रही थी। मेरी गवाही अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण थी। उसीपर महाराजाधिराज की गद्दी और इज्जत निर्भर थी। मुझे सख्त पहरे में राजधानी ले जाया गया, क्योंकि ए० जी० जी० की हिदायत थी कि मेरी सुरक्षा का पूरा बन्दोबस्त रहे।

मैं सीधी अदालत पहुंचाई गई। अदालत में किसी भी बाहरी आदमी को नहीं आने दिया गया था। फिर भी बाहर आदमियों की भारी भीड़ थी। अखबार वाले भी काफी शोर मचा रहे थे और वातावरण खूब उत्तेजनापूर्ण था। मुझे देखकर भीड़ और उत्तेजित हो गई। मुझे घेर लिया गया और पुलिस ने बड़ी कठिनाई से मुझे अदालत में पहुंचाया। लाल जी खवास और डाक्टर नायडू दोनों ही अभियुक्त अदालत में हथकड़ियों से जकड़े हुए हाजिर थे। अदालत ने उनकी जमानतें मंजूर नहीं की थीं। परन्तु महाराजाधिराज उपस्थित नहीं थे। महाराज की ओर से कलकत्ता-बम्बई के बड़े-बड़े बैरिस्टर पैरवी कर रहे थे। नायडू और खवास ने भी बड़े-बड़े वकील जुटाये थे। मुकदमा सरकार की ओर से चल रहा था और सरकार ने भी एक बहुत बड़ा वकील खड़ा किया था। नायडू का चेहरा उतरा हुआ था। मुझे देखकर उसने आंखें नीची कर लीं। अनुनय और अनुताप उसकी आंखों में भरा था। पर खवास जलती आंखों से मुझे घूर रहा था। उसपर दो संगीन जुर्म थे, एक मेरी हत्या का षड्यन्त्र करना और जहर देना और दूसरा रिवाल्वर से कातिलाना हमला करना। मेरी गवाही हुई। मैंने एक-एक करके सारी ही घटनाएं बयान कर दीं। पर जब राजा की बात आई मेरी वाणी जड़ हो गई। जब सरकारी वकील ने प्रश्न किया कि तुम जानती हो कि हिज हाइनेस भी इस साजिश में थे, तब किसी अदृश्य शक्ति ने मेरे मुंह पर ताला जड़ दिया। मैं बोल न सकी, परन्तु जब बारम्बार वही प्रश्न दुहराया गया, तब मैंने धीरे से कहा, "मैं नहीं जानती।"

बयान मेरा खत्म हुआ। उसपर बहुत-सी जिरह हुई।

बैरिस्टर बहुत प्रसन्न मुद्रा में थे। महाराज के विरुद्ध तो एकमात्र मैं गवाही दे सकती थी। मेरे बाद वासुदेव महाराज का बयान हुआ। उन्हें बताया कि खवास ने उनपर मार डालने की नीयत से गोली चलाई थ लेकिन उनके झपट पड़ने से खवास का निशाना चूक गया और गो उनकी जांघ में लगी। जिरह उनसे भी बहुत हुई। बयान होने पर हम लं उसी भांति सख्त पहरे और सुरक्षा में आबू पहुंचा दिए गए।

आबू लौट आने पर मैं तरह-तरह की चिन्ताओं में घिर गई। मैं न जानती थी कि अब महाराजाधिराज मेरे साथ क्या व्यवहार करेंगे। यद्य मैंने उनके प्रतिकूल बयान न देकर उनपर भारी अहसान किया था, फि भी वह उस निष्ठा से बढ़कर न था जिसके साथ बीस वर्ष पहले मैंने उन प्रति आत्मार्पण किया था। मेरे इस आत्मार्पण के बदले यदि वह मे हत्या करा सकते थे तो भला मेरे इस बयान का वह क्या मूल्य समझ सक थे? न पहले और न अब आबू आने पर मुझे उनका कोई सन्देश मिल ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, मैं बेचैन होती जाती थी। मेरी समझ में न आता था कि क्या करूं। अन्ततः मुझसे निष्क्रिय नहीं बैठा गया। रा धानी से लौटे मुझे अभी दो ही मास हुए थे कि मैंने वासुदेव महाराज को स बातें समझा-बुझाकर राजधानी भेज दिया। मैंने उनसे अनुरोध किया वह किसुन का, मेरे बच्चों का, केसर का तथा दूसरे सारे हाल-चाल ले आयें। पहले वह मुझे वहां छोड़ने को राजी नहीं हुए, पर अन्त में च गए। अपनी गैरहाजिरी में मेरी सुरक्षा की जो भी व्यवस्था वह क सकते थे, करते गए। राजधानी से लौटकर उन्होंने जो-जो बातें बत उन्हें सुनकर मेरा मन और भी व्यग्र तथा व्यथित हो गया और मैं घब गई। उन्होंने बताया कि महाराजाधिराज ने अपने बचाव के लिए वकी की सलाह से यह बयान दिया था कि वह पागल हैं। वह सचमुच पागल या नहीं यह जांच करने के लिए दो अंग्रेज विशेषज्ञ विलायत से बुलाये थे। जब वे अंग्रेज महाराज की जांच करने महलों में गए, तब उनसे क गया कि महाराजाधिराज की हालत बहुत खतरनाक है। ज्यादा आदमि को देखकर वह भड़क उठते हैं। इससे ठीक यह होगा कि एक-एक डाक्टर ही उनकी पृथक्-पृथक् जांच करे। बेचारे अंग्रेज डाक्टर झांसे में आ गए।

थी।

उस पतलून का भी किस्सा मजेदार रहा। विलायत से लौटने पर महाराज ने उसके लिए एक बड़े जल्से और धूमधाम की व्यवस्था की थी। सुना कि एक बटन जरा ठीक से टांकने के लिए विलायत से दर्जी आया था और उसे ग्यारह हजार रुपये दिए थे। परन्तु मुकदमे के झमेले में पतलून का जलसा न हो सका। और अब इस अंग्रेज मिनिस्टर ने रंगमहल की बहुत-सी फ़ालतू चीजें—हाथी, घोड़े, जवाहरात, मोटरें आदि फालतू जिन्सें बेचकर कर्जा चुकाने की योजना बनाई तो वह पतलून भी बेच दी गई।

बुरे दिन

दिन बीतते चले गये। अब मुझे आबू में रहते एक वर्ष पूरा हो रहा था। लेडी डाक्टर और नर्सें चली गई थीं। मेरे पास केवल वासुदेव महाराज रह गए थे। इस बार वह दो लठैत अपने साथ लाये थे जो मुस्तैदी से कोठी पर पहरा देते थे और जब मैं बाहर हवाखोरी को जाती तब वे परछाईं की भांति मेरे साथ रहते थे। मैं बहुत कुछ स्वस्थ हो गई थी। मेरा पुत्र बहुत चंचल, सुन्दर और हंसमुख था। उसकी बाल-लीला ने मुझे विभोर कर दिया था। यद्यपि अपने पुत्र को अपनी छाती से लगाकर रखना मेरे लिए एक अलभ्य लाभ था, फिर भी अब यहां से मेरा जी ऊब गया था। मैं किसुन और बच्चों के लिए बेचैन हो रही थी। मैं वासुदेव महाराज से कहती कि वह मुझे राजधानी ले चलें। पर उधर से महाराजाधिराज का कोई आदेश नहीं मिल रहा था। हां, यहां मेरे खाने-पीने आदि का सब खर्चा ठीक-ठीक चल रहा था। मालिन की बहू अब दिन-भर मेरी सेवा में रहती थी। मेरा बच्चा भी उससे बहुत हिल गया था। मैं अब यह तो भूलने ही लगी थी कि मैं कभी राजरानी थी। अब तो मैं एक साधारण स्त्री की भांति इस खुशमिजाज औरत की सोहबत में अपने जिगर के टुकड़े

को गोदी में उछाल-उछालकर आनन्द के दिन व्यतीत कर रही थी। यदि किसुन और बच्चे मुझे मिल जाते तो मैं कभी राजधानी जाने का नाम भी न लेती। पर अब तो ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे थे, मैं अधीर होती जाती थी। एजेण्ट गवर्नर-जनरल बहादुर सीजन खत्म होते ही चले गये थे। मेरे बयान से वह कुछ असन्तुष्ट भी हुए थे, ऐसा मैंने सुना था। उनकी कोठी अब सुनसान पड़ी थी। मेरी कोठी में प्रायः सन्नाटा रहता था। रात को जब वायु पहाड़ों से टकराती तब मैं डर जाती थी। सर्दी अब शुरू हो गई थी और अभी से तेज ठंडी हवा के झोंके तीर-से लगने लगे थे।

मैंने महाराजाधिराज का कितना उपकार किया था। पर आज उन्होंने एकबारगी ही मुझसे मुंह फेर लिया था। कैसे आश्चर्य की बात थी! वह तो मुझे बहुत प्यार करते थे! बहुत मानते थे! मुहब्बत की बड़ी-बड़ी बातें करते थे! मैं अभागिनी अब उन्हीं सब बीती बातों को सोचा करती थी और कभी-कभी रोया करती थी। मैं रोती थी अपने बीते दिनों को याद करके, पर अभी मुझे और भी बुरे दिन देखने पड़ेंगे, यह मैं बिलकुल नहीं जानती थी। कभी-कभी यह आशंका मेरे मन में घर कर जाती थी कि आखिर महाराजाधिराज ने जो मुझे एकबारगी ही बिसार दिया है, इसका कारण क्या है? क्या अब वह मुझे नहीं रखेंगे? तब मेरा क्या होगा? इस विचार ने मेरा खाना-सोना हराम कर दिया था।

इसी समय कुछ भयानक खबरें मुझे राजधानी से मिलीं। वासुदेव महाराज का एक विश्वस्त शिष्य ये खबरें लाया था। सबसे बड़ी खबर तो यह थी कि एक ठाकुर की बेटी से महाराजाधिराज ने नया ब्याह रचाया है। दूसरी यह कि केसर मर गई है और मेरी दोनों लड़कियां होस्टल में मेरी बड़ी लड़की के पास हैं। किसुन के सम्बन्ध में कोई खबर नहीं मिल रही थी। मेरे लिए ये सब खबरें मौत से भी बढ़कर भयानक थीं और अब मैं अपनेको स्थिर नहीं रख सकती थी। यहां अब एक क्षण भी काटना मुझे पहाड़ हो रहा था। वासुदेव महाराज से मैंने सलाह ली। उनका विचार था कि वह एक बार जाकर वहां के हाल-चाल देख आएं। पर मेरी तकदीर में जो कुछ भोगना बदा था, उसने मेरी मति फेर दी और मैंने तुरन्त ही राजधानी चल देने की ठान ली। अन्ततः

दी। या यों कहूं कि होनी मुझे विपत के सागर में खींच लाई।

राजधानी में जाकर मैंने देखा कि मेरा महल अब मुझे नहीं मिल सकता, क्योंकि महाराजाधिराज ने जिस ठाकुरड़े की लड़की से नया व्याह किया है, वही उस महल में नई रानी की तरह आबाद है और राजधानी में महाराज के व्याह की धूमधाम चल रही है। मेरे महल में सुहागरात मनाई जा रही है। विलायती शराब के दौर चल रहे हैं। दूर-दूर के रंडी-भांड आए हैं। उनके मुजरे हो रहे हैं। यह सब देखकर तो मेरा मुंह सूख गया। अब मैं कहां जाऊं? कहां रहूं? वासुदेव महाराज ने महाराजाधिराज से मुलाकात करनी चाही, पर मुलाकात नहीं हुई। लाचार वासुदेव मुझे अपने घर ले गये। उनकी आंखों में आंसू आ गए। मेरी दुर्दशा और असहायावस्था देखकर उस बूढ़े ब्राह्मण का दिल रो उठा। वह पुराना सम्बोधन चम्पाकली भूल गया। मेरे पुत्र को मेरी गोद से अपनी गोद में लेकर कहा, "चलो बेटी, इस ब्राह्मण का घर तुम्हारे लिए खुला है। जो रूखा-सूखा मिले खाना और समझना कि अपने गरीब बाप के घर आई हो।" मैं भी अपने आंसू न रोक सकी। आज तो धरती-आसमान पर मेरा कोई न था। केवल वासुदेव महाराज का आसरा था। मैंने भी अपने अतीत की सब बातें भुला दीं। कांपते कण्ठ से कहा, "चलिए पिता जी!" और मैं उनके पीछे चल दी।

वासुदेव महाराज का घर काफी बड़ा था। पक्की तिमंजिला हवेली थी। पर मेरे रंगमहल की भला उससे क्या तुलना हो सकती थी! घर में वासुदेव की वृद्धा माता और वृद्धा पत्नी थी। एक पुत्र था, जिसने हाल ही में कानून पास किया था। वह रियासत ही की कचहरी में प्रैक्टिस करता था। उसका विवाह हो गया था, पर बहू अभी मायके में ही थी। एक सेवक था, जो ऊपरी काम-धन्धे करता था। मकान के नीचे का खण्ड एकदम मर्दाना था। उसी की एक बारहदरी में अखाड़ा बना हुआ था। वहां वासुदेव महाराज की शिष्य-मण्डली कुश्ती, छुरी, तलवार, गदके के हाथ सीखती थी। वासुदेव महाराज की आवाज सुनकर वे सब आ जुटे। मुझे ऊपर की मंजिल में एक छोटी-सी कोठरी मिली। वहां एक साधारण-सी चारपाई पर बिछी शतरंजी पर जब मैंने अपने बच्चे को सुलाया तब अपने

भाग्य के इस परिवर्तन को देख मुझे हंसी आ गई। वाह रे, विधाता! मेरा बिस्तरा मेरे साथ था। वस्त्र भी बहुत थे। पर बिस्तरा मैंने खोला ही नहीं। मैंने निश्चय किया कि मैं इस ब्राह्मण के घर उसकी बेटी बनकर साधारण जीवन ही व्यतीत करूंगी। थोड़ी देर में उनकी ब्राह्मणी मेरे लिए थाल परसकर लाईं। बच्चे के लिए दूध भी लाईं। मैंने कहा, "मां जी, मेरे लिए इतना कष्ट न करें। मैं वहीं आकर भोजन कर लूंगी।" इसपर उन्होंने कहा, "नहीं रानी बेटी, यह ठीक न होगा। मुझे अपने बच्चों को खिलाने-पिलाने में कष्ट काहे का होता है!"

मैंने तो अपने जीवन में नौकरों की सेवाएं देखी हैं। बुजुर्गों की प्यार-भरी सेवा तो यह पहली बार ही देखी। मेरी आंखों में आंसू आ गए और मैंने झुककर उनके चरणों में सिर रख दिया।

दूसरे दिन सवेरे ही मैं साफ-सादा सूती साड़ी पहनकर ब्राह्मणी के पास जा पहुंची। वह रसोई की, खटपट में लगी थीं। मैंने पास पहुंचकर कुछ संकोच से कहा "मां जी, मैं शूद्र हूं, गोली हूं, आपकी रसोई में नहीं आ सकती। पर काम मुझे भी चाहिए। दाल मैं धो दूंगी, चावल मैं साफ कर दूंगी। बर्तन मैं मांज दूंगी।" ब्राह्मणी किसी तरह राजी न हुईं, पर मैं हठ पकड़ बैठी। लाचार ब्राह्मणी को मेरा हठ मानना पड़ा। घर के सभी कामों में मैं हाथ बंटाने लगी। जीवन में कभी भी तो मैंने घर-गृहस्थी का काम नहीं किया था। झाड़ू कभी हाथ से नहीं छुई थी। करछुल को हाथ नहीं लगाया था। पर आज तो मैं सभी कुछ कर रही थी, यहां तक कि जूठे बर्तन भी मांजने में मुझे सुख था। मना वासुदेव महाराज ने भी बहुत किया, पर मैंने माना नहीं। मेरे पास अब भी काफी रुपया था, पर वासुदेव महाराज ने वह लेना स्वीकार नहीं किया। मैंने भी हठ नहीं किया।

एक महीना बीत गया। मैं अपने इस नये गृहस्थी के जीवन की कुछ-कुछ अभ्यस्त होने लगी। वासुदेव महाराज तो उदार वृत्ति के ब्राह्मण थे ही, उनकी माता और पत्नी भी वैसी ही थीं। खासकर माता बहुत विदुषी और पण्डिता थीं। वह छुआछूत का वैसा कुछ विचार नहीं रखती थीं। खासकर मेरे प्यार ने उन्हें वशीभूत कर लिया था और मैं उनकी रसोई में भी सहायता करने लगी थी। अपनी घर-गृ

काम-काज भी मैं अपने हाथों से करने लगी। अपने बच्चे को तेल मलती
उबटना लगाती, नहलाती और छाती पर सुलाती। ये सब काम अप
हाथों से करने में मुझे आनन्द आने लगा, ऐसा आनन्द, जो न कभी मां
साथ रहते हुए बचपन में आया था और न रंगमहल में राजरानी बनकर
मैं भूल गई थी कि मैं गोली-गुलाम हूं, मेरा रक्त राजा का बन्धक है औ
मेरा कलुषित शरीर पाप-धर्म से दूषित है। अब तो मैं ब्राह्मण-कन्या क
भांति सारे आचार पालन करके इस सीधे-सादे प्रेमी और उदार ब्राह्मण
घर उसकी बेटी बनकर रह रही थी। आश्चर्य तो यह था कि मैं आस्तिक
बन गई थी। मैं नित्य उठकर नित्य-कर्म से निवृत्त हो स्नान-पूजन, सन्ध्य
करती, उसी भांति, जैसे गृहिणी करती थी। फिर मैं थोड़ा जलपान कर
बच्चे को नहलाती, खिलाती-पिलाती और तब घर-गृहस्थी के कामों
ब्राह्मणी को सहायता देती या मांजी की चरण-सेवा करती और योग
वाशिष्ठ तथा गीता का वचनामृत-पान करती। मेरे जीवन का सुप्रभात
उदय हुआ था। कभी कल्पना में न आया हुआ जीवन-रहस्य मुझप
प्रकट हो रहा था। मैं नारीधर्म समझ रही थी। नारी-जीवन व्यतीत क
रही थी। मेरा नारी-शरीर उसी एक मास में धन्य हो गया था। मैं उस
समय में—एक साथ ही सच्चे अर्थों में माता, कुलवधू और सभ्य-शिष्ट
परिवार की कन्या बन गई थी। मेरे जीवन की वह अस्वाभाविक असा-
धारणता खत्म हो चुकी थी और अब मैं नारी बन गई थी।

पर हाय रे गोली की योनि! अभी तो मुझे वास्तविक गोली जीवन
के अवशेष अध्याय पूरे करने थे। मैं गोली मां की कोख से जन्मी हूं तो क्य
कुल-कन्या या कुल-वधू होने के लिए? इसी जन्म में रौरव नर्क का भोग
न किया तो गोली कैसी? मैं अभागिनी अपने उस निर्वासित, उपेक्षित,
किन्तु गौरवपूर्ण नये जीवन का सुख अभी पूरे एक मास भी न भोग पाई
थी कि उसका अन्त आ गया।

एक दिन सवेरे ही सवेरे रथ मुझे ड्योढ़ियों में ले जाने के लिए आ
गया। ड्योढ़ी की चर्चा तो मैं आपसे कर चुकी हूं। वहां की बड़ी-बड़ी
रोमांचकारी घटनाएं मेरे रंगमहल में रहते घटी थीं। उसकी काली-मन-
हूस दीवारों की छाया से भी मैं सदा दूर ही रहती थी, यद्यपि वह रंग-

महल का ही एक भाग था, पर रहस्यपूर्ण और अगम था। प्रसिद्ध था कि जो स्त्री एक बार उस काल-मुख में प्रविष्ट होती थी, वह फिर जीते जी बाहर नहीं निकल सकती थी। यद्यपि उस स्त्री-नरक का यमराज लाल जी खवास इस समय जेल काट रहा था, पर उसके यमदूतों का वहां अखण्ड राज्य था।

मुझे ड्योढ़ियों में ले जाने के लिए रथ आया है यह सुनकर ही मेरे शरीर-रक्त की गति रुक गई और मैं जैसे मूच्छित हो गई। अब मैं अपनी मूर्खता पर पछताने लगी। क्यों मैं रियासत मे लौट आई? मैं अंग्रेजी राज में खुशी से बस सकती थी, बम्बई, कलकत्ता दिल्ली कहीं भी। मैंने अपनी मूर्खता या मूढ़तावश उस षड्यन्त्र के मुकदमे में राजा का बचाव करके ए० जी० जी० को नाराज कर दिया था। क्या ही अच्छा होता यदि मैं उनकी शरणापन्न हो जाती और उनकी सुरक्षा में इस गुलामी के जीवन से मुक्ति पा लेती। परन्तु मैं अभागिन करती भी क्या? किसुन का और बच्चों का मोह मुझे यहां खींच लाया था और अब मैं काल-सर्प की कुण्डली में फंस चुकी थी। मेरा क्या होने वाला था, यह मैं ठीक-ठीक नहीं जानती थी, पर मेरे बुरे दिन आए हैं यह तो मैं समझ ही चुकी थी।

संक्षेप में, बहुत रोना-धोना हुआ। वासुदेव महराज ने बहुत गर्जन-तर्जन किया। मैंने मांजी की बहुत दुहाई दी, परन्तु सब बेकार।

कपड़े-लत्ते उसके साफ-सुथरे थे और वह एक अच्छे घोड़े पर सवार था। वह घर के भीतर घुस आया था और वारम्वार गरजकर कह रहा था, "उस गुलमटी गोली को अभी हमारे हवाले करो, वरना सवको वांध ले चलूंगा। अन्नदाता का हुक्म है। जल्दी से वाहर निकालो, देर मत करो!" मुहल्ले के वहुत से नर-नारी एकत्र हो रहे थे। मैं भय से पीली पड़ गई थी और पीपल के पत्ते की भांति कांप रही थी तथा अपने वच्चे को छाती से लगाकर करुणाभरी दृष्टि से कभी उस नये यमदूत की ओर और कभी वासुदेव महाराज की ओर ताक रही थी। वासुदेव महाराज विफरे हुए शेर की भांति फूं-फां करते, दहाड़ते, हकला-हकलाकर उस गोले अफसर को गाली-गुफता देते घर-भर में चक्कर लगा रहे थे। वह गुलमटा भी मुंह दर मुंह उन्हें गालियां दे रहा था। अजव अंधेर था। अन्नदाता का हुक्म था। उसकी कहीं दाद-फरियाद न थी। अंग्रेज सरकार से राजा-रजवाड़ों की ऐसी ही संधि थी, वे राजाओं के भीतरी शासन में दखल नहीं देते थे। ऐसे-ऐसे छोटे-मोटे अत्याचार भी शासन के ही अन्तर्गत थे। ये तो रियासतों की नित्य की घटनाएं थीं। इसमें सिरदर्द मोल लेने की भला अंग्रेजी सरकार को क्या जरूरत थी। राजा लोग उनके कोल्हू के वैल थे। उनके साम्राज्य के स्तम्भ थे। उन्हें वनाए रखना उनके साम्राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक था। वास्तव में ये राजा व्रिटिश राज्य के पीले सोने के खम्भे थे। इन पर आंच न आने देना और इन्हें कायम रखना उनकी नीति थी। फिर ऐसे छोटे-छोटे घरेलू झमेलों का पता ही उन्हें कहां लग सकता था! रियाया में विद्रोह करने का दम न था। गली मे सैकड़ों आदमी जमा थे। एक औरत विना मर्जी के जवर्दस्ती ले जाई जा रही थी, पर इसका विरोध करने की शक्ति किसीमें न थी। अकेले वासुदेव महाराज ही रस्से छुड़ा रहे थे।

अन्त में वात वहुत वढ़ गई। वासुदेव महाराज तलवार सूतकर पैंतरा वदलकर मेरे आगे आ खड़े हुए। उन्होंने कहा, "अवे गुलाम, आ तेरा सिर अभी धड़ से जुदा करता हूं।" उधर उस गोले ने सिपाहियों को ललकारा, "देखते क्या हो, वांध लो इस वाम्हन को। घर की सव औरतों को भी वांध लो। इनपर राज-विद्रोह का मुकदमा चलेगा। हंसी-खेल

नहीं है, अन्नदाता का हुक्म है।"

एक क्षण में ही कुछ घटना होने वाली थी कि अन्ततः मैंने साहस किया। अपने भाग्य पर मैंने हाय की। वासुदेव महाराज के हाथ से तलवार लेकर म्यान में की और चादर बदन से लपेट अपने बच्चे को और भी छाती के निकट खींच मैंने कहा, "चल निर्दयी, मैं चलती हूं।" मैंने माताजी और गृहिणी के पैरों में सिर रखा। वासुदेव महाराज के चरण छुए और चल दी रथ में बैठकर—चौधारे आंसू बहाती हुई, रौरव नरक में प्रविष्ट होने के लिए, अपने जन्म-जन्म के कर्मों का लेखा-जोखा भुगतने के लिए अथवा अपने गोली के जीवन को पूरा करने के लिए।

ड्योढ़ियों का नारकीय रूप

ड्योढ़ियों के विषय में ब्यौरेवार सब बातें जानने के लिए आप अवश्य उत्सुक होंगे। बहुत बार प्रसङ्ग आने पर मैंने उसकी चर्चा की है, पर मैंने भी सुनी-सुनाई बातें कही थीं, कभी स्वयं तो मैं गई ही न थी। परन्तु अब सुन लीजिए और देख भी लीजिए, इस प्रत्यक्ष रौरव नरक को या कुम्भीपाक नरक को। अब तो मैं यहां आ ही गई थी, सब कुछ देख रही थी, भुगत रही थी। मेरे जैसे प्रत्यक्षद्रष्टा और भुक्तभोगी और कौन आपको दूसरा मिलेगा, राजस्थान के राजा-महाराजाओं की विलास-वासना की इस कुत्सा का चश्मदीद गवाह!

ड्योढ़ियों का यह रौरवावास रंगमहल के बिलकुल पिछवाड़े भाग में है। त्रिपोलिया द्वार से तनिक आगे बढ़कर बाईं ओर जो मार्ग रंगमहल के पीछे की ओर गया है, उसीके छोर पर एक पतली गली है, जिसमें कठिनाई से एक वाहन जा सकता है। गली के दोनों ओर ऊंची-ऊंची दीवारें हैं। एक ओर रंगमहल के पिछवाड़े की और दूसरी ओर नगर के प्रधान बाजार के पिछवाड़े की। दीवारों में एक भी मोखा-सूराख, खिड़की-झरोखा

कहीं नहीं है। ड्योढ़ियों के फाटक पर जाकर यह गली समाप्त हो जाती है। गली में सदैव सन्नाटा रहता है, क्योंकि यह आम रास्ता नहीं है, केवल ड्योढ़ियों का एकमात्र रास्ता है, जिसपर कोई भी व्यक्ति जाता-आता नहीं। ड्योढ़ियों में किसी स्त्री-पुरुष, नौकर-चाकर को आने-जाने की आज्ञा नहीं है। केवल लाल जी खवास ही वहां अकेला आ-जा सकता था। वह अब जेल में था और उसकी जगह पर वह जालिम वहां का दारोगा तैनात हुआ था।

ड्योढ़ी में घुसते ही एक बिलकुल अंधेरा कमरा आता है, जिसमें सम्मुख ही हनुमानजी की एक डरावनी विशाल मूर्ति है, जिसे सब लोग बालाजी कहते हैं। यही ड्योढ़ियों में रहने वाली अभागिन स्त्रियों के इष्टदेव हैं। हर मंगलवार को वहां ड्योढ़ी की प्रत्येक स्त्री जाकर प्रसाद दे-ले सकती है। उसी दिन पुजारी भी वहां आता है। इसी कमरे के एक छोर पर एक द्वार है, जहां कोई तीन फुट चौड़ा एक गलियारा दूर तक चला जाता है। गलियारे में घुप अंधकार रहता है। बिना मशाल या लालटेन लिए वहां चलना असम्भव है। गलियारे की छत कहीं-कहीं सिर को छू जाती है। गलियारे के दोनों ओर पत्थर की दीवारें-फाटक हैं, जिनमें कहीं कोई मोखा-खिड़की नहीं है। उसके छोर पर एक फाटक के बाहर एक खुला चौक है, जिसके चारों ओर छोटी-छोटी कोठरियां बनी हैं। कोठरियां प्रायः दस-बारह फुट लम्बी-चौड़ी हैं। आप समझते होंगे, यह रंगमहल है, इनमें महाराजाधिराज की रखेलिनें रहती हैं, इसमें बड़े ठाठ-बाट, साज-शृंगार के सामान होंगे, फर्नीचर होगा, बिजली का प्रकाश होगा, अन्य विलास के साधन होंगे। परन्तु इन बातों का तो वहां नामो-निशान भी नहीं है। कोठरियों में दरवाजे या किवाड़ नहीं हैं। कोई स्त्री भीतर से किवाड़ बन्द करके एकान्त में नहीं रह सकती। इस सम्बन्ध में ड्योढ़ियों में कठोर शासन है। कोठरियों में कोई फर्नीचर, मेज-कुर्सी भी नहीं है। चारपाइयां भी नहीं हैं। प्रत्येक स्त्री को भूमि पर पथारी बिछा कर सोना होता है। उसे खाना पकाने-खाने के बर्तन पीतल के मिलते हैं। प्रत्येक को पांच बर्तन उसके प्रवेश-काल में दिए जाते हैं। उन्हींमें उसका खाना-पीना, रसोई सब चलता है। ड्योढ़ियों के कोठार से सबको पेटिया

मिलता है। पेटिए का मतलब—पेट के गड्ढे को भरने के लिए आटा, दाल, चावल, तरकारी, नमक, मिरच, गुड़ और लकड़ी। सब चीजों की बंधी मात्रा है। प्रायः सभी जिन्स घटिया और निकम्मी होती हैं। बहुतों के लिए नाकाफी होती हैं। पेटिया एक ही समय मिलता है। उसीको दोनों, समय पकाना-खाना पड़ता है। प्रत्येक स्त्री को अपना खाना पृथक् पकाना पड़ता है। कोई-कोई मिलजुलकर भी बना लेती हैं। नाम के लिए घी भी मिलता है, जिससे दाल-भात बघार दिया जा सके।

पथारी में नारियल का एक गद्दा, एक कम्बल, दो चादरें, एक तकिया हर औरत को आते ही मिलता है। जो अपना बिस्तरा लाती हैं, वे उसीका प्रयोग कर सकती हैं। साल में दो साधारण सफेद सूती धोतियां और दो जम्पर मिलते हैं। महीने में एक बट्टी नहाने और एक बट्टी कपड़े धोने का साबुन। एक टीन का बक्स अपनी इस सारी सम्पत्ति को रखने के लिए। स्त्रियां खुले नल पर नंगी होकर नहातीं, वस्त्रों में साबुन लगातीं, लड़ती-झगड़तीः गाली-गलौज करती हैं। इन सब रौरवीय दृश्यों की द्रष्टा वे ही हैं। मर्द का बच्चा वहां नहीं जा पाता है—केवल खवास को छोड़-कर। खवास जब जाता था, एक चमड़े की चाबुक उसके हाथ में रहती थी, जिसका वह साधारण कारणों से भी प्रयोग कर बैठता था। किसी भी स्त्री को मार बैठना ऐसी बात थी कि उस ओर किसीका ध्यान ही न जाता था। खवास के आते ही प्रायः बहुत-सी औरतें अपनी-अपनी आवश्यकताएं बताने को उसे घेर लेतीं। तब अपनी जान छुड़ाने और उन्हें चुप कराने का उपाय उसके पास यही चाबुक थी। अब वही काम यह नया दारोगा करता है। अन्तर इतना ही है कि खवास केवल निर्दयी पुरुष था और यह क्रूर पशु है।

ऐसा ही वह रौरव नरक था, जो महाराजाधिराज के रनवास का एक अंग था। सच्चे अर्थों में इसे रनवास ही कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी सृष्टि महाराजाधिराज की विलास-वासना की पूर्ति के लिए ही की गई थी।

इसकी सृष्टि अब से कोई पैंतीस साल पहले इसी खवास ने की थी। तब महाराजाधिराज का गद्दी पर चरणारोहण हुआ ही था।

महाराज का खास सेवक था। इसी सेवा के वदले वह राज्य का एक खास पुरुष हो गया था और अव वह करोड़ों की सम्पदा का स्वामी था। यद्यपि इस समय वह रियासत की जेल में था, पर जीवन के सभी ऐश्वर्य उसे वहां भी प्राप्त थे, यह वात मैं सुन चुकी थी।

रंगमहल का यह भाग वास्तव में वांदियों और दासियों के लिए वनाया गया था। इस समय यह विलकुल वर्वाद, वेमरम्मत और खंडहर के रूप में पड़ा था। उसके सुधार की ओर किसीका ध्यान ही न था। मजे की वात यह थी, यद्यपि उस ड्योढ़ी के अस्तित्व को तो रियासत का वच्चा-वच्चा जानता था, परन्तु उसका भीतरी भाग है, इसको कोई नहीं जानता था। वाहरी लोग तो ड्योढ़ियों का मतलव जनाना महल ही समझते थे।

जिस प्रकार यहां पानी का प्रवन्ध यथेष्ट न था, उसी भांति रोशनी का भी कुछ प्रवन्ध न था। औरतें लालटेन जलाती थीं। कुछ की कोठरियों में मिट्टी के तेल की ढिवरियां जलती थीं। पर वहुतों के यहां तो सूर्य छिपने के वाद घोर अन्धकार ही रहता।

कुछ भलीमानस पढ़ी-लिखी और सच्चरित्रा स्त्रियां भी यहां थीं, जो भाग्य दोष से यहां आ गई थीं। वे पूजा-पाठ भी करतीं, पढ़ती व लिखती भी थीं। पर यह संख्या दो-चार से अधिक न थी। फिर भी उनका धैर्य सराहनीय था। वे एक निरीह विधवा की भांति या कहिये, भिक्षुणियों की भांति अपना काल-यापन करती थीं।

ड्योढ़ी की काल-कोठरी में

वह नर-पशु मुझे सहन में छोड़ गया। जाते समय कह गया कि अपने लिए कोई एक कोठरी ठीक कर ले। अपने वच्चे को छाती से लगाए मैं वड़ी देर तक सहन में खड़ी इन नरक के नर-कीटाणुओं को देखती रही। मैं

समझ ही न रही थी कि अब मैं क्या करूं, कहां जाऊं। धीरे-धीरे मैं आगे बढ़ी। बहुतों ने मुझे देखकर व्यंग्य किया। बहुतों ने घृणा से मुंह बिचकाकर कहा, "यह कोई नई डाइन आई है।" बहुतों ने आंख उठाकर मेरी ओर देखा तक नहीं। एक बार उस दालान में चक्कर मारकर मैं टूटी-फूटी सीढ़ियों से ऊपर चढ़ गई। वहां दो-चार कोठरियां खाली थीं। सब खराब, खस्ता हालत में। उनमें से एक को अपेक्षाकृत साफ-सुथरी समझ मैंने उसीमें रहने की ठान ली। भूमि पर अपना ओढ़ना बिछाकर मैंने बच्चे को सुला दिया। अब यहां लाज-शर्म किसकी और कैसी? झिझकती हुई बगल की कोठरी में रहने वाली से मैंने झाड़ू मांगी। उसने दुत्कारकर कहा, "दूर, झाड़ू क्या तेरा खसम रख गया है? कल ही तो एक चुड़ैल इस कोठरी में मरी है। अब तू आ मरी।"

मेरा तो सिर घूम गया। उसकी बोलियां तो जैसे मैंने सुनीं ही नहीं। मैंने केवल यही सुना कि इस कोठरी में कल ही एक औरत मर चुकी है। मैंने झपटकर अपने बच्चे को उठाकर छाती से लगा लिया और वहां से हटकर छत के दूसरे छोर पर एक टूटी हुई कोठरी के द्वार पर बैठकर रोने लगी। बच्चा मेरा छाती से लगा सो रहा था।

दीवारों के उस पार ही तो वे सब वैभव थे, जो इक्कीस वर्ष तक मैंने भोगे थे। आज अपने जन्म-जन्म के पाप को भोगने मैं इस रौरव नरक में आ पड़ी थी।

मैं रोती रही, रोती रही, रोती रही। अकेली-असहाय। कोई वहां सांत्वना देने वाला न था। सूरज चढ़ चला था। धूप फैल गई थी। मैं भूखी-प्यासी वहीं बैठी थी। रोते-रोते थक गई। आंसू बहकर सूख गए। विचारों की, कल्पनाओं की, स्मृतियों की भावना थककर तिरोहित हो गई। मैं अब एक मूढ़ जीव की भांति वहां जड़ बनी बैठी थी। चैतन्य मुझमें केवल इतना ही था कि मैं जान-समझ रही थी कि मेरा बच्चा मेरी छाती से लगा सो रहा है। कभी-कभी मैं उसके भोले-भाले चांद-से मुखड़े को देख लेती थी।

वह नर-पशु गोला फिर आया। इस बार उसके साथ दो चुड़ैलें और थीं। गन्दी-सी औरतें, जिनके चेहरों पर मनहूसियत टपक रही थी।

लिए वर्तन और आवश्यक सामान ले आए थे। आते ही उसने कर्कश स्वर में कहा, "अभी तक तूने अपने लिए कोठरी ठीक नहीं की? ऐसे ही बैठी है? वच्चा इन्हें दे दे और उस कोठरी में चली जा।"

मैंने जोर से वच्चे को छाती से लगा लिया और चीखकर कहा, "वच्चा नहीं दूंगी, नहीं दूंगी!"

"नहीं देगी? तो ले!" सपाक से चावुक मेरी पीठ पर पड़ी। कैसे आश्चर्य की वात है। मुझे तनिक दर्द नहीं हुआ। केवल ऐसा लगा, जैसे दो-चार चिउंटियों ने काटा हो। मैंने फिर उसी भांति चीखकर कहा, "मार डाल, पर वच्चा नहीं दूंगी!" उसने लात मारकर धरती पर गिरा दिया। खींचकर वच्चा मेरी गोद से उठा लिया। वच्चे को उन औरतों के सुपुर्द करके कहा, "ले जाओ इस पिल्ले को।" इसके वाद मेरी छाती पर लात रखकर कहा, "अभी मरकर क्या करेगी रांड़, अभी तो जवान है। जा उस कोठरी को ठीक कर ले। मुझसे झंझट न करना। इसीमें खैरियत है।"

मैं फटी-फटी आंखों से उसे देखने लगी। वोलना चाहकर भी वोल न सकी। मेरी जीभ तालू से सट गई। वह भारी-भारी कदम रखता हुआ चल दिया। मैं विक्षिप्त-सी 'मेरा वच्चा, मेरा वच्चा' कहती उसके पीछे दौड़ी, तो घूमकर उसने सपाक से एक चावुक और धर दी। मैं मुंह के वल गिरकर वेहोश हो गई। मेरे दो दांत टूट गए और मेरा मुंह खून से भर गया।

विपदा की चरम सीमा

वहुत देर वाद मुझे होश आया। एक वृद्धा स्त्री मेरे ऊपर झुकी मेरे मुंह पर पानी डाल रही थी। होश में आने पर मैंने सुना, वह पूछ रही थी, "कौन हो? कहां से इस नरक-धाम में आ फंसीं?"

अफ़सोस कि मेरी आंखों के सब आंसू सूख चुके थे और मेरी वाणी भी जड़ हो चुकी थी। उसने सहारा देकर मुझे उठाया। अपनी कोठरी में ले जाकर अपनी पथारी में सुलाया। थोड़ा और पानी पीकर मेरा जी हल्का हुआ। मैंने कहा, "भाग्यवती हूं मां, जो यहां नरक की आग में जलने आकर तुम्हारी गोद पा गई।"

"तो तू कोई भले घर की बहू-बेटी मालूम पड़ती है। चिन्ता न कर बेटी! सब्र से काम ले। पत्थर पर सिर टकराने से अपना ही सिर फटता है। चाहे जितना रो, यहां कोई सुनने वाला नहीं है।" उसने एक बासी रोटी और एक प्याज का गण्ठा मुझे देकर कहा, "खा ले, बेटी! खाती रह और भुगतती रह। आज तीस बरस से इस नरकधाम में मैं यही करती आ रही हूं।"

भूख से मेरी सब आंतें निकली पड़ रही थीं। वह बासी रोटी मुझे मोहनभोग-सी लगी। उसे खाकर मैंने एक लोटा ठण्डा पानी पिया। खाने-पीने से मेरा दिल ठहरा। अब मैं सोचने लगी, क्या करूं?

पर सोचने-विचारने जैसी तो वहां कोई बात थी ही नहीं। वह वृद्धा मेरे लिए जैसे एक दैवी वरदान थी। उसकी सहायता से मैंने पास की एक कोठरी को साफ किया और उसमें अपनी पथारी बिछाकर मैं उसपर पड़ गई। अब मैं अपने बच्चे के ध्यान में डूबी। वह दुष्ट हत्यारा क्या मेरे लाल को ले जाकर मार डालेगा? हाय, कहां हैं मेरे बच्चे? कहां है मेरा पति? उन सबको मेरी आज की यह दुर्दशा ज्ञात है? क्या वे सब जीते-जागते दुनिया में हैं? क्या यह भी सम्भव है कि फिर कभी उनसे मुलाकात हो? क्या जीते-जी इस नरकधाम से मेरा छुटकारा हो सकेगा? अरे, वह पापात्मा राजा मेरे समूचे आत्मदान को भूल गया? उसे मैंने शरीर दिया, कौमार्य दिया, धर्म दिया, कर्म दिया। एकनिष्ठ हो इक्कीस वर्ष उसकी सेवा की, आज उसने मुझे इस प्रकार भुला दिया? भुला दिया क्यों कहूं? यह तो बहुत छोटा-सा अपराध है। उसने तो मेरी हत्या का षड्यन्त्र किया। क्यों भला? मैं उसका क्या लेती थी? उसका क्या बिगाड़ती थी? मुझसे उसे भय क्या था? मैं एक निरीह नारी, गोली-गुलाम, तन-मन से उसीकी अनुगत दासी। भला उसे मैं कहां हानि पहुंचा सकती थी?

उसने क्या मुझसे पिण्ड छुड़ाने के लिए ही यह किया था ? वह मुझे मेरे पति को सौंप सकता था। मैं तो अपने पति और सन्तान के साथ, राजधानी में या राज्य के बाहर, कहीं भी रह सकती थी। रहकर मुझे खुशी ही होती। अब यहां इस नरक में उसने मुझे किस अभिप्राय से डाला है ? इससे तो विषपान से वहीं आबू की सुरम्य घाटियों में मेरी मृत्यु हो जाती, यही अच्छा था। हाय, आज ही का दिन देखने को मैंने अपने प्राण बचाए थे। हाय रे प्राणों के मोह ! किसी कवि ने कहा है—जिनके अंग-अंग घावों से भरे हैं, उन घावों में कीड़े पड़ गए हैं, खाज से जिसकी खाल गल-सड़ गई है, जिसकी पूंछ भी गलकर कट गई है, वह कुत्ता भी मरने से अपने प्राणों को बचाकर भागता है। ऐसा ही प्राणों का मोह होता है। नहीं तो क्या मैं अपने इस गुलाम शरीर को, जो वास्तव में पाप की गठरी मात्र है, बचाने की चेष्टा करती ?

यही सब मैं सोचते-सोचते सो गई। वृद्धा ने मुझे एक-दो बार जगाया भी। पर मैं नींद में नहीं, कुछ बदहवासी में, नशे में थी। वह नशा शराब का नहीं, भंग का नहीं, विपत्ति का था। उस विपत्ति का, जो पहाड़ से भी अधिक भारी थी और जिसने मेरे सम्पूर्ण तन-मन को, धैर्य को चकनाचूर कर दिया था।

उस दिन मैं दिन-भर सोती रही। रात-भर भी सोती रही। सुबह मेरी आंख खुली तो सूरज उग आया था और वह मनहूस अशुभ प्रभात मेरा उपहास कर रहा था। मेरा शरीर बहुत गन्दा हो गया था। धोती, जो मैंने पहन रखी थी, वह बहुत मैली थी। वासुदेव महाराज के घर से मैं न अपना बिस्तर लाई थी, न कपड़े-लत्ते, न कोई दूसरा सामान। जैसी बैठी थी, वैसी ही चली आई थी। मेरी वह सब रकम भी वहीं रह गई थी, जो मेरे बक्स में थी।

अब मुझे इस बात का ध्यान आया कि मेरी इन सब चीजों का क्या होगा ? क्या ये मुझे मिल जाएंगी ? पर यहां उन सबका प्रयोजन भी क्या हो सकता है ? मुझे अपनी सम्पत्ति का भी ध्यान आया। मेरा रुपया रियासत के तथा दिल्ली और बम्बई के बैंकों में जमा था। कई कम्पनियों के शेयर थे। गनीमत यह थी कि वह सब किसुन के हाथ में था। यदि वह

जीवित है, स्वतन्त्र है, तो अवश्य ही उसने इस मेरी सम्पत्ति की रक्षा की होगी। भलाई इसीमें है कि मैं जिस हाल में हूं, उसीमें रहूं। अपनी सम्पत्ति की चर्चा किसीसे न करूं और सन्तोष तथा धैर्य से देखूं कि भाग्य अब मेरे साथ कौन-सा खेल खेलता है।

कैसे आश्चर्य की बात है कि मैं यहां भी खाने-पीने, सोने और सब काम दूसरी औरतों की भांति करने लगी। उन पीतल के बर्तनों को मैं राख से साफ करती, नल पर जाकर धोती। वहीं नहाती, कपड़े धोती। यद्यपि बचकर चलती थी, तब भी बहुधा औरतों की गालियां खाती। कभी-कभी धक्कम-धक्का और मार-पीट भी करती। सबके साथ जाकर पेटिया लाती। यह सब काम मैं करती थी और रोती थी। जब मैं राख-भरे हाथों से बर्तन मल-कर घण्टों नल पर अपनी बारी आने की प्रतीक्षा में खड़ी रहती, तब मेरी आंखों से चौधारा आंसू बहने लगते, पर उनसे न मेरे मैले हाथ धुलते, न कलेजे की आग बुझती। आंसू आप ही सूख जाते थे। प्रायः औरतें मेरे ऊपर ताने मारतीं, "जब देखो, तभी रोती रहती है। ऐसा ही था तो यहां आई ही क्यों थी?"

धीरे-धीरे मैं सब सह गई। वासुदेव महाराज के घर का एक

महीने का सुवास यहां मेरे बहुत काम आया और मैं सन्तोष की गठरी बांध शान्त चित्त से यहां का जीवन व्यतीत करने लगी। वह वृद्धा इस अवस्था में मेरी बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

एक सप्ताह बीत गया कि वही नर-पशु फिर आया। एक घटिया किस्म की चटक रंग की साड़ी उसके हाथ में थी। उसे मेरे ऊपर फेंक-कर हंसते-हंसते उसने कहा, "इसे पहन ले और मेरे साथ चल।"

पर मैं टस से मस न हुई। जड़ बनी वहीं बैठी रही। यह देखकर क्रुद्ध होकर उसने चाबुक उठाकर कहा, "कहता हूं उठ, सो सुनती ही नहीं है तू!"

वृद्धा ने कहा, "इस जानवर के मुंह लगने से क्या फायदा बेटी! जो कहता है वही कर।" मैंने जैसे-तैसे वह बेहूदा साड़ी अपने शरीर पर लपेट ली और उसके पीछे चल दी। उसी अंधेरी गलियारी-गली को पार कर वह उसके दूसरे छोर पर एक कोठरी में आया। यहां दो-तीन औरतें और थीं। यहां भी काफी अंधेरा था। कमरे में बहुत-से बर्तन, कपड़े और फालतू सामान इधर-उधर पड़ा था। कपड़ों की बहुत-सी गठरियां भी थीं। कोठरी में मुझे ले जाकर उसने उन औरतों को बाहर खदेड़ दिया। फिर मेरी ओर कुछ अजीब दृष्टि से देखते हुए अत्यन्त स्निग्ध वाणी में कहा, "देख चम्पा, तेरी हालत पर मुझे तरस आता है। तू जानती है कि अन्न-दाता अब तेरी ओर फूटी आंखों भी नहीं देखेंगे। वह तो अपनी नई रानी के साथ मौज-मजा करते हैं। मेरा मन तुझपर है, तू मुझसे ब्याह कर ले।"

मैंने आंखें तरेरकर उसकी ओर देखा और सख्त आवाज से कहा, "मेरा ब्याह हो चुका है।"

मेरी बात सुनकर वह 'हो-हो' करके हंसने लगा। उसने अपने फटे-बांस के-से स्वर में कहा, "अच्छा-अच्छा, उस किसना गुलाम की बात करती है। वह तो गया जहन्नुम में, उसकी आस छोड़ दे।"

"क्या मतलब है?"

"अरे अन्नदाता ने उसका ब्याह एक गोली छोकरी से करना चाहा था, लेकिन वह माना ही नहीं। और तुम लोगों ने चोरी-चकारी से जो

सरकारी रकम उड़ाकर जमा-जत्था जोड़ा है, सो वह बताता ही नहीं। बड़े ही कलेजे का आदमी है। मारते-मारते मैंने खाल उधेड़ दी, पर उसने कुछ बताया थोड़े ही। अन्त में अन्नदाता ने उसे जेल में भेज दिया।"

"तू बकता है।"

"तेरे सिर की कसम, चम्पा! मेरी बात मान ले। मुझसे ब्याह कर ले। बस, तेरा बेड़ा पार। पर सब रकम जमा-पूंजी मेरे नाम तुझे करनी पड़ेगी। बता कितना रुपया बैंक में है? वह गुलमटा तो कुछ बताता ही नहीं।"

"तो तेरा उससे क्या सरोकार है? मैं भी नहीं बताने की।"

"और ब्याह?"

"वाह, क्या हौसला है!"

"मैंने अन्नदाता की मर्जी ले ली है।"

"इससे क्या होता है। मेरी मर्जी नहीं है।"

"तू क्या अन्नदाता की मर्जी के खिलाफ चलेगी?"

"अन्नदाता से कह दे कि वह मुझे कोल्हू में पेल दें।"

"उनसे कहने की क्या जरूरत है, यह काम तो मैं ही कर लूंगा। पर मैं तो तुझे प्यार करता हूं।"

"और मैं तेरे मुंह पर थूकती हूं। चोट्टा कहीं का!"

"ऐसी बात?" उसने हाथ की चाबुक फेंक दी और वह भेड़िए की तरह मुझपर टूट पड़ा। एक बार तो मैंने उसे धकेल दिया। उसका सिर दीवार में जा टकराया और उसमें से खून बहने लगा। पर इसकी उसने परवाह न की। वह फिर मुझपर झपटा। मुझे उसने भूमि पर गिरा दिया, फिर मुझे उठा-उठाकर दो-तीन बार पटका। वे दोनों स्त्रियां भी उसकी सहायता को आ गईं। उन्होंने मेरे हाथ-पैर जकड़ लिए। अब तीन-तीन राक्षस मेरे साथ जूझ रहे थे। उसका सारा मुंह खून से भर रहा था। खून उसके ऊपर से बह रहा था। मैंने अवसर पाकर उसे दांतों से खूब जोर से काट लिया। इसके बाद तिलमिलाकर उसने मेरा सिर पत्थर के फर्श पर पटक दिया। मेरा सिर फट गया और खून की धार बह निकली। धीरे-धीरे मैं बेहोश हो गई।

महीने का सुवास यहां मेरे वहुत काम आया और मैं सन्तोप की गठरी बांध शान्त चित्त से यहां का जीवन व्यतीत करने लगी। वह वृद्धा इस अवस्था में मेरी वड़ी सहायक सिद्ध हुई।

एक सप्ताह वीत गया कि वही नर-पशु फिर आया। एक घटिया किस्म की चटक रंग की साड़ी उसके हाथ में थी। उसे मेरे ऊपर फेंक-कर हंसते-हंसते उसने कहा, "इसे पहन ले और मेरे साथ चल।"

पर मैं टस से मस न हुई। जड़ वनी वहीं वैठी रही। यह देखकर क्रुद्ध होकर उसने चावुक उठाकर कहा, "कहता हूं उठ, सो सुनती ही नहीं है तू!"

वृद्धा ने कहा, "इस जानवर के मुंह लगने से क्या फायदा वेटी! जो कहता है वही कर।" मैंने जैसे-तैसे वह वेहूदा साड़ी अपने शरीर पर लपेट ली और उसके पीछे चल दी। उसी अंधेरी गलियारी-गली को पार कर वह उसके दूसरे छोर पर एक कोठरी में आया। यहां दो-तीन औरतें और थीं। यहां भी काफी अंधेरा था। कमरे में वहुत-से वर्तन, कपड़े और फालतू सामान इधर-उधर पड़ा था। कपड़ों की वहुत-सी गठरियां भी थीं। कोठरी में मुझे ले जाकर उसने उन औरतों को वाहर खदेड़ दिया। फिर मेरी ओर कुछ अजीव दृष्टि से देखते हुए अत्यन्त स्निग्ध वाणी में कहा, "देख चम्पा, तेरी हालत पर मुझे तरस आता है। तू जानती है कि अन्न-दाता अव तेरी ओर फूटी आंखों भी नहीं देखेंगे। वह तो अपनी नई रानी के साथ मौज-मजा करते हैं। मेरा मन तुझपर है, तू मुझसे व्याह कर ले।"

मैंने आंखें तरेरकर उसकी ओर देखा और सख्त आवाज से कहा, "मेरा व्याह हो चुका है।"

मेरी वात सुनकर वह 'हो-हो' करके हंसने लगा। उसने अपने फटे-वांस के-से स्वर में कहा, "अच्छा-अच्छा, उस किसना गुलाम की वात करती है। वह तो गया जहन्नुम में, उसकी आस छोड़ दे।"

"क्या मतलव है?"

"अरे अन्नदाता ने उसका व्याह एक गोली छोकरी से करना चाहा था, लेकिन वह माना ही नहीं। और तुम लोगों ने चोरी-चकारी से जो

सरकारी रकम उड़ाकर जमा-जत्था जोड़ा है, सो वह वताता ही नहीं। वड़े ही कलेजे का आदमी है। मारते-मारते मैंने खाल उधेड़ दी, पर उसने कुछ वताया थोड़े ही। अन्त में अन्नदाता ने उसे जेल में भेज दिया।"

"तू वकता है।"

"तेरे सिर की कसम, चम्पा ! मेरी वात मान ले। मुझसे व्याह कर ले। वस, तेरा वेड़ा पार। पर सव रकम जमा-पूंजी मेरे नाम तुझे करनी पड़ेगी। वता कितना रुपया वैंक में है ? वह गुलमटा तो कुछ वताता ही नहीं।"

"तो तेरा उससे क्या सरोकार है ? मैं भी नहीं वताने की।"

"और व्याह ?"

"वाह, क्या हौसला है !"

"मैंने अन्नदाता की मर्जी ले ली है।"

"इससे क्या होता है। मेरी मर्जी नहीं है।"

"तू क्या अन्नदाता की मर्जी के खिलाफ चलेगी ?"

"अन्नदाता से कह दे कि वह मुझे कोल्हू में पेल दें।"

"उनसे कहने की क्या जरूरत है, यह काम तो मैं ही कर लूंगा। पर मैं तो तुझे प्यार करता हूं।"

"और मैं तेरे मुंह पर थूकती हूं। चोट्टा कहीं का !"

"ऐसी वात ?" उसने हाथ की चावुक फेंक दी और वह भेड़िए की तरह मुझपर टूट पड़ा। एक वार तो मैंने उसे धकेल दिया। उसका सिर दीवार में जा टकराया और उसमें से खून वहने लगा। पर इसकी उसने परवाह न की। वह फिर मुझपर झपटा। मुझे उसने भूमि पर गिरा दिया, फिर मुझे उठा-उठाकर दो-तीन वार पटका। वे दोनों स्त्रियां भी उसकी सहायता को आ गईं। उन्होंने मेरे हाथ-पैर जकड़ लिए। अव तीन-तीन राक्षस मेरे साथ जूझ रहे थे। उसका सारा मुंह खून से भर रहा था। खून उसके ऊपर से वह रहा था। मैंने अवसर पाकर उसे दांतों से खूव जोर से काट लिया। इसके वाद तिलमिलाकर उसने मेरा सिर पत्थर के फर्श पर पटक दिया। मेरा सिर फट गया और खून की धार वह निक[illegible]
धीरे मैं वेहोश हो गई।

होश में आने पर मैंने अपने को अपनी कोठरी में अपनी पथारी पर पड़ा देखा। मेरे अंग से खून वह रहा था और मेरी पथारी खून से तर थी। मेरे सिर पर पट्टी बंधी थी और दर्द से मैं मरी जा रही थी। मेरे प्रत्येक अंग की जैसे जान निकल गई थी और मैं बड़ी देर तक हाथ-पैर न हिला सकी। वह वृद्धा मेरे सिरहाने बैठी बूंद-बूंद पानी मेरे सिर पर डालकर मेरी पट्टी तर कर रही थी। मुझ अभागिनी के लिए वही वृद्धा देवदूत थी और ठण्डे पानी की वे बूंदें औषध। उस नरकावास में दूसरा उपचार ही क्या था? मेरी लाज लुट चुकी थी।

लेकिन ठहरिये, मैं कैसी बात कह गयी। मुझ जैसी गुलाम गोलियों के पास लाज नाम की वस्तु होती ही कहां है?

बड़ी सख्त जान हूं। इस बार भी मैं मरी नहीं और धीरे-धीरे इस नारकीय जीवन की भी अभ्यस्त हो गई। वहां रहने वाली सभी स्त्रियों की भांति मैं भी रहने लगी। पर मेरा स्वास्थ्य बिलकुल टूट चुका था। मेरा रूप-सौन्दर्य विदा हो गया था। मेरे आगे के दोनों दांत टूट गए थे और मैं अब बुढ़िया हो चली थी। पुरानी आदतें फिर भी विद्रोह करती थीं और मैं वहां से मुक्त होने के लिए बहुत-बहुत छटपटाती थी, पर धीरज रखना मैंने सीख लिया था।

अब मैं अपने जीवन से निराश होकर एक मशीन की भांति जी रही थी। मेरे जीवन में कोई रस न था, कोई आशा न थी, कोई सुख-स्वप्न न था, कोई मधुर भावना न थी। आस-पास की औरतों से लड़ाई-झगड़ा होने पर मैं भी गालियां बकने लगी थी। मार-पीट पर भी आमादा हो जाती थी। संक्षेप में, मेरा रहा-सहा मनुष्यत्व भी समाप्त हो गया था और मैं अब न केवल पशु की भांति, बल्कि कीड़े-मकोड़े की भांति अपने जीवन की शेष घड़ियां पूरी कर रही थी। अब तो मैं अपने जीवन के दिनों को धक्के दे रही थी। चाहती थी कि किसी तरह कोई विष या हथियार मिल जाए तो जीवन का अन्त कर दूं। मुझे अब न अपने पति से, न बच्चों से मिलने की कुछ आशा रही थी। मैं यह भी नहीं जानती थी कि मेरी सम्पत्ति रही या लुट चुकी। अब तो मैं केवल मौत को ही गले से लगाने की इच्छुक थी। वह मौत, जिससे दुनिया के सभी प्राणी भय खाते हैं, आज

मेरे लिए सुखद सन्देश लाने का माध्यम बन गई थी। मैं कभी-कभी मौत को चिल्ला-चिल्लाकर पुकारती थी, पर अफसोस वह भी अब मेरे पास न फटकती थी।

नव प्रभात

इस तरह तीन साल बीत गए। एक दिन अचानक मैंने सुना—अन्नदाता मर गए। सुनकर मेरा शरीर सुन्न हो गया, जैसे एक बिजली का धक्का मुझे लगा हो। ड्योढ़ियों में सर्वत्र ही हलचल मच गई। बाहर क्या हो रहा है, यह मैं नहीं जानती थी। पर मैं केवल यही सोच रही थी कि अब हमारे इस नरकवास का क्या होगा?

मैंने ये तीन साल यों ही नहीं बिताए थे। कुछ अच्छी समझदार स्त्रियों को लेकर अपना एक दल बनाया था। मैं उस दल की मुखिया थी। हम प्रत्येक अत्याचार का डटकर मुकाबला करती थीं। एक-दो बार हमने उस नर-पशु को पीटा भी। एक बार तो हमने भी उसे धरती पर पटककर उसके सारे कपड़े-लत्ते तार-तार करके भगा दिया था। अब वह भी हम लोगों से डरने लगा था। प्रायः चरित्रहीन लोग कायर होते हैं। वह भी पूरा कायर था। बहुत बार हमने दल बांध यहां से बाहर निकलने के इरादे किये थे। मेरा ख्याल था कि हम यदि किसी तरह ए० जी० जी० के कानों तक अपनी पुकार पहुंचा सकें तो कुछ हो सकता है। मैं स्वयं सबकी मुखिया बनकर उन तक जाने को तैयार थी। परन्तु अफसोस, हमें अवसर नहीं मिला। हमारा संगठन कमजोर था और ड्योढ़ियों का प्रबन्ध खूब पक्का था। ज्यों-ज्यों हम दलबद्ध होती जाती थीं, वह पशु भी अपनी सुरक्षा और जिम्मेदारी के लिए चाक-चौबन्द होता जाता था।

अब एकाएक हिज हाईनेस के मर जाने से हमने फिर निकलने के हौसले नये किये और सुअवसर की ताक में बैठ गई। अब हम

आमादा थीं कि आवश्यकता हो तो इस नर-पशु को जान से ही मार डाला जाये। अब हमारा संगठन भी बढ़ गया था।

महाराजाधिराज का कोई औरस पुत्र रानियों से न था, इसलिए कुर्सीनामे के अनुसार एक सम्बन्धी युवक ठाकुर गोद आया और वह उसी दिन राजा घोषित हो गया। राजस्थान का ऐसा ही रिवाज है, राजा कभी मरता नहीं है और गद्दी कभी सूनी रहती नहीं है। राजा के मरते ही चाहे औरस पुत्र हो या गोद आया हुआ व्यक्ति, वह तुरन्त राजा घोषित हो जाता है और उसके राजा होने पर मृत राजा नहीं रहता। उस समय नये राजा को सूचना दी जाती है, "पृथ्वीनाथ, एक सिपाही मर गया, उसके लिए क्या आज्ञा है?" तब नया राजा हुक्म देता है, "उसकी हस्ब हैसियत उत्तर-क्रिया की जाये।" तब उसकी लाश उठती है, दाह होता है तथा अन्य आवश्यक उपचार होते हैं।

नया राजा न सूतक मनाता है, न मृत राजा की उत्तर-क्रिया में भाग लेता है। उसे प्रायः ऐसा करने का अवकाश ही नहीं मिलता। राजा के मरते ही उसके मित्र, कृपापात्र उसकी कृपाओं से लाभ उठाने के लिए उसे आ घेरते हैं। मृतक का शोक और सूतक जैसे उसीमें डूब जाते हैं।

राजा को मरे दस दिन बीत चुके थे। अभी हम यह सोच ही रही थीं कि हमें क्या करना चाहिए कि नया राजा ड्योढ़ियों में आया। वह इक्कीस बरस का तरुण, सुन्दर, स्वस्थ कुमार था। वह नये युग का सभ्य-शिष्ट युवक प्रतीत होता था। उसने हम सबको एकत्र किया और एक संक्षिप्त भाषण दिया। उसका सार यह था कि अब से हम सब स्वतन्त्र हैं, जिसका जहां जी चाहे चली जाय। कोई रोक-टोक नहीं होगी। जिसका कोई और बन्दोबस्त अभी न हो, या जिसका कोई ठिकाना न हो, वह चाहे तो यहां रह सकती है।

मैं आगे बढ़ी। शिष्टाचार के अनुसार मैंने राजा का अभिवादन किया और अंग्रेजी भाषा में मैंने उससे कहा, "आप जब इस प्रकार इस नरक-कुण्ड से हम अभागिनों का उद्धार कर रहे हैं, तब इतनी कृपा कीजिए कि इस नर-पशु की छाया यहां से हटा दीजिए और एक योग्य अफसर को नियुक्त कर दीजिए, कि वह हम अभागिनों को अपने सगे-सम्बन्धियों तक

पहुंचा देने की व्यवस्था कर दे।"

मेरी बात सुनकर तरुण राजा मेरे निकट आया। उसने कोमल स्वर में पूछा, "आप चम्पाजी हैं क्या?" मेरी स्वीकारोक्ति पर उसने मुझे प्रणाम किया और कहा, "आपके सम्बन्ध में मैंने बहुत कुछ सुना था। लेकिन आप यहां हैं, यह मैं न जानता था। सब लोग तो यही समझते हैं कि आबू में आपकी मृत्यु हो गई। एक बार स्वर्गवासी श्रीमान् ने भी यही कहा था। पर कल ही वासुदेव महाराज ने आपकी बाबत मुझे बताया।"

मैंने कहा, "भाग्य मुझे यहां ले आया। जो होना था, वह हुआ। अब आपके प्रताप से यह नरकधाम टूट जाए तो बड़ी बात हो।"

"वह सब तो होगा ही। और मैं, जैसे आपने कहा है, वैसी ही व्यवस्था कर दूंगा। परन्तु अभी आप रंगमहल में पधारिए। जब तक जी चाहे वहां विराजिए। आपको मैं राजमाता ही समझता हूं। स्वर्गवासी महाराज आपको कितना मानते थे, यह मैं जानता हूं।"

मेरी आंखों में आंसू आ गए। एक बार पुरानी बातें फिर मस्तिष्क में घूम गईं। मैंने कहा, "महाराज, मैं गोली-चाकर हूं। मेरे साथ महाराजाधिराज का यह शिष्टाचार सोहता नहीं है। आपने मुझे रंगमहल में चलने की आज्ञा की, आपकी कृपा है, परन्तु वहां अब मेरा कोई स्थान नहीं है। फिर अभी तो यहीं मेरी आवश्यकता है। आपकी आज्ञा से मैं यहां की प्रत्येक स्त्री की जो बन सके सहायता करना चाहती हूं। आपने इन्हें स्वतन्त्र करने का जो पुण्य किया है, उसमें मैं अपनी सेवाएं पेश करती हूं।"

"यह तो आपका बहुत ही उत्तम विचार है। इस व्यक्ति को मैं अभी यहां से हटाए देता हूं और एक राजपुरुष को अभी नियुक्त करता हूं। वह आपकी सलाह से ही इन सब स्त्रियों की समुचित व्यवस्था कर देगा। खर्च भी सबको राज्य से मिलेगा। इस सम्बन्ध में आप जब चाहें तब मुझसे मिल सकती हैं, और यदि इस व्यक्ति के प्रति आपका या किसीका कुछ आरोप हो तो मैं उसका भी इसे दण्ड दूंगा।"

मैंने कहा, "इससे कुछ लाभ नहीं होगा। यहां का वातावरण बड़ा भयंकर है। बस, यह नरकावास खत्म हो जाए, यही यथेष्ट है।"

सारी बातचीत अंग्रेजी भाषा में हुई। इस सुजन और तरुण राजा का अनुरोध मैं टाल न सकी। मैं रंगमहल में चली आई। मेरे भाग्याकाश में नया प्रभात हुआ।

एक योग्य राजपुरुष की नियुक्ति ड्योढ़ियों पर कर दी गई। मैंने और उसने मिलकर सभी स्त्रियों को उनके सगे-सम्बन्धियों के पास भेज दिया। उनके लिए खर्च की भी व्यवस्था कर दी। जो स्त्रियां रह गईं, उनमें से कुछ विधवा आश्रम में भिजवा दी गईं, कुछ की आजीवन मासिक वृत्ति नियुक्त हो गई और वे राजधानी में ही बस गईं। कुछ स्त्रियां अस्पताल में भेज दी गईं। एक ही सप्ताह में वह नरकधाम खाली हो गया।

जब तक मैं इस काम में फंसी रही, मुझे अपनी ओर देखने का अवकाश ही नहीं मिला। अब मैं यहां से निवृत्त हुई, मुझे अपने बच्चों की, पति की और अपनी सम्पत्ति की चिन्ता ने आ घेरा, और एक दिन सवेरे ही सवेरे मैं वासुदेव महाराज के घर जा पहुंची। एकाएक वह मुझे पहचान नहीं सके। फिर पहचानते ही वह बालक की भांति ढाढ़ें मारकर रो उठे। हाथ की लाठी फेंक दोनों हाथ फैलाकर 'बेटी-बेटी' कहते मेरी ओर लपके। उन्होंने कहा, "यह हालत कर दी उन्होंने तुम्हारी बेटी? तुमने समझा होगा कि वासुदेव तुम्हें भुला बैठा? ओह! तुम्हारे लिए मैंने क्या-क्या न किया। पर बेकार, सब बेकार! अब मर गया वह गुनहगार राजा। बड़ी बात हुई, तुम आ गईं बेटी। न जाने तुमने कितने दुःख सहे होंगे। सूखकर कांटा हो गई। अरे, मैंने तो तुम्हें पहचाना ही नहीं।"

वासुदेव महाराज की मां और पत्नी दोनों ही का स्वर्गवास हो चुका था। सुनकर मैं बड़ी देर तक रोती रही। इसी बीच उनकी पुत्रवधू ने आकर मेरे पैर छुए। अब मैं स्थिर न रह सकी। अपने पति और बच्चों के सब हाल जानने को मैं अधीर हो रही थी। पर मेरे मुंह से बोल नहीं फूट रहा था। उनकी पुत्रवधू को छाती से लगाकर डबडबाई आंखों से मैं उन्हें देखने लगी। मैं आशा और निराशा के झूले में झूल रही थी। मैं नहीं जानती थी कि मुझे कौन-सा अशुभ समाचार सुनना पड़ेगा।

एकाएक वासुदेव महाराज लाठी सम्हालकर उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा, "अभी आता हूं बेटी! तुम कुछ खा-पीकर थोड़ा आराम कर

लेना।" उन्होंने अपनी पुत्रवधू को मेरे भोजन-विश्राम के बारे में आदेश दिए और चले गये।

बड़ी सुन्दर और कोमल बधूटी थी उनकी पुत्रवधू। देखकर नेत्र शीतल हो गए। कुन्दन-सा रंग, चम्पे की कली-सी देहयष्टि और वीणा विनिन्दित मृदु-मधुर वाणी। विनय और शील की प्रतिमूर्ति-सी। जी में आता था कलेजा चीरकर उस स्निग्धमुग्धा-बाला को उसमें रख लूं।

वह जल्दी-जल्दी रसोई बना रही थी। और मैं रसोई के द्वार पर पीढ़ा डालकर बैठी उससे बात कर रही थी। उसकी बात-चीत से मेरा तन-मन पुलकित हो रहा था। भूल गई थी मैं उस नारकीय जीवन की दुःखद स्मृतियों को। आह, कहां वहां का कोलाहल, गाली-गुफ्ता, निर्लज्ज जीवन, और कहां यह अमल-धवल कोमल कुसुम-कली।

भोजन तैयार होने पर उसने बहुत आग्रह किया कि मैं भोजन कर लूं। पर मैंने कहा, "नहीं, नहीं, बेटी! अभी नहीं। पिता जी आ जाएं तो उन्हें भोजन कराकर प्रसाद लूंगी। बस, तुम तब तक अपनी मीठी-मीठी बातों से मेरे मन को शीतल करो।"

बड़ी देर तक हम बातें करती रहीं। तीन वर्ष से बाहर की दुनिया के बहुत-से समाचार मुझे ज्ञात हुए। परन्तु अपने पति और बच्चों के सम्बन्ध में तो मैं कुछ पूछने का साहस न कर सकी, इस भय से कि न जाने क्या अशुभ समाचार सुनने को मिले।

वासुदेव महाराज आ गए। मेरी छोटी लड़की उनकी उंगली पकड़े हुए उनके साथ थी। स्वर्ग की परी के समान सुन्दर थी वह बालिका। मैं ठगी-सी देखती रह गई। मेरा कलेजा धड़कने लगा, क्या यह मेरी बेटी है? इस आशंका ने मुझे अधीर कर दिया। मुझ अभागिन की [illegible] तो देखिए अपनी ही सन्तान को मैं न पहचान सकी। पर दूसरे ही [illegible] सारे सन्देह निवृत्त हो गये। मेरा पति मेरी दोनों लड़कियों को [illegible] उनके पीछे-पीछे आ रहा था। देखते ही मेरी आंखें बरस पड़ीं। [illegible] मेरी दृष्टि बन्द कर दी। मैंने केवल अपने हाथ पसार दिए। [illegible] बालक मेरी छाती से आ लगे थे। आह, मैं स्वर्गीय सुख [illegible] रही थी। मैं फिर से जी उठी थी। कोई कुछ भी न बोल

हमारा मूक-मौन मिलन बड़ा अद्भुत था। कोई भला कैसे हमारे उस सुख-मिलन का अनुमान कर सकता है! क्या इस पृथ्वी पर कोई, मेरे समान भी ऐसा प्राणी होगा, जो सदेह नरक से लौटकर स्वर्ग में आ पहुंचा हो!

धीरे-धीरे मैं स्थिर हुई। हम सब दालान में बिछे फर्श पर जा बैठे बच्चियां मुझे आंखें फाड़-फाड़कर देख रही थीं। हाय-हाय, वे जानती थीं कि यह अभागिन उनकी मां है, यद्यपि मेरे पति ने और वासुदेव महाराज ने उनसे बारम्बार कहा था कि तुम अपनी मां के पास चल रही हो इस अभागिन मां की बहुत-बहुत मीठी, खट्टी, झूठी,सच्ची बातें मेरे पति

बच्चों को बताई थीं। वे शायद अब सब उनके सरल-तरल बाल-मस्तिष्क में घूम रही थीं ! पर वे एकाएक सर्वथा अपरिचित स्त्री को कैसे मां कह सकती थीं ! ऐसी स्त्री को, जिसके दो दांत टूट चुके थे, चेहरे पर विषाद और वेदना की असंख्य रेखाएं खिंच गई थीं, बाल पककर खिचड़ी हो गए थे और शरीर सूखकर हड्डियों का ढेर रह गया था।

मैंने छोटी मुन्नी को खींचकर अपनी छाती से लगा लिया। उसने विरोध नहीं किया, चुपचाप मेरी गोद में मुंह छिपाकर बैठ गई। मैं धीरे-धीरे उसके शरीर पर हाथ फेरती रही। आपको मैं कैसे कहूं कि मुझे—हां-हां, मुझ मां को—अपने किसी बच्चे का नाम नहीं ज्ञात था। अब भला मैं मां होकर किससे पूछूं कि मेरी बेटियो, तुम्हारे क्या-क्या नाम हैं ?

फिर मेरा बोल भी तो नहीं फूट रहा था। मेरी मुन्नी आठ वर्ष की थी, जो मेरी गोद में मेरे घुटनों पर मुंह रखे बैठी थी। वह कभी-कभी अपनी कमल-सी आंखें उठाकर मेरा मुंह देख लेती थी, और फिर लाज से अपना मुंह मेरे घुटनों में छिपा लेती थी। दूसरी लड़की बारह वर्ष की थी और तीसरी पन्द्रह वर्ष की। तीनों ही रूप-उजागरी थीं। उन्हें देखकर मुझ कलमुंही को अपने बचपन के दिन याद आ रहे थे। मैं भी तब ऐसी ही थी। मैंने जैसे अपना ही रूप अपने बच्चों को दिया था। देखते नहीं थकती थी। जी चाहता था कि घोलकर उन्हें आंखों में पी जाऊं। बड़ी बेटी शायद बहुत कुछ समझती-जानती थी। वह बड़ी-बड़ी आंखें उठाकर मेरी ओर देख लेती और फिर आंखें नीची कर लेती थी। मझली [illegible] देख रही थी और मुस्करा रही थी। वह बीच-बीच में अपने [illegible] से पूछ बैठती थी, "मां बोलती क्यों नहीं है ?"

अपने पति की ओर तो अभी मेरी आंखें ही नहीं उठ रही [illegible] कीजिए, अब तो मैं उनका नाम लूंगी नहीं। [illegible] उल्लेख करूंगी नहीं। वह मेरे [illegible] हैं, परमेश्वर हैं [illegible] मैं उन्हें पति कहकर ही पुकारूंगी। बच्चों ने [illegible] ने उन्हें देखा—एक [illegible] शरीर। [illegible] न वह उज्ज्वल [illegible]। [illegible] पर झुर्रियां पड़ गई थीं, [illegible]

मुद्रा थी, जैसे कुछ हुआ ही नहीं है। अपने मन का आन्तरिक आनन्द वह छिपा नहीं पा रहे थे। बीच-बीच में बच्चों से धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। दांत एकाध उनका भी टूट गया था फिर भी वह बहुत मजबूत थे। अत्याचार उनपर भी बहुत हुए थे, यह उनकी दृष्टि से प्रतीत हो रहा था।

हमारा यह मूक-मिलन न जाने कब तक होता रहता। इसी समय वासुदेव महाराज की पुत्रवधू ने भोजन का संकेत किया। वासुदेव महाराज ने चौंककर कहा, "अरे, तुमने अभी भोजन नहीं किया?" और वह फुर्त
से उठे।

सबने हंसी-खुशी से एक साथ भोजन किया। वासुदेव महाराज का सुपुत्र भी आ गया था। दो साल स्टेट-कोर्ट में ही वकालत करता था वह। वासुदेव महाराज ने कहा, "बड़ी बहन है, पैर छुओ।" और मेरे रोकते रहने पर भी उस ब्राह्मण-कुमार ने मेरे पैर छुए। मेरे ही क्यों? कहते लाज आती न, महाराज ने मेरे पति को दामाद कहकर अपने पुत्र से परिचित कराया और उस सुशील कुमार ने उनके भी पैर छुए।

हम गोले-गुलाम जन्म-जन्म के शूद्र-अछूत जिनकी उम्र सेवा करते बीत चुकी, जिनके जीवन में कपुप ही धर्म के रूप में विचरण करता रहा, उनके चरण आज एक विद्वान् ब्राह्मण-कुमार छू रहा था। और, हम सब गोले-गुलाम और ब्राह्मण एक साथ, एक आसन पर बैठकर समान भाव से एक परिवार के अभिन्न सदस्य की हैसियत से भोजन कर रहे थे।

मेरे गत बयालीस वर्ष के जीवन का यह प्रथम अनुभव था। अनहो
घटना थी। आज हमारे जीवन का फिर नव प्रभात उदित हुआ था।
पवित्र होकर जैसे जन्म-जन्म की गुलामी से शुद्ध, मुक्त होकर इसी अ
में, सभ्य-शिष्ट नागरिक बन रहे थे।

किसुन की दुःख-गाथा

भोजन के बाद लड़कियां तो दुलहिन को घेरकर बैठ गईं। दुलहिन ने अपनी प्रिय-मधुर बातों से बच्चों का क्षण-भर में ही मन जीत लिया था। सब मिल-जुलकर बहुत खुश हो रहे थे। कमरे में रह गए थे—हम दोनों—पति-पत्नी।

कुछ देर तक हम मौन बैठे रहे। फिर मेरे पति ने आपबीती सुनानी आरम्भ की। उन्होंने कहा, " खवास हमारा आरम्भ ही से बैरी था—हम दोनों का। हमसे उसे कभी कुछ लाभ नहीं होता था। उसने बहुत बार—पहले संकेत से और फिर खुल्लम-खुल्ला—मुझसे हमारे कारोबार, संपत्ति और आमदनी में से पांचवां अंश मांगा। पर मैंने नहीं दिया। बहुत बार इस बात को लेकर मेरी-उसकी तकरार हुई। इसकी मैंने कभी तुमसे चर्चा नहीं की। मैं जानता था कि तुम झुक जाओगी और एक बार झुक जाने पर वह दुष्ट हमें और भी निचोड़ेगा। मैं उसे खूब जानता था। इसलिए मैं उससे अकेला ही लोहा लेता रहा। इस काम में वासुदेव महाराज से मैं कभी-कभी सलाह लेता रहता था। बहुत बार उसने मुझे मार डालने की भी धकमी दी। अन्त में उसने अन्नदाता के कान भरने आरम्भ किए कि हम लोग मिलकर उन्हें लूट रहे हैं। परस्पर गुप्त सम्बन्ध रखते और उनसे विश्वासघात करते रहे हैं। अन्त में उसने यहां तक उन्हें विश्वास दिला दिया कि हम लोग उन्हें मार डालने की खटपट भी कर रहे हैं। मुझे इन सब बातों का बहुत दिन तक पता न लगा। जब महाराजाधिराज विलायत चले, तब वह आबू ले जाकर तुम्हें खत्म कर डालने और हमारी सब सम्पत्ति, जमा-पूंजी पर कब्जा कर लेने का उसे हुक्म देते गए। मैं इस काम में बाधा डाल सकता था, अतः मुझे उन्होंने साथ ले लिया। मुझे ये सब बातें मालूम भी न होतीं, पर एक दिन बम्बई में शराब की झोंक में उन्होंने बहुत-सी बातें कह दीं। उसके बाद ही उन्होंने मुझे एक खत रजिस्ट्री करने को दिया। वह खवास के नाम था। पर मैंने उसे खोलकर

पढ़ लिया। अपने जीवन में स्वामी से मेरा यह पहला ही विश्वासघात था। खत में पचास हजार रुपए का एक चेक था तथा तुम्हारी हत्या के षड्यन्त्र का विवरण भी। पत्र खवास के पत्र के उत्तर में लिखा गया था, अतः वहुत-सी वातों का उसमें उत्तर के रूप में उल्लेख था। पत्र मैंने वैसे का वैसा ही डाक में डाल दिया और मैं सोचने लगा कि मुझे क्या करना चाहिए, कैसे मैं तुम्हें सावधान करूं। एक विचार यह भी आया कि भाग चलूं और तुम्हें सब बातों से आगाह कर दूं, पर इसका अवसर नहीं मिला। साहस भी मैं इतना नहीं कर सका। मैंने यह भी देखा कि मेरे ऊपर भी वड़ा पहरा था। अन्नदाता एक क्षण को भी मुझे आंख से ओझल न होने देते थे। पतलून की रक्षा का भार भी मुझपर ही था। मैं वहां से हिल ही न सकता था। फिर भी मैं अवसर पाकर वहां अपने बैंकर तथा वकील से मिला और तुम्हारा जो एकाउण्ट इम्पीरियल बैंक में था, तथा जो कुछ शेयर-स्टाक था, उसकी मैंने खूब पक्की व्यवस्था कर दी। एक संक्षिप्त पत्र में मैंने सब बातों का संकेत तुम्हें भी लिख दिया। अफसोस कि वह पत्र तुम्हें न मिल सका। हम लोग भारत से रवाना हो गए। अब मैं और तो कुछ तुम्हारी मदद कर ही न सकता था; मैंने यही इरादा पक्का कर लिया कि जैसे भी बने, अन्नदाता का कोई खत जाने ही न दूंगा। यही मैंने किया भी। वह जो भी खत लिखते, मैं उसे अपने कब्जे में कर लेता, पढ़ लेता और नष्ट कर डालता। मैंने दो चूकें भी कीं। एक तो वे खत नष्ट कर दिए जो उनके षड्यन्त्र के पक्के प्रमाण थे, और जिनमें उस पाजी खवास की वहुत-सी बातों का उल्लेख था। दूसरी गलती मैंने यह की कि वकील को इस सम्बन्ध में सावधान नहीं किया। ये भूलें इसी भय से कीं कि कहीं भण्डाफोड़ न हो जाए और मेरे पास यह खत कभी बरामद हो गए तो नतीजा और खराब निकलेगा। मैंने भगवान् पर भरोसा किया। विलायत में तो अन्नदाता ने खुल्लम-खुल्ला कहना आरम्भ कर दिया कि अब तू लौटकर उस गोली को न देख सकेगा। वह बहुधा शराब पीकर मुझे गालियां बकते और पिस्तौल से शूट कर देने का भय दिखाते थे। मुझे इस बात का तनिक भी सन्देह न था कि वह मुझे रियासत में लौटकर अवश्य मरवा डालेंगे। तुम्हारे लिए मैं भगवान् से प्रार्थना करता और रात-

रात-भर रोता रहता। बस यही गनीमत थी कि उनके वे भयंकर आदेश उस खवास तक पहुंचने से पहले ही मैंने नष्ट कर दिए थे।

"विलायत से जब हम लौटे तब उन्होंने मेरे ऊपर दबाव डाला कि तुहारी सब सम्पत्ति, नकदी तथा जवाहरात मैं उन्हें दे दूं। पहले तो मैंने टाल-टूल की। पीछे साफ-साफ कह दिया कि अन्नदाता, जिसकी जमा-पूंजी है उसकी आज्ञा बिना मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं तो केवल उसका रक्षक हूं, स्वामी नहीं। राह में तो उन्होंने केवल गाली-गुफ्ता ही की, पर रियासत में आकर वह मार-पीट करने लगे। बहुधा वह चाबुक से मेरी खाल उधेड़ते थे। रात को शराब पीने पर मुझे अपने पास बुलाते और कहते, 'क्यों रे गुलाम, देता है वह सब जमा-पूंजी कि नहीं?' और फिर चाबुक की मार पड़ती। मैं चुप्पी साध लेता या यह उत्तर देता, 'नहीं, अन्नदाता, मैं नहीं दे सकता।' प्रायः नित्य ही यह मार-पीट होती।

"मैंने एक काम और होशियारी का किया था। अपने पास एक कौड़ी भी न रखी थी। यद्यपि बहुत-सा रुपया और प्रायः सभी जवाहरात बम्बई के इम्पीरियल बैंक में थे, फिर भी काफी रकम स्टेट बैंक में भी थी। पर बैंक का मैनेजर मेरा दोस्त था। वह पारसी था। एक अवसर पर मैंने उसके पुत्र को झंझट से बचाया था। वह तब से मुझे बहुत मानता था। उसने मुझे आश्वासन दिया था कि यहां से एक पाई अन्नदाता नहीं ले सकते, न हिसाब ही देख सकते हैं। हां, अदालत का हुक्म ले आएं तो बात जुदा है।

"वहां लौट आने पर मैं यद्यपि रोज पीटा जाता था तथापि एक तसल्ली मुझे थी। मैं यह जान गया था कि तुम जीती-जागती, सही-सलामत आबू में हो।

"विलायत से लौटने पर महाराज कुछ झक्की-से हो गए। उन्हें मुझ-पर ही नहीं, और भी कई सेवकों पर यह शक हो गया था कि हम सब लोग उन्हें जहर देकर मार डालना चाहते हैं। वे हमारे लाए हुए खाने-पीने की तश्तरी और ट्रे बहुधा उलट देते। थाल फेंक देते। गरज-गरजकर गालियां देते या चाबुक से मारते थे। पर तुम ——— तो तुम्हारी सम्पत्ति सलामत है, तुम्हारे बच्चे सलामत हैं, इस

थी और मैं खुशी से वह मार और दूसरे कष्टों को सहता चला गया।

"विलायत से लौटकर महाराज जल्सों में उलझ गए। उनकी पतलू की सनक ने उन्हें बहुत हास्यास्पद वनाया। अभी यहां जश्न ही चल र थे कि तुम्हारा मुकदमा उठ खड़ा हुआ। उससे वह बहुत डर गए। ए प्रकार से वह पागल ही हो गए थे। पर रुपए के जोर से तथा तुम्हारे बया से वह बच गए। इसके वाद उन्होंने एक और नया ब्याह कर डाला शायद ब्याह की यह बात विलायत जाने से पहले ही चल चुकी थी। स वातें उस पाजी खवास ने पक्की कीं। सुना गया था कि उस ठकुरड़े क तीन लाख रुपया दिया गया। ब्याह में कुछ अधिक धूमधाम नहीं हुई उस रानी को तुम्हारे ही महल में रखा गया। मेरा विरोध-अनुरोध नह माना गया। महल में तुम्हारा सारा साज-सामान जो भी था, सब उस रानी को दे दिया गया। पर गनीमत इतनी ही थी कि रुपया-पैसा और कोई कीमती चीज वहां न थी।

"पर सबसे कठिन बात यह थी कि मुझे ही नई रानी की चाकरी में रखा गया। गंगाराम उसके वाप के यहां का गोला था। वह दहेज में उसके साथ आया था। पर न जाने क्यों, महाराजाधिराज ने उसे उसके महल से हटाकर ड्योढ़ियों पर लगा दिया था। वड़ा हरामजादा था वह। ज्यों ही उसने सुना कि महल पर मैं नई रानी की खिदमत पर बहाल किया गया हूं, वह मुझपर बहुत विगड़ा, पर मैं लाचार था, स्वयं मैं उस रानी की चाकरी में रहना नहीं चाहता था। समझती तो है, वह वड़ी सुन्दरी अपने को। चन्द्रमहल उसका नाम है। गोरी-चिट्टी चमड़ी भी है, पर चेहरा अच्छा नहीं है। दिल भी वैसा ही खराव है। वोली कर्कश है। वड़े घर की वेटी नहीं मालूम देती। हर वक्त माथा चढ़ा रहता है। दारू वहुत पीती है। उसकी चाकरी मुझसे सधी नहीं। एक और वात हुई, जिसे वताते शर्म आती है। एक दिन नई रानी ने मुझसे कुछ ऐसा प्रस्ताव किया, जिसे मानने से मैंने इन्कार कर दिया। इसपर उसने शोर मचाकर उल्टा मुझे ही वदनाम कर दिया। मुझे वुरी तरह पीटा गया। मैंने जो कहना चाहा वह कुछ सुना न गया। उसी दिन मुझे जेल में डाल दिया गया। जेल में मैंने खवास को भी देखा। वह तो वहां भी नवाव की भांति रहता था।

मुझे देखकर हंसा, कहने लगा, 'तू भी आ गया भाया। [illegible] वह गोली भी आ जाए तो मजा रहे।'

"वह जब मिलता, इसी भांति बक-बक करता। [illegible] टल जाता। जेल में अन्नदाता के संकेत से मेरे साथ [illegible] भगवान के भरोसे सब सहता था। एक बार मुझे [illegible] माल-मता दे दूं तो छोड़ दिया जाऊंगा। अन्नदाता ने [illegible] कहा, पर मैंने यही उत्तर दिया, 'अन्नदाता, [illegible] जान भले ही चली जाय।'

"फिर बहुत दिनों तक कुछ ठीक-ठाक खबर ही नहीं मिली। [illegible] अकस्मात् ही मुझे जेल से छुट्टी दे दी गई। [illegible] अन्नदाता के पास ले गया। वह नई रानी के महल में [illegible] पड़े थे। बहुत कम होश उनको था। टूटे-फूटे [illegible] कहे, जिनका मैंने पूरा अर्थ नहीं समझा [illegible] कहा था। शायद तुमसे मिलना चाहते [illegible] ड्योढ़ियों में थीं, मैं यह बात नहीं जानता था। [illegible] कुछ कहना चाहते थे, पर नई रानी सिर पर सवार थी। [illegible] कि वह उससे डरते थे। वह विशेष कुछ न कह सके। केवल टूटी भाषा में इतना कहा, 'बच्चों को तुम रख...।' और उनके [illegible]।

सब सुनकर मैं बड़ी देर तक चुपचाप आंसू बहाती रही। फिर मैंने पूछा, "मेरे दोनों बेटे कहां हैं ?"

उन्होंने बताया, "लाल जी बम्बई में ही कानून पढ़ रहा है, पर छोटे बच्चे के विषय में हम कुछ नहीं जानते। हम तो यही समझते थे कि वह तुम्हारे ही पास है।"

तब मैंने भी अपने नरकवास की सब बातें रोते-रोते कह सुनाईं, अपनी लाज लुट जाने की भी बात कह दी। सुनकर मेरे पति पत्थर की मूर्ति की भांति कुछ देर जड़ बने बैठे रहे, फिर एक दीर्घ सांस छोड़कर उन्होंने कहा, "जाता हूं, बच्चे का पता लगाना आवश्यक है।" बच्चे के लिए मैं भी अधीर हो रही थी। वासुदेव महाराज और वह दोनों ही घर से चले गए और मैं अपनी पुत्रियों को छाती से लगाकर आंसुओं से उनके मुंह धोने लगी।

सन्तान के बीच

आश्चर्य की बात है या लज्जा की, यह आप ही बताइए कि मां को अपने बच्चों के नाम ही नहीं मालूम थे और वह उनसे उनके नाम पूछने में लजा रही थी। पर लाज-शर्म अब मैं कहां-कहां, किस-किस से करूं ? फिर अपनी ही सन्तान से ? मेरी बड़ी लड़की जैसे समूचे हीरे के टुकड़े से काट-कर बनाई गई थी। वह १५ बरस की थी। यौवन उसके अंग से फूटा पड़ता था। स्वास्थ्य और सौन्दर्य का वह मिश्रण कैसा मनोहर था, भला यह बात मैं मां होकर आपको क्या बताऊं। मेरी आंखों में राई-नोन। उसकी बड़ी-बड़ी झुकी हुई पलकों के भीतर फुल्लारविन्द-सी आंखों की ओर प्यासी चितवन से देर तक मैं देखती रही, ठगी-सी। फिर मैंने धीरे से कहा, "तुम्हारा नाम क्या है, बेटी ?"

उसने लजाते हुए कहा, "सुषमा।"

अरे, गोली की लड़की का नाम सुषमा? कुछ ठहरकर मैंने पूछा, "क्या पढ़ती हो?"

"इण्टर के फाइनल में बैठी हूं।"

मैं सोचने लगी। यह भला मुझ पतिता की पुत्री हो सकती है? यह तो किसी बड़े घर की बेटी है। मैंने फीकी मुसकान होंठों में भरकर कहा, "जानती हो बेटी, मैं कौन हूं?"

"आप हमारी मां हैं।"

"नहीं बेटी, मैं तुम्हारी मां की दासी हूं। तुम्हारी भी दासी! तुम्हारी मां मेरी जैसी गन्दी बुढ़िया थोड़े ही थी। वह तो रानी थी, बेटी!"

मेरी छोटी बच्ची ने बड़ी बहन की आंखों से आंख मिलाकर फिर मेरी ओर देखा और कहा, "तुम्हीं हमारी मां हो।"

"तुमसे किसने कहा बेटी?"

"पापा ने।"

पापा ने? कौन पापा? हे ईश्वर, ये तो सभी लड़कियां बड़े घरों के समान भाषा बोल रही हैं।

मैंने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है, बच्ची?"

"माया, मेरा नाम माया है।"

"और इसका?" मैंने मझली लड़की की ओर इशारा किया।

उसने कहा, "यह कुसुम है।"

"अच्छा तो सुषमा, कुसुम और माया हो!"

छोटी बच्ची शर्माकर हंसने लगी। मझली ने शर्म से मुंह फेर लिया। बड़ी नीची नजर किए बैठी रही।

मेरी दूसरी लड़की सातवीं में और तीसरी चौथी में पढ़ रही थी। उन्हें मैं देख रही थी और निहाल हो रही थी। मैं यह नहीं जानती थी कि केसर इस प्रकार मेरे बच्चों को नये जीवन के संस्कार देगी। [illegible] एक गोली, जन्म-जात गोली थी, और जिसने मेरे [illegible] हाथों श्रीगणेश किया था। आज मेरी आंखों की [illegible] जीवित नहीं रही थी। अफसोस, मैं एक बार [illegible] मेरे बच्चों की कल्याण-कामना में उसने [illegible]

भाग्यवती थी वह, स्वर्ग की देवी थी वह, ईश्वर उसकी आत्मा को सद्गति दे।

तीनों लड़कियां उन कुछ घण्टों में ही मुझसे परच गईं। छोटी बच्चियां तो खेल-कूद में लग गईं, पर बड़ी और मेरे पास सरककर बैठ गई। उसने धीरे-धीरे मुझे बताया कि उसके कारण केसर पर कितना गजब ढाया गया। पर केसर ने किसी भी हालत में मेरी बच्ची को रंग-महल में भेजना स्वीकार नहीं किया। उसने स्वयं भी रंगमहल छोड़ दिया। राजा ने बड़ी-बड़ी कसमें खाईं कि वह मेरी लड़की को राजकुमारी की भांति रंगमहल में रखेगा, बेटी ही समझेगा, बड़े घर ब्याह करेगा। पर केसर तनिक भी नहीं पतियाई। उसे उस दुरात्मा खवास की दुरभि-संधि का पता लग गया था। मरी बेटी ने बताया कि उसकी प्रधान अध्यापिका मिसेज टण्डन ने भी कितने हौसले और मुस्तैदी से उसकी रक्षा की। केसर ने मिसेज टण्डन को सारी हकीकत बता दी थी और उन्होंने उसे होस्टल में दाखिल कर लिया था। सुरक्षा के विचार से केसर को यही ठीक प्रतीत हुआ। पति उन दिनों जेल में ठूंसे हुए थे। फिर वह बेचारी सहारा किसका लेती? वासुदेव महाराज अवश्य उसकी पीठ पर थे, पर वह अब बूढ़े और अशक्त हो चले थे। उन्हें केसर ज्यादा तंग करना नहीं चाहती थी। अतः उस पापपुरी में होस्टल में रहकर मेरी बेटी प्रतिष्ठा के साथ ज्ञानार्जन करने लगी। अब तो वह अपने हृदय में ज्ञान-दीप जला चुकी थी। वह तेजस्विनी, मेधाविनी, प्रतिभा-सम्पन्न और महा-मानवती थी। उसे देखकर तो जैसे मैं गंगा में स्नान कर पवित्र हो गई थी। बारम्बार मैं उसे छाती से लगाकर चूमती और फिर भी तृप्त नहीं होती थी।

छोटी लड़की बड़ी चंचल थी। वह बीच-बीच में आकर अपनी अटपटी भाषा में मुझसे बातें करती रहती थी। मझली अलबत्ता शर्मीली थी। पर तीनों सचमुच राजकुमारी प्रतीत हो रही थीं।

दिन बच्चों में बीत गया। शाम हो गई, पर अभी मेरे पति नहीं लौटे। मैं उनके लिए अधीर होने लगी। बार-बार पुत्री से कहने लगी, "बेटी, वह तो अभी तक नहीं आए। दिन डूब रहा है।" मेरी बेटी कहती

"मां, चिन्ता की बात क्या है दादा महाराज पापा के साथ हैं। वह किसी काम से ही वहां रुक गए होंगे।" मेरी इस भाग्यवती बेटी को अभी यह नहीं मालूम था कि वे मेरे लाल की खोज में गए हैं। वह जानती तो थी कि उसके दो भाई हैं। बड़े भैया से तो वह मिल चुकी थी, पर छोटे की सिर्फ चर्चा सुनी थी। पर उसे नहीं मालूम था कि वह कहां है। संकोचवश उसने मुझसे अब तक पूछा भी नहीं था। अब मैंने ही कहा, "बेटी, वे तेरे छोटे भाई की खोज में गए हैं। न जाने उसे हत्यारों ने कहां छिपा रखा है। वह मिलेगा भी या नहीं।" यह सुनकर मेरी बेटी भी उदास होकर मेरा मुंह ताकने लगी।

शाम हो गई। रात हो गई और एक पहर रात गल गई, पर मेरे पति नहीं आए। हम लोगों ने भोजन नहीं किया। बच्चों को खिला-पिलाकर हम तीनों स्त्रियां—मैं, मेरी बेटियां और बहू—धड़कते कलेजे से द्वार की ओर ताकती बैठी रहीं।

ग्यारह बजने के बाद वे आए। आगे-आगे मेरे पति थे। पीछे हाथ में लाठी लिए वासुदेव महाराज। मेरे पति की गोद में बच्चा था। उसे मेरी गोद में देकर उन्होंने धीरे से कहा, "बहुत बीमार है। शायद बेहोश भी है। पर चिन्ता की बात नहीं, डाक्टर अभी आ रहे हैं।" वासुदेव महाराज हकला-हकलाकर बहू पर नाराज होने लगे कि मुझे उसने खाना-पीना क्यों नहीं कराया। पर बहू ने कोई जवाब नहीं दिया। थोड़ी देर में ही डाक्टर आ गए। वासुदेव महाराज के मित्र और डाक्टर राबर्ट के सहयोगी थे। मुझे नाम से जानते थे। उन्होंने बालक की परीक्षा करके कहा, "डबल निमोनिया है। पर चिन्ता मत करो। समुचित चिकित्सा से ठीक हो जाएगा।" उन्होंने सुइयां लगाईं तथा रात-भर तीन-तीन घंटे पर सुइयां लगाने के लिए अपने असिस्टैण्ट को वहीं नियुक्त कर गए। खा-पीकर सब निपटे। दो-दो कौर हमने भी पेट में डाले। सब सो गए। केवल हम तीन नहीं सोए। सारी रात जागते बैठे रहे—बहू, मेरी बेटी और मैं। हां, डाक्टर भी हमारे साथ सजग रहे। वह ठीक समय पर सुई देते रहे। हम बच्चे को घेर कर चुपचाप बैठे उसके मुर्झाए, पीले और मूर्छित मुंह

की ओर ताकते तथा भगवान के दरबार में मन ही मन उसके प्राणों की भिक्षा मांगते रहे।

पति-परमेश्वर

भगवान ने मुझ अभागिन की अरदास सुन ली। वह प्रभात मेरे लिए मंगल प्रभात हो गया। मेरे बच्चे को होश आ गया था। उसने आंखें खोल दी थीं। उसका टेम्परेचर भी नीचे आ गया था। वह मेरी ओर देख-देखकर मुस्करा रहा था। शायद वह मुझ अभागिनी मां को पहचान रहा था। मैं रो रही थी और उसकी बलइयां ले रही थी। मेरे पति, महाराज वासुदेव, उनके पुत्र, डाक्टर सभी मुझे समझा-बुझा रहे थे। बड़े डाक्टर आए, उनके साथ कर्नल राबर्ट भी थे। बड़े ध्यान से उन्होंने बच्चे को देखा, नुस्खा तजवीजा और छोटे डाक्टर तथा एक नर्स की वहीं रहने की व्यवस्था कर दी, फिर वह मेरी ओर घूमे। अफसोस करते हुए कहा, "आपका स्वास्थ्य तो बहुत गिर गया, मिसेज कृष्ण! यह क्या बात है?" शायद मेरी यम-यातना से वह अपरिचित थे। इस समय सब बातों को कहने-सुनने का अवसर भी न था। इस समय हम लोगों ने अंग्रेजी ही में बातचीत की। मेरे मुंह से अंग्रेजों-जैसी स्वाभाविक अंग्रेजी सुनकर मेरी लड़की आंखें फाड़-फाड़कर मेरी ओर देखने लगी। उसे पता न था कि उसकी यह अभागिनी मां भी अंग्रेजी पढ़-लिख सकती है और कई बार विलायत हो आई है। शायद केसर और मेरे पति ने जान-बूझकर महाराजाधिराज से मेरे सम्बन्ध छिपाने को ये सब बातें उन्हें नहीं बताई थीं। ईश्वर को धन्यवाद है कि मेरे बच्चे मेरे जीवन का कलुप नहीं जानते थे। ये मेरे पति को ही अपना वास्तविक पिता समझते और कहते थे। स्कूल-कालेजों में भी वही नाम उन्होंने लिखाया था। यद्यपि अपने ही बच्चों से उन्हींके जन्म के रहस्य को छिपाने से मेरी छाती फटी जा रही थी, पर

वह भेद तो मुझे छिपाना ही था। सो लज्जा से अधमरी होने पर भी
प्रसन्न हुई।

डाक्टरों से निवृत्त होकर मैंने स्नान किया, घर के ठाकुर की पू
आरती की और मैं आरती का थाल सजा सबके सामने, सब लाज-ल
तज, अपने पति के पास आई। उनके चरणों को मैंने धोया, अपने आं
से उन्हें पोंछा। धूप-दीप से पति-परमेश्वर का पूजन किया। चरणो
लिया और अपना मस्तक उनके चरणों में टेक दिया। यह सब निर्वि
नहीं हुआ। उन्होंने बहुत बाधा दी। भला, बाधा क्यों न देते ? इक
बरस तक जिस स्त्री की, धर्म से पत्नी होने पर भी, सरकार कह
उसकी चाकरी की, उसकी पूजा कोई आसानी से कैसे ग्रहण कर स
था ! पर मैं तो अपने में मगन थी। पृथ्वी पर अब ऐसा कौन था, जो
मेरी इच्छा की पूर्ति करने से रोक सकता ! तिसपर वासुदेव महा
यह सब देख 'हो-हो' करके पागल की तरह नाच उठे। वह आंखों से
बहाते हुए ठाकुरद्वारे से शंख उठा लाए। उन्होंने जोर से शंख में फूंक
और वह शंख-ध्वनि शंकर के कैलास में जा पहुंची। साक्षात् शंकर
जगज्जननी उमा ने मृत्युलोक में झांककर मुझ अभागिनी, नरक-
कलुषित गोली की पति पद पूजा देखी।

नई अफवाह

मेरा बच्चा धीरे-धीरे ठीक हो रहा था। अब अपने बड़े लड़के
देखने के लिए मेरी आंखें तरस रही थीं, पर उसका एल-एल० बी०
फाइनल चल रहा था। इससे मैंने उसे बुलाना ठीक नहीं समझा। दो
मैं अपने बच्चों में रहकर फिर रंगमहल में लौट आई। बच्चे को अभी
वासुदेव महाराज के घर ही में छोड़ा। मेरे बच्चे और पति भी अभी
रहे। अनेक कारणों पर विचार करके यह व्यवस्था की गई थी। महल

इस समय एक नई अफवाह उठ खड़ी हुई थी। यद्यपि वह वाहर अभी नहीं गई थी, फिर भी रंगमहल में उथल-पुथल हो रही थी। छोटे-वड़े प्रत्येक की जवान पर यह वात थी कि चन्द्रमहल रानी सगर्भा हैं। यह साधारण वात न थी। इसका सवसे भारी प्रभाव वर्तमान नये राजा पर पड़ने वाला था। नया राजा, मृत राजा के औरस पुत्र के न रहने पर, गोद आया था। पर अव यदि औरस पुत्र विवाहिता रानी से होता है तो गद्दी का वही अधिकारी होगा। नये राजा को गद्दी छोड़नी होगी। तख्तनशीनी का अभी दरवार भी नहीं हुआ था। पर दरवार की तारीख ए० जी० जी० ने नियत कर दी थी, जवकि स्वयं या उनका प्रतिनिधि दरवार में आकर अंग्रेज सरकार की ओर से उन्हें महाराजा स्वीकार करने की घोषणा करने वाले थे। अव यह अफवाह यदि सच्ची प्रमाणित होती है और सचमुच ही नई रानी के पुत्र होता है, और यह खवर ए० जी० जी० तक पहुंचती है तो निश्चय ही दरवार रुक जायगा। सव मामला उलट-पुलट हो जायगा। नया राजा एक सुशिक्षित और भद्र तरुण था। नये विचार और भावनाएं उसमें थीं। वह मेयो कालेज का ग्रेजुएट था, विचारों और भावों में उदार और सुधारक। उसने गद्दी पर वैठते ही अनेक नये कदम उठाए थे, जिनमें एक ड्योढ़ियों के नरक का उन्मूलन था। उससे सभीको अच्छी आशाएं वंध गई थीं। मेरे तो जीवन ही की उसने रक्षा की थी। मृत राजा के जीवनकाल में ही यह प्रायः निश्चित हो गया था कि उसके वाद राजा वही होगा। कुर्सीनामे के अनुसार उसीका हक प्रमाणित था, क्योंकि राजा के कोई औरस संतान रानियों से न थी, न आशा ही थी। परन्तु इस नई रानी के सगर्भा होने से अव पुत्र की आशा हो गई थी।

वड़ा ही विचित्र है यह उत्तराधिकार और औरस पुत्र का युग-युग से चला आता हुआ सिलसिला। स्त्री विवाहित पत्नी ही हो, स्वजातीय हो तभी उसका गर्भजात औरस पुत्र पिता का उत्तराधिकार पा सकता है। अविवाहिता स्त्री से भले ही उस पुरुष के वीर्य से पुत्र हो, पर वह उत्तराधिकारी नहीं है। विवाहिता पत्नी से उत्पन्न पुत्र वालक हो, मूर्ख हो, कोढ़ी हो, नालायक हो, तो भी वही उत्तराधिकारी है। यह उत्तराधिकार

राज्याधिकार मिलता है तो वही राजा है, उस राज्य का सबसे बड़ा, से प्रमुख, सबका पूज्य पुरुष। बड़े से बड़े योग्य विद्वान भी उससे छोटे ।

धीरे-धीरे यह बात रंगमहल के बाहर फैली और अब नगर में यही त चर्चा का मुख्य विषय बन गई। नया राजा तो इस घटना से बहुत चलित हो गया था। उसका भाग्य ही अस्त होने का समय आ गया था। : वह इस समय भी धीर और शान्त था। अब तो रानी के पुत्र-प्रसव की तीक्षा थी। यदि पुत्री होती है तो भी राज्य का अधिकार नये राजा को लता है। पर यदि पुत्र-प्रसव हुआ तो नये राजा का राज्यच्युत होना नेवार्य था।

दरबार की तारीख अनिश्चित काल के लिए टाल दी गई थी और ı राजदरबारी एक अनिश्चित स्थिति में आने वाले क्षणों की प्रतीक्षा र रहे थे।

रंगमहल में रहना अब मुझे भाता न था। परन्तु अभी मेरी बहुत-सी म्पत्ति रियासत में फंसी थी! मुझे धैर्य और युक्ति से काम लेना था, प मरे न लाठी टूटे। यद्यपि मेरा सारा ध्यान बच्चे की बीमारी पर था, र भी मैं अपनी सम्पत्ति से बेखबर न थी। मैं बीच-बीच में राजा से लती रहती थी। उसने मुझपर अपरिसीम अनुग्रह किया। उसकी कृपा धीरे-धीरे मेरी लगभग सारी ही धन-सम्पत्ति मेरे कब्जे में आ गई। उसे पचाप मैंने रियासत से बाहर भिजवा दिया। कुछ रकम मैंने बम्बई के कों में जमा कर दी और कुछ दिल्ली के बैंकों में। रकम के मैंने कई भाग किए और उसका अधिकांश भाग पुत्र-पुत्रियों के नाम पृथक्-थक् जमा कर दिया। अब मैं राजधानी से निकल भागने का सुअवसर ाकने लगी।

रानी का बुलावा

छः महीने बीत गए। नई रानी ने पुत्र प्रसव किया। प्रसव राजधानी में नहीं हुआ था, रानी के मायके के ठिकाने में हुआ था। राजस्थान का यह पुराना रिवाज है कि पुत्री का प्रथम प्रसव मातृ गृह में होता है। रानी कई महीनों से पीहर गई हुई थी। समर्भावस्था में और प्रसव-काल में जो समारोह होते हैं, वे सव धूम-धाम से रानी ने अपने पितृ-गृह में किए थे। प्रसव-कार्य के लिए राज्य की अंग्रेज लेडी डाक्टर बुलाई गई थी। वालक का प्रसव होते ही उसकी सूचना ए० जी० जी० साहव वहादुर को दे दी गई थी तथा राजधानी में भी यह खवर आग की भांति फैल गई थी। प्रजा के हर्ष का ठिकाना न था वड़ी विचित्र वात है, कैसे एक मांस के लोथड़े को स्वामी कहकर स्वागत किया जाता है। नित नये शोपण, नित नये अत्याचार इन स्वेच्छाचारी राजाओं की प्रजा निरीह भाव से सहती है, फिर भी नये राजा की नये अत्याचारी की अवाई का धूमधाम से स्वागत किया जाता है। मेरी तो कुछ वात ही नहीं। जन्मजात गुलाम हूं, परन्तु रियासत का वच्चा-वच्चा, सभी में तो यह दासता का भाव भरा है। सभी तो दासता की शृंखला में वंधे हैं। समाज-रचना ही स्वामी-सेवक के सम्वन्धों पर हुई है।

कई पीढ़ियों से राजा के औरस सन्तान नहीं हुई थी। उत्तराधिकारी गोद आते थे। अव यह औरस उत्तराधिकारी जो मृत राजा का आया, तो इससे प्रजा हर्प से खिल गई। पर राजधानी में विशेप धूमधाम नहीं हुई। रानी ने इच्छा प्रकट की थी कि जव वह वालक-महाराज को लेकर राजधानी में आए तभी धूमधाम, उत्सव, मुजरे, जल्से हों। सो रियासत में छोटे-वड़े सभी भांति-भांति के मन्सूवे वांध रहे थे। भांति-भांति के अनुमान लगाए जा रहे थे। दूर-दूर के कलावन्त, रण्डी, भड़ुए, भांड़ अभी से राज-धानी में धंसे पड़ रहे थे। एक व्यक्ति था, जिसे यह सव धूमधाम फोड़े की भांति दुःख रही थी। वह था नया तरुण राजा।

मैं अधीर हो रही थी। हर वार मेरा मन यह कह रहा था कि मुझे

अब रंगमहल से नहीं राजधानी से भी चल देना चाहिए। पर क्या मुझे यहां से चले जाने की अनुमति मिल जाएगी? मुझे? गोली को? जन्मजात गुलाम को? मुझे इतनी स्वतन्त्रता मिल सकती है? मैं गुलाम चाकर हूं, मेरी सन्तान राजा की सम्पत्ति है। सौभाग्य ही की बात थी कि नया राजा भलामानुष था और उसने मेरे साथ आशातीत भद्र व्यवहार किया था। परन्तु रियासत में न तो मैं और न मेरी सन्तान ही गुलामी से बच सकती थी। जन्म-जन्म से जिस दासता को हमारे पूर्वजों ने अपने पल्ले बांध लिया था, उससे तो वह राजा भी हमें नहीं बचा सकता था।

मुझे अपने से भी अधिक लड़कियों की चिन्ता थी। मेरी बड़ी लड़की समझदार थी। वह नये वातावरण में पली थी। उसे कदाचित् इस बात पर विचार करने का भी अवसर न मिला था कि वह भी जन्मजात गोली-गुलाम है।

मेरा बच्चा अब पूरा नीरोग हो गया था तथा मेरे बड़े पुत्र ने एल-एल० बी० प्रतिष्ठा सहित पास किया था। उसे देखने को मैं छटपटा रही थी। पर मैंने उसे रियासत में बुलाना निरापद न समझा। बम्बई ही में रोक दिया। अब तो मैं किसी तरह यहां से निकल भागने की जुगत सोचने लगी। मैं बहुधा अपने पति और वासुदेव महाराज से सलाह करती; पर कोई योजना स्थिर नहीं हो पाती थी। मैं स्वीकार करती हूं कि मुझमें साहस की कमी थी, नहीं तो मेरे भाग निकलने का यह अच्छा अवसर था। राजा मेरे अनुकूल था, रानी पीहर में थी। विरोधी शक्तियां भी उसीके साथ थीं। यदि कुछ बाधा हो सकती थी तो वह कुछ खर्च करने से पूरी की जा सकती थी। वासुदेव महाराज ने मुझे बच्चों को लेकर तुरन्त दिल्ली भाग जाने की सलाह दी थी। पर मैं सोच-विचार ही करती रही। क्या करूं, मेरे भाग्य में अभी जो भोग भोगना बदा था, उसीने मेरी बुद्धि नष्ट कर दी।

किसीसे मैंने सुना, नई रानी राजधानी में लौट आई है। नवजात शिशु उसके साथ है। नये राजा के जन्म की खुशी में धूमधाम, जलसे और जश्न मनाए जा रहे हैं। नये राजा ने स्वयं महल में जाकर रानी का मुजरा किया। शिशु राजा का अभिवादन किया। वह चाहता था कि

राजा नहीं तो जब तक बालक राजा बालिग न हो जाए, वह उसका प्रतिनिधि होकर ही राज्य-शासन करे। पर रानी की तो योजना ही दूसरी थी। रंगमहल पर रंग-बिरंगी रोशनी हो रही थी, नगर के बाजार सजाए गए थे, ठौर-ठौर पर नाच-गाने और जल्से हो रहे थे। सारी राजधानी मौज-शौक और आनन्द में डूब-उतरा रही थी। मैं भौचक-सी यह सब विधाता का खेल देख रही थी। इतने ही में मेरे ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। वासुदेव महाराज को अकस्मात् हैजा हुआ और वह दो दिन की बीमारी में चल बसे। दो दिन-रात मैंने इस ब्राह्मण मित्र की अथक सेवा की। पर उसे जाना था, वह चला गया। ईश्वर उसे स्वर्ग दे। मैं बहुत रोई, बेचारे उसके पुत्र और पुत्रवधू निरीह रह गए। मैं उन्हीं के घर रहकर उन्हें ढाढ़स देती रही। अभी वासुदेव महाराज का दसवां दिन भी नहीं हुआ था कि एक दिन रंगमहल के सिपाहियों ने आकर मुझे रानी का हुक्म सुनाया। रानी ने तुरन्त मुझे अपनी खिदमत में हाजिर होने का हुक्म भेजा था। प्यादों के साथ मेरे लिए कोई सवारी नहीं भेजी गई थी। इन सिपाहियों का जमादार मेरा परिचित एक बूढ़ा राजपूत था। वह मेरी ड्योढ़ी पर पहरे पर रह चुका था। मेरे राजसी ठाठ उसने देखे थे और मेरी कृपाओं का भी वह आभारी था। उसकी आंखें वेदनापूर्ण थीं। वह मुझसे कुछ कहना चाह रहा था, पर कह नहीं सकता था। उसका नाम रामसिंह था।

मैंने उससे पूछा, "क्या बात है रामसिंह?" उसने पुराने ही अभ्यास के अनुसार कहा, "सरकार को महारानी जी ने याद फरमाया है।" फिर जैसे वह असमंजस में पड़ गया। मेरे लिए सरकार शब्द का इस्तेमाल करने में जैसे उसने भूलकर डाली हो, मुझे ऐसा आभास हुआ। मैंने उसकी भाव-चेष्टा से यह भी भांप लिया कि मेरे लिए कोई सवारी रंगमहल से नहीं आई थी। बेचारा बूढ़ा राजपूत गोली के भाग्य पृष्ठों का रहस्य कहां समझता था! उसने झिझकते हुए कहा, "सवारी के लिए एक किराए का बहल मंगा लूं क्या?" मैंने हंसकर कहा, "नहीं रामसिंह, मैं पैदल ही तुम्हारे साथ चलती हूं।" परन्तु मेरी यह हंसी केवल हंसी ही थी। वास्तव में यह सब देखकर मेरा रोम-रोम कांप उठा था। भय और आशंका से

मेरा कलेजा धड़क रहा था। भांति-भांति के विचार मेरे मस्तिष्क में आते-जाते थे। एक अज्ञात अशुभ भावना ने मुझे घेर लिया था। पर अब तो जो कुछ मुझपर बीतनी थी, उसे झेलने को तैयार होने में ही कुशल थी। मैंने बच्चों को तसल्ली दी और सबकी नजर बचाकर पति को संकेत ही में कह दिया कि वह कोई भी अशुभ सन्देश सुनने को तैयार रहें तथा बच्चों को सुरक्षित स्थान में पहुंचा दें। मैं पैदल ही उसके साथ चल खड़ी हुई।

लहू का घूंट

मैं चन्द्रमहल से मिलने अपने महल में गई—उसी महल में जहां मैं इक्कीस बरस तक रानियों की भांति रह चुकी थी, जहां मेरे जीवन के मध्य भाग की बहुत-सी मीठी-कड़वी स्मृतियां दफन थीं। महल की ड्योढ़ियों में पैर रखते ही मेरा मन न जाने कैसा हो गया। सबसे प्रथम जिस व्यक्ति पर मेरी नजर पड़ी, उसे देखते ही मैं सिर से पैर तक कांप गई। यह वही नर-पशु गंगाराम गोला था। उसने मुझे कड़ी नजर से देखा, मुस्कराहट में कितनी अवज्ञा थी। मैं क्या कहूं! उसने कहा, "अभी बाहर ठहर! रानी जी पूजा में हैं, अभी मुलाकात नहीं होगी।" इस आदमी के मुंह लगना मैं नहीं चाहती थी। मैं चुपचाप एक ओर दालान में जा खड़ी हुई। उसने मेरे पास आकर कर्कश स्वर में कहा, "बैठ क्यों नहीं जाती?" उसने मुझे उस जगह की ओर इशारा किया जहां मेरी दासियां बैठती थीं, पर मैं भी कड़ी बन गई। मैंने रुखाई से कहा, "तू अपना काम कर, मेरा मन होगा तो बैठूंगी।"

सुनकर वह बेशर्म हंसने लगा। उसने व्यंगमयी भाषा में कहा, "अभी भी अपनेको रानी समझ रही हो! गोली-गुलाम का कलेजा तो छोटा नहीं है। वे दिन लद गए।" पर मैंने जवाब नहीं दिया। मैं बड़ी देर तक खड़ी इधर-उधर ताकती रही। बैठने का मेरा मन ही न हुआ। कभी-कभी

इच्छा होती थी कि चली जाऊं, पर मैंने ठहरना ही ठीक समझा। इतनी देर में एक दासी ने आकर कहा, "चलो, रानी जी बुलाती हैं।"

इस प्रकार की अवज्ञा का सम्बोधन अपने ही महल में सुनकर मैं क्रोध से तिलमिला उठी। पर लोहू का घूंट पीकर मैं भीतर पहुंची। मेरे ही छपरखट पर वह रानी एक शाल अंग पर डाले लेटी थी। मेरे साथ उसने एक दासी ही की भांति बात की। स्वर उसका बहुत ही रूखा था, नजर भी बड़ी खराब थी।

उसने कहा, "चम्पा गोली तू ही है?"

मैंने असीम धैर्य का परिचय दिया, फिर चम्पा गोली तो मैं थी ही, कहा, "जी!"

एक विचित्र दृष्टि से उसने मुझे देखा और एक कुटिल हास्य-रेखा उसके होंठों पर फैल गई। उसने कुछ रुककर कहा, "तू ही इस महल में रहती थी?"

"जी!"

"मेरा यहां रहना तो तुझे भाया न होगा?"

"मैं प्रसन्न हूं कि आप यहां हैं। क्या मैं आपकी कुछ सेवा कर सकती हूं?"

वह कुछ देर तक घूर-घूरकर मेरी ओर देखती रही। फिर बोली, "तू क्या मेरी चाकरी में रहेगी?"

"जी नहीं।"

"यदि मैं चाहूं?"

"नहीं।"

"नहीं क्यों, क्या तू इस घर की चाकर नहीं है?"

"लड़ाई करने से क्या लाभ है, रानीजी! मेरे योग्य कोई सेवा हो तो कहिए, मुझे प्रसन्नता होगी।"

"तू तो इस तरह बोलती है, जैसे कोई अहसान मेरे ऊपर करना चाहती हो।"

"मैं अहसान किसीपर नहीं करती।"

"तो तू मेरी चाकरी में रह, मैं तुझे निहाल कर दूंगी। तेरे बाल-

बच्चों का भी ध्यान रखूंगी।"

"बड़ी कृपा है आपकी। तो क्या अब मैं जाऊं?"

"तू इन्कार करती है मालजादी! उस भाड़े के टट्टू राजा के भरोसे न रहना। राजा। यहां मेरी गोद में बैठा है। अब रंगमहल पर मेरा ही अदल है!"

"जब कभी भी आप मुझे याद करेंगी, मैं आपकी सेवा करके प्रसन्न होऊंगी।" इतना कहकर मैं वहां से चल दी।

वह विष-भरी नागिन की भांति फुफकार उठी। उसने चीखकर कहा, "तू मेरी चाकरी में नहीं रहती तो अपनी लड़की को हाजिर कर।"

सुनकर मैं चोटी से एड़ी तक कांप गई। धरती-आसमान मुझे घूमते दिखाई देने लगे। मैं चली आई। यह उसकी बड़ी कृपा थी कि उसने मुझे रोका नहीं। पिटवाई नहीं। मैं चाहे भी जो हूं, अन्ततः जन्मजात गुलाम हूं, और वह रानी है, ठाकुर की बेटी। रंगमहल में वह मुझे पिटवा भी सकती थी, मरवा भी सकती थी, कायदे के अनुसार इस बात की कोई सुनवाई नहीं हो सकती थी।

दिल्ली की ओर

मैं रंगमहल के अपने कमरे में लौट आई। मैं नहीं जानती थी कि क्या होने वाला है। पर यह मैं समझ गई कि कोई नया कुचक्र मेरे [illegible] चल रहा है और मेरी तथा मेरी लड़की की आबरू खतरे में है। रानी ने मेरी लड़की को जो अपनी खिदमत में मांगा है। सो बेशक रानी उसकी आबरू की गाहक है। सम्भवतः वह मेरी सम्पत्ति भी हड़पना चाहती है। पर मैंने ठान ली कि चाहे मेरी जान चली जाए, पर मैं नहीं झुकूंगी और न अपनी लड़की को गुलाम बनने दूंगी। पर हाय री [illegible] मैं जन्मजात [illegible] गोली कैसी उल्टी बात सोच रही थी। पर, अब [illegible]

समय ही न था। अब तो वह समय आ गया था कि या तो अब या फिर कभी नहीं। मेरा कलेजा मुंह को आ रहा था। मैं निरीह अबला अब निपट अकेली असहाय थी, मेरा एकमात्र सहायक मित्र भी अब नहीं रहा था। मैंने बहुत बातों पर विचार किया और धड़कते हुए कलेजे से राजा से मुलाकात की। राजा मुझे एकान्त कक्ष में ले गया। वह बड़ा परेशान था, पर उसने अत्यन्त धैर्य और शान्ति से मुझसे बातचीत की। उसने मुझे बताया कि ए० जी० जी० का हुक्म मेरे लिए आ गया है कि मैं तुरन्त रंगमहल खाली कर दूं। सम्राट् ने बालक को मृत महाराज का उत्तराधिकारी मंजूर कर लिया है। शायद मुझे कुछ गुजारा मिलेगा, पर अभी उसका कुछ ठिकाना नहीं है। मुझे आपकी चिन्ता है। अभी किसुन मेरे पास आया था। उसने मुझे बताया कि आपको रानी ने बुलाया है। क्या महारानी से आपकी मुलाकात हुई?

मैंने संक्षेप में सब बात बताई और रोते-रोते कहा, "मेरी जान भले ही चली जाए, पर मेरी लड़की की इज्जत पर आंच न आने पाए।" राजा ने कहा, "यह समय दिल को मजबूत रखने का है। अब आपका रंगमहल में या रियासत में एक मिनट भी ठहरना निरापद नहीं है। रंगमहल में आपके वैरी नर-पशु गंगाराम गोले का अदल चल रहा है। उस पाजी को मैं जानता हूं। वह

धूर्त भी है और क्रूर भी। कल न जाने क्या हो। आप अभी इसी समय तुरन्त यहां से दिल्ली चली जायें। सामान कुछ नहीं ले जा सकेंगी। मेरी मोटर आपको चौराहे पर खड़ी मिलेगी। उसे आप मेरी तुच्छ स्नेह-भेंट समझिए। आप यहां अभी इसी शाम के झुटपुटे में पैदल ही निकल जाएं और चौराहे पर जाकर गाड़ी में बैठ जाएं। बच्चों को लेकर किसुन आपको गाड़ी में मिलेगा। मेरा ड्राइवर मेरा विश्वासभाजन बूढ़ा राजपूत है। उसपर भरोसा कर सकती हैं। आप सीधी दिल्ली की राह पकड़िये। यह थोड़ा-सा राह खर्च है, सो साथ रखिए।

उसने एक पर्स मेरे कांपते हाथों में थमा दिया और ठण्डी सांस लेकर कहा, "जाइए!" उसने मुझे हाथ जोड़कर नमस्कार किया। मैं पीपल के पत्ते की भांति कांप रही थी। बहुत चेष्टा करने पर भी मेरे मुंह से एक शब्द नहीं फूटा और मैं धड़कते हृदय और कांपते पैरों से चल खड़ी हुई।

मोटर यथास्थान खड़ी थी। उसमें सब बच्चे भी थे, पर मेरा पति न था। मेरी बड़ी लड़की मेरे बच्चे को छाती से लगाए बैठी थी। उसके नेत्रों में भय व्याप रहा था। यह पहला ही अवसर था, जब मैंने अपनी लड़की को इस तरह चिन्तित और उदास देखा। शायद उसके पिता ने उसे कुछ बातें बता दी थीं। छोटी लड़कियां भी घबराई हुई थीं, यद्यपि सारी बातें वे नहीं समझती थीं। मुझे देखकर उन्हें ढाढ़स मिला। उन्होंने बताया कि मेरा पति मेरी ही तलाश में उधर गया है। मैं बौखलाई-सी इधर-उधर देखने लगी। कुछ करते-धरते नहीं बन पड़ रहा था। ड्राइवर का कहना था कि यहां खड़ा रहना निरापद नहीं है, कहीं ऐसा न हो कि रंगमहल में मेरी ढूंढ़ मच रही हो। पर मैं वहां अपने पति को छोड़कर कैसे जा सकती थी। मैंने पति की तलाश में जाने का इरादा किया तो ड्राइवर ने बाधा देकर कहा, "आप मौत के मुंह में जा रही हैं।" वह तुरन्त चल देने के पक्ष में था और मेरे पति के लिए रुकना नहीं चाहता था। अभी मैं इस असमंजस में ही थी कि मैंने देखा, पांच-सात सिपाही मेरे पति को उसीकी पगड़ी से बांध उसे पीटते हुए उधर ही आ रहे हैं। देखकर मेरे मुंह से चीख निकलते-निकलते रह गई। ड्राइवर ने मुझे खींचकर गाड़ी में ढकेल दिया

और चिक डाल दी। वे लोग उसे मारते-पीटते और धक्के देते ले गए
मैंने सुना, वे कह रहे थे, "बता कहां है तेरी लड़की और वह गोली
बता और जल्दी बता।"

वे उसे मार रहे थे, धकेल रहे थे और मेरा धीर-वीर पति अप
मुंह जैसे सिए हुए था। वह न हाय करता था, न आह। न मारने
विरोध करता था, न घसीटने का। वह चुपचाप सब कुछ सह रहा था।

मैंने एक बार गाड़ी से उतरकर उसके पीछे जाने की चेष्टा की। प
ड्राइवर ने डांटकर कहा, "बेवकूफी मत करो, एक के पीछे सबकी मौ
मत बुलाओ।" उसने एक झटके के साथ गाड़ी स्टार्ट कर दी। मैं औं
मुंह गाड़ी में गिर पड़ी और गाड़ी तीर की भांति सड़क, राह, चौरा
पार करती हुई दिल्ली की राह पर उड़ चली।

मैं नहीं जानती कि मैं विक्षिप्तावस्था में थी या कि बेहोश। पर ज
मैं होश में आई तब बहुत देर तक नहीं समझ सकी कि कहां और कि
अवस्था में हूं। बहुत देर बाद समझ में आया कि मैं मोटर में हूं और दिल्ल
की राह पर भागी जा रही हूं। मैंने खिड़की से बाहर देखा—चौथ
पंचमी की क्षीण ज्योत्स्ना रूखे-सूखे पहाड़ी टीलों पर पड़ रही थी औ
उनके बीच टेढ़ी-मेढ़ी सड़क पर हमारी गाड़ी दौड़ी जा रही थी। मे
लड़की ने पानी का गिलास मेरे मुंह से लगा दिया और मेरा सिर व
अपने घुटनों में दबाकर बैठ गई। अब मेरी ज्ञान-भावना जाग गई थी औ
मेरे मानस-नेत्रों के सम्मुख मेरे पति की उसीकी पाग से बंधी हुई काय
थी, जो निर्दयी सिपाहियों से पीटी जा रही थी—निर्वाक् मौन धुनी ज
रही थी। हाय, मैं इस त्याग और तप के देवता को उन अधम पशुओं
बीच छोड़कर भागी चली जा रही हूं, अपनी अधम देह लेकर। न जा
उसपर कैसी बीत रही होगी। जिस पुरुष के प्रेम और सेवा से इस अध
शरीर का रोम-रोम बंधा पड़ा है, जिसके अपरिमित धैर्य और सहिष्णुत
ने उसे जीवित रखा है, और जिसने तिल-तिल अपनी आहुति देकर मुझ
अपने मूक-मौन प्यार से सम्पन्न किया, उसे मैं कैसे आज अपनी आंख
विपन्नावस्था में देखकर भी यहां से भाग आई अपने प्राणों को लेकर! इ

प्राणों का अब क्या होगा भला? किसकी भलाई में इनका सदुपयोग होगा? मेरा मन मचल पड़ा, मैं आहत पशु की भांति चीख उठी, "रोको, रोको। पीछे लौटो, मैं उनके बिना नहीं जाऊंगी। मैं मर मिटूंगी, जान दे दूंगी, वापस चलो, लौट चलो।"

पर बूढ़ा राजपूत दृढ़तापूर्वक स्टीयरिंग का चक्का पकड़े बैठा था। हवा में उसकी सफेद दाढ़ी फहरा रही थी। उसकी बड़ी सफेद पाग शरदाभ्र की भांति उस क्षीण चांदनी की मन्द ज्योत्स्ना में अपूर्व शोभा धारण कर रही थी। उसने पीछे मुंह फेरकर संकेत से ही मेरी पुत्री से कहा, "सावधान रहना, पकड़े रहना इन्हें, चोट न मार लें।"

और एक बार मैं फिर मूर्च्छित हो गई, या कहिए सो गई। बहुत देर तक मैं सोती रही और जब मैं जागी तब पौ फट रही थी। पूर्व में आकाश पर सफेदी फैल रही थी। चारों तरफ समतल मैदानों में हरे-भरे खेत लहलहा रहे थे। बूढ़ा कर्मठ राजपूत उसी भांति अपनी जगह पर डटा बैठा था। गाड़ी उड़ी चली जा रही थी। उसकी सफेद दाढ़ी उसी भांति हवा में फहरा रही थी। मैं फटी-फटी आंखों से अपने जीवन में उस अद्भुत नवीन दिवस के आगमन को देख रही थी। विरोध-भावना मेरी जैसे सो गई थी, चैतन्य का देवता जैसे मर गया था। मैं निश्चल, निष्प्राण-सी बैठी अपने भाग्य के ये खेल देख रही थी।

अन्ततः हम दिल्ली आ पहुंचे। अभी पहर-भर दिन चढ़ा था। नगर के एक भाग में पहुंचकर ड्राइवर ने एक छायादार स्थान पर गाड़ी रोक दी। उसने कुएं से पानी खींचा। बच्चों को जगाकर उनका हाथ-मुंह धुलाया। नित्य-कर्म से बच्चे निवृत्त हुए। फिर उसने अपनी झोली से कुछ सूखी मेवा निकालकर बच्चों को दी। इसके बाद उसने मेरे निकट आकर कहा, "मां जी, आप घबराइए नहीं। इन बच्चों की रक्षा का ध्यान आपको सबसे पहले करना चाहिए। बड़ी बात इसलिए कि आप इन्हें लेकर निकल आईं। अब सब ठीक हो जाएगा।"

मैंने कहा, "ठकरां, मैं कैसे धीरज धरूं? इन्हें मैंने किस हालत में देखा था! मैं कितनी निर्दयी हूं कि इन्हें उस हालत में छोड़ आई। कहो, कहो यह कहां तक ठीक हुआ?" उसने कहा, "ठीक हुआ, आपको

लड़की की आवरू वच गई।" उसने एक भेद-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। फिर धीरे से कहा, "किसुनसिंह को मैं ले जाऊंगा। आप अभी यहां इन वालकों को ठीया-ठिकाने लगाइए। अन्नदाता ने मुझे हुक्म दिया है कि आपकी सेवा में मैं यहीं रहूं। सो आप मेरे रहते कोई चिन्ता न करें।" उसकी वातों से मुझे ढाढ़स हुआ। अव यह सलाह होने लगी कि कहां चलना चाहिए। भलाई इसीमें थी कि हमें यथासम्भव गुप्त वास ही करना चाहिए और अपने दिल्ली में आने तथा रहने का किसीको पता भी न लगने देना चाहिए। दिल्ली में मेरे वकील का घर था। वही मेरी सम्पत्ति की भी देख-भाल रखता था तथा मेरा कानूनी सलाहकार था। हमने सव आगा-पीछा सोचकर उसीके पास चलने की ठानी।

ईश्वर का किस मुंह से धन्यवाद करूं कि उसने इस विपत्ति में केसरीसिंह जैसे सच्चे हितैषी सहायक को मुझे दिया। वह केवल ड्राइवर ही न था, नये राजा का दूर का सम्बन्धी, अच्छे खानदान का राजपूत था। राजा को वचपन में उसीने खिलाया था। राजा ने मेरे ऊपर और भी जितने छोटे-वड़े एहसान किए थे, उन सवसे वड़ा एहसान यह था कि उसने इस सच्चे वुजुर्ग राजपूत को मुझे दे दिया था। उसी ने इस विपत्ति-काल में भंवर से मेरी नैया निकाली, मेरी इज्जत और मेरे जीवन की रक्षा की।

मेरा वकील भी एक सज्जन पुरुप था। उसीकी सहायता से एक मुहल्ले में हमें एक छोटा-सा घर मिल गया और हम उसमें जाकर ठहर गये।

पति की रक्षा को निकल पड़ी

दिल्ली उन दिनों महत्त्वपूर्ण राजनीतिक वार्त्ताओं का केन्द्र हो रही थी। एक विचित्र गर्मी उन दिनों दिल्ली शहर के विचार-वातावरण में फैली हुई थी। उन दिनों अखवारों में वड़े-वड़े उत्तेजक शीर्षक निकलते थे।

आम चर्चा थी कि अंग्रेज सचमुच भारत को छोड़कर जा रहे हैं। मुसलमान पाकिस्तान की धुन अलाप रहे थे। दिल्ली के मुसलमानों में भी बड़ी सरगर्मी थी। बड़ी-बड़ी सभाएं रोज होती थीं। एक हद तक भय का भी वातावरण था। इस समय सारे ही देश के हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे से विपरीत रुख धारण किए हुए थे। गांधीजी के प्रवचन नित्य होते थे और उनकी चर्चा जगह-जगह होती थी। बहुत लोग गांधीजी से नाराज थे, खासकर हिन्दू-मुहल्लों के कुछ तरुण गांधी जी के विरोध में बड़े उत्तेजक भाषण देते थे पर जवाहरलाल और पटेल पर सबकी दृष्टि थी। लोगों का आकर्षण सबसे अधिक पटेल की ओर था। पटेल बहुत कम भाषण करते थे, उनका रुख ठाठदार था।

दिल्ली का वातावरण काफी उत्तेजक था। परन्तु मेरी तो सम्पूर्ण चेतना में मेरे पति का अभाव व्याप्त था। रह-रहकर मैं अपने पति के उद्धार के लिए रियासत में जाना चाह रही थी। अपना वश चलते मैं अपने पति को वहां अत्याचार का शिकार नहीं होने देना चाहती थी। केसरीसिंह ने मुझे बहुत समझाया, ढाढ़स दिया, पर बेकार। मैं जाने का हठ ठान बैठी। अन्ततः यह तय हुआ कि केसरीसिंह वहां जाकर सब हाल-चाल मालूम करे और सम्भव हो तो वह मेरे पति को वहां से ले आए। मैंने सब बातें समझा-बुझाकर उसे रवाना किया। साथ में काफी रुपया भी दिया। यह भी कह दिया कि यदि रुपया खर्चा करने से काम हो सके तो खर्च में कमी न की जाए।

केसरीसिंह चला गया और मैं उंगली पर गिन-गिनकर दिन काटने लगी। जितना ही मैं मन को समझाती थी, उतना ही मन अधीर होता जाता। मैं दिन-दिन-भर रोती रहती थी। रह-रहकर मुझे वे बीते दिन याद आ रहे थे, जब मैं राजा के साथ विलास करती थी और वह निरीह पुरुष वहीं हाजिर रहता था। उन सब बातों को याद करके आज मेरे मन में हूक उठती थी। मैं सोचती थी कि कैसे मैं वह सब कर सकी। और कुछ नहीं तो मैं अपनी जान तो दे ही सकती थी। पर अब तो यह वियोग हिमालय से भी भारी प्रतीत हो रहा था। रात-दिन मेरी आंखें बरस रही थीं।

दस दिन बाद केसरीसिंह आ गया। उसने यह हृदय-विदारक समाचार सुनाया कि वह रानी की चाकरी में है। उसपर बड़े से बड़े अत्याचार हो रहे हैं। उसे नित्य पीटा जाता है। उससे धन-सम्पत्ति के बारे में सारा ब्यौरा पूछा जाता है। उसे मारा भी जाता है, लोभ-लालच भी दिए जाते हैं, पर वह तो मुंह सिए बैठा है। एक शब्द भी मुंह से नहीं निकलता। केसरीसिंह ने उसे निकाल लाने की बहुत चेष्टा की। किन्तु व्यर्थ। उसीसे यह भी मालूम हुआ कि नया राजा अब रियासत में नहीं है। वह आबू में है।

अब मैं क्या करूं? किसकी सहायता लूं? मैंने अपने वकील से पूछा कि क्या किया जा सकता है। पर उसने कोरा जवाब दिया कि कानून आपकी मदद नहीं कर सकता। फिर भी मैंने जनाब वाइसराय को, ए० जी० जी० को और दूसरे अफसरों को अर्जियां लिखीं। अनेक नेताओं से मिली। दर-दर की धूल फांकी। सबकी हा-हा खाई। पर बेकार। कोई भी उपाय मेरे पति को वहां से उबारने में कारगर नहीं प्रमाणित हुआ।

अब तो एक ही उपाय था कि मैं अपनी जान पर खेल जाऊं और वही मैंने तय किया। मैंने स्वयं रियासत में जाने और अपने पति का उद्धार करने का निश्चय किया। घर-बार मैंने केसरसिंह के सुपुर्द किया। मेरा लड़का बम्बई से आ गया था, उसे मैंने समझा-बुझाकर अपने वकील के सुपुर्द किया। बड़ी लड़की को मेडिकल कालेज में भरती कर दिया। छोटे बच्चों के लिए एक बंगाली महिला गार्जियन नियत कर दी। सारी व्यवस्था करके, केवल थोड़े-से रुपये साथ लेकर मैं एक दिन फिर रियासत की ओर चल दी। मेरा कलेजा फटा जा रहा था। मैं नहीं जानती थी कि मैं लौटकर आऊंगी या नहीं। मैं अपने बच्चों को अनाथ किए जा रही थी। परन्तु मेरे ऊपर मेरी गैरत का तकाजा था। मैंने ठान ली कि खून करना पड़ेगा तो खून करूंगी, बिगाड़ होगी तो जान दूंगी, परन्तु मैं अपने पति को दासता के बन्धन से मुक्त करूंगी या मर मिटूंगी। मैंने रोते-कलपते बच्चों की ओर से मुंह मोड़ वहां से प्रस्थान कर दिया।

कई दिन से मैंने कपड़े नहीं बदले थे। बालों में कंघी नहीं की थी। पेट में अन्न का दाना नहीं डाला था। वास्तव में जब से वासुदेव महाराज मरे

थे, मैं अपना आपा खो बैठी थी। एक के बाद दूसरी विपत्ति मेरे ऊपर टूटी थी और अब मैंने रात-भर तीसरे दर्जे में सफर किया था। मेरा रूप तो समय ने पहले ही कम कर दिया था और अब मैं बड़ी ही घिनौनी बन गई थी। मैं सीधी रंगमहल जा पहुंची। किसी परिचित से मेरी भेंट नहीं हुई। मैं अपने रंगमहल की पौर पर जा खड़ी हुई।

सबसे पहले मुझपर उसी काने गंगाराम की नजर पड़ी। मुझे देखकर वह ऐसा चौंका जैसे अकस्मात् सांप को देखकर लोग चौंक पड़ते हैं। पर तुरन्त ही उसके चेहरे पर एक कुटिलतापूर्ण मुस्कराहट फूट पड़ी। उसने एक-दो बार सिर हिलाया और होठों में वह बड़बड़ाया। मैंने उससे बात न की। चुपचाप पौर में घुसकर मैं एक ओर बैठ गई। हां, वहीं जहां मेरी दासियां बैठती थीं और जहां बैठने से मैंने एक बार इन्कार कर दिया था। परन्तु आज तो तेज और दर्प कुछ भी मेरे पास न था। मैं भूखी थी, थकी थी, शोक और चिन्ताओं से अधमरी हो रही थी। आज तो मैं सड़क पर भी बैठ सकती थी। अब मान, सम्मान, मर्यादा की क्या बात रह गई थी भला!

पर मुझे देर तक बैठना न पड़ा। एक दासी मुझे तुरन्त ही रानी के कक्ष में ले गई। रानी शायद अभी सोकर ही उठी थी। सम्भव है, रात को अधिक दारू पी हो। आंखें उसकी अब भी नशे में झूम रही थीं। वह बड़ी देर तक मेरी ओर बाघिन की भांति घूर-घूरकर देखती रही। फिर उसने कहा, "तेरी छोकरी कहां है, बोल?"

मैंने कहा, "मैं अन्नदाता की खिजमत में आई हूं।"

"आई है सो तो ठीक है, पर तेरी छोकरी कहां है? उसे हाजिर कर, वर्ना जीती खाल खींच लूंगी। मालजादी, तू समझती थी कि तू छिपकर बैठी रहेगी! पर मैं तेरे खसम से ही सारा हिसाब बेबाक कर रही हूं।" उसने पुकारकर कहा, "कहां है रे किसना गुलाम!"

लड़खड़ाते पैरों से मेरा पति आया। उसका सारा मुंह सूजा हुआ था। पैरों में पट्टियां बंधी थीं। जगह-जगह उसके चेहरे और गर्दन पर घाव थे। उसके बाल बिखरे थे, उनमें खून लगकर सूख गया था। मुझे देखते ही वह आहत पशु की भांति कराह उठा। उसने आह भरकर कहा, "तुम

यहां क्यों आई ?"

"अच्छा तो तू गूंगा नहीं है, वदजात वोलना जानता है। पर वात उस मालजादी से ही करेगा। इधर आ।"

मेरा पति नई रानी के पास जा खड़ा हुआ। रानी ने निर्लज्जतापूर्वक घुटनों से ऊपर तक अपनी टांगें उघाड़ दीं और कहा, "पैर दवा।"

रानी की वेहयाई पर मेरी आंखें जल उठीं। मैंने उधर से आंखें फेर लीं। पर मेरे पति ने रानी का हुक्म नहीं माना। रानी ने गरजकर कहा, "हमारा हुक्म सुना नहीं रे वदजात !"

पर मेरे पति ने इसपर भी कोई जवाव नहीं दिया। उसने रानी की आज्ञा का पालन नहीं किया। रानी ने दांत किटकिटाकर कहा, "लगा रे गंगाराम दस-पांच।"

और गंगाराम की वेंत मेरे पति की कनपटी पर सपाक से पड़ी। पर दूसरा हाथ उठने से पहले ही मैं लपककर उसके आगे हाथ पसारकर आ खड़ी हुई। रानी ने कहा, "लगा, लगा, इस मालजादी को भी चखा।"

दूसरी बेंत ने मेरे सीने और गले का मांस उधेड़ दिया। पर इसी समय मेरा पति मुझे पीछे धकेल आगे आ गया और अब हमपर बेभाव की मार पड़ने लगी। हम दोनों ही एक-दूसरे को बचाने में लोहू-लुहान हो गए।

मैं शीघ्र ही बेहोश हो गई। जब होश आया तब मैंने अपने पति को अपने पास बैठे और बूंद-बूंद पानी मेरे मुंह में डालते देखा। मैंने दोनों हाथ उठाकर उसके गले में डाल दिए और फूट-फूटकर रोने लगी। यह हमारा प्रथम प्रेमालिंगन था।

मेरे पति के सब दांत टूट गए थे। होंठ सूज रहे थे। उनमें घाव भी थे: मालूम होता था कि मुझे बुलवाने के लिए उसे बहुत मार मारी गई थी। उसे गर्म लोहे से दागा गया था। उसने बड़ी ही कठिनता से कहा, "इस नरक में तुम नाहक आईं।"

मैंने उसके गले में शिथिल बांहें डालते हुए कहा, "तुम्हारे बिना मैं कैसे रह सकती थी?"

उसकी आंखों में भी एक आंसू आया। पर उसने उसे पोंछ लिया। वह बहुत कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था। उसे बोलने में बहुत कष्ट हो रहा था। उसकी यह दशा देखकर मैं भय से पीली पड़ गई।

मैंने कहा, "कहो, भाग निकलने की कोई राह है?"

"नहीं है, हम जन्मजात गुलाम हैं, भागेंगे कहां? हमारे बाप-दादा भी इसी भांति मरे और हमें भी यहां मरना होगा।" आंसू फिर उसकी आंखों से झरने लगे। पर मैंने कहा, "नहीं, मैं नहीं मरूंगी। मैं तुम्हें भी नहीं मरने दूंगी।"

उसने हताश वाणी में कहा, "क्या करोगी तुम? न आतीं, सो ही अच्छा था।"

उसकी वाणी में वेदना भरी हुई थी। मैंने ध्यान से उसकी ओर देखा। ऐसी कौन-सी यातना थी जो उसे नहीं दी गई हो। उसके नाखूनों में सुइयां घुसेड़ी गई थीं। लाठी के हूरों से दांत तोड़े गए थे। धरती पर डालकर लातों से उसे खूंदा गया था, गर्म सलाखों से उसे दागा गया था। यह आश्चर्य की ही बात थी कि वह जीवित था। उसने कुछ कहा मैंने अन्दाज से ही समझ लिया, वह कह रहा था, "तुम कैसे यह यातना बर्दाश्त

करोगी ?" मैंने कहा, "कोई चिन्ता नहीं, अब तो तुम्हारे दुःख में हा
बंटाने मैं आ ही गई हूं, अब तो जो कुछ होना है, एक साथ ही होगा।'"

आंख के आंसू पोंछ वह उठ खड़ा हुआ। उठने-बैठने और चलने में
उसे कष्ट हो रहा था। उसने उठकर ताक से एक प्याला अपनी सूजी हु
उंगलियों में उठाया। उनमें छाछ-बाजरे की बासी राबड़ी थी। वही ह
गरीब गुलामों का प्रसिद्ध भोजन है। उसे मेरे हाथों में देकर कहा, "थोड़
खालो, भूखी हो।" भूखी तो मैं थी ही। मैंने दो-चार कौर गले में उता
फिर बहुत-सा पानी पी गई। पर वह बासी पथ्य मुझ अभागिन के पेट
पचा नहीं। जोर की उलटी हुई और मुझे जूड़ी चढ़ आई। मैं ऐसी हिल
लगी कि जैसे आंधी में वृक्ष हिलते हैं। दांत मेरे किटकिटा रहे थे। गूदड़ी
जैसी एक कथरी, जो वहां थी, उसने मेरे ऊपर डाल दी। थोड़ी देर बा
मैं फिर बेहोश हो गई।

भेद की बातें

दूसरे दिन जब मैं जगी तब मुझे बड़ा तेज बुखार था। मेरा सार
शरीर तप रहा था। मेरा पति चिन्तित भाव से मेरे पास बैठा था। औ
मैं उस गन्दी कोठरी में भूमि पर पड़ी छटपटा रही थी। हमारा कोई हम
दर्द न था। हमारी हालत उस कुत्ते के समान थी, जिसे मर जाने पर भंग
घसीटकर ले जाता है।

परन्तु गंगाराम के व्यवहार में बहुत अन्तर था। यद्यपि मेरे पूरे होश
हवास कायम न थे, फिर भी मैं यह बात समझ रही थी कि वह एकाएक
मेरे ऊपर सदय हो गया है। वह कहीं से मेरे लिए दूध ले आया था और मे
पति से कह रहा था कि एक कम्बल भी वह मेरे लिए ला देगा। उस दिन
वह कई बार मेरा हालचाल लेने आया। मेरी तबियत कैसी है, यह भी
पूछा। उसकी वाणी में अब कर्कशता भी न थी। मैं उसके इस बदले हुए

रुख पर ध्यान देने लगी। मैंने अपने पति से कहा कि अगर यह कुछ लोभ-लालच से हमें दिल्ली भाग जाने में सहायता कर सके तो चेष्टा करनी चाहिए। पर मेरा पति मुझसे अधिक सावधान था। उसने कहा, "यह ब[illegible] पतित है। इसकी इस नर्मी का भी कुछ रहस्य है।" उसकी बात सत्य थी। कई दिन वह आता रहा, मेरे लिए दवा भी लाता। इस बीच हमारे सा[illegible] मारपीट नहीं हुई। रानी ने हमें तलब भी नहीं किया। बड़ी बात स[illegible]लिए। पर ज्यों ही मेरी तबियत जरा सुधरी उसने अपना मतलब हमारे सामने रख दिया। उसने कहा कि यदि हम अपनी लड़की उसके सुपुर्द कर दें और एक खासी रकम दें तो वह हमें दिल्ली भगा सकता है। खासी रकम उसे दी जा सकती थी, पर मैं अपनी लड़की उस जानवर को कैसे दे सकती थी! घृणा से मैं इतनी भर गई कि मैंने उसे कोई जवाब ही नहीं दिया।

हमारे ऊपर फिर सख्तियां होने लगीं। हमारे ऊपर जब-तब मा[illegible] पड़ती। हमारे रोग-शोक की किसीको चिन्ता न थी, न हमारे खाने-पी[illegible] की किसीको सुध थी। रानी बारंबार मेरी लड़की को तलब कर रही [illegible] और हमारी जमा-पूंजी कहां है, यह पूछ रही थी। मैंने स्पष्ट कह दि[illegible] था कि मैं इस सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी नहीं बतलाऊंगी।

अब कुछ विचित्र बातें भी मैं देख रही थी। मैंने देखा कि रानी औ[illegible] गंगाराम में भी झगड़ा होता है। यह बड़े आश्चर्य की बात थी कि रा[illegible] गंगाराम से दबती थी। वह उसे कभी-कभी बड़ी-बड़ी बात कह देता था। कभी-कभी तो दोनों में गाली-गलौज भी हो जाती थी। गंगाराम रा[illegible] का अदब-कायदा भी कुछ नहीं करता था। वह एक प्रकार से वहां क[illegible] स्वामी था और वह जो चाहता था, रानी से करा लेता था।

दूसरी विचित्र बात यह थी कि रानी को अपने बच्चे से कुछ [illegible] लगाव न था, मैंने न तो कभी रानी को उसे अपना दूध [illegible] प्यार करते। लड़का या तो धाय के पास रहता या [illegible] सबसे अधिक ध्यान रखता था।

रानी उस नीच-गुलाम-कुत्सित गोले से [illegible] मेरी समझ में नहीं आ रहा था, पर [illegible] देता था, पर मारपीट और ज्यादती नहीं [illegible]

मिलाप करना चाहता था।

ज्यों ही मैं स्वस्थ हुई, गंगाराम ने वालक राजा को मेरे सुपुर्द कर दिया। उसने मुझसे कहा, "वालक राजा का ध्यान रख, नहीं तो जीती नहीं छोड़ूंगा। मुझे खुश रखेगी तो किसना तेरे साथ रहेगा। तुझे कोई कुछ कहेगा भी नहीं।"

मैंने वालक को अपने अधिकार में ले लिया। मैं ही उसे नहलाती-धुलाती, खिलाती-सुलाती। अव मैंने और निकट से यह देखने का अवसर पाया कि रानी का वालक से विलकुल लगाव नहीं है, अपितु वह उसे घृणा की नजर से देखती है।

गंगाराम मेरी लड़की से व्याह करना चाहता था, यह उसने मुझसे स्पष्ट कह दिया। पर मैंने भी उसे वता दिया कि यह कभी होने का नहीं। गंगाराम के दवाव से रानी मुझसे मेरी लड़की की तलवी तो अवश्य करती थी, पर वह मेरी सम्पत्ति की चिन्ता में अधिक थी। अव तो यहां तक नौवत आई कि जव कभी रानी मुझपर और मेरे पति पर कोई सख्ती करती, तव गंगाराम हमारा ही पक्ष लेता।

दिन वीतते चले गए। मैं वहुधा अपने वच्चों की सुध करती, जिनके समाचार तक जानने का मेरे पास कोई साधन नहीं था। साथ ही मैं अपने पति की दुरवस्था देखती, जिनका शरीर भीतरी मार से जर्जर हो गया था और जो उठने-वैठने के योग्य भी न रह गया था। मेरी धन-सम्पत्ति उसीके हाथ में थी, इससे रानी उसीको अधिक सांसत में रखती थी, पर वह मेरी भांति रानी को स्पष्ट जवाव नहीं देता था, चुप्पी साध जाता था।

रानी अव उसे स्वयं मारती-पीटती थी, क्योंकि गंगाराम ने मार-पीट से इन्कार कर दिया था। अनेक वार तो उसने मेरे पति को रानी की मार से वचाया भी था। मेरा पति पथारी पर पड़ा रहता और मैं उसे देख-देखकर आंसू वहाती रहती। उसे कहीं ऐसी चोट लगी थी कि उसके पेशाव के साथ खून आने लगा। पर यहां न उसके पथ्य-पानी का कुछ प्रवंध था, न दवा-दारू का। मैं तो इसीको वड़ी वात समझती थी कि आने वाला दिन सही-सलामत वीत जाए और हमारे साथ मारपीट या कोई

शैतान को। फिर तेरी और तेरे आदमी की छुट्टी।"

जैसे अंगारा छूते ही आदमी चिहुंक पड़ता है, मैंने अनायास ही वह पुड़िया दूर फेंक दी। भय-विस्फारित नेत्रों से मैंने रानी को देखा और कहा, "यह क्या महारानी, आप अपने ही पुत्र की जान लेना चाहती हैं?"

उसने कहा, "तुझे इससे क्या? तू छुट्टी चाहती है तो मेरा यह काम कर दे।"

मैंने स्पष्ट कह दिया कि यह काम मैं नहीं कर सकूंगी और मैं द्वार खोलकर तीर की भांति वहां से निकल आई। सो अच्छा ही हुआ। रानी मुझपर उस समय कोई घातक आक्रमण करने वाली थी। मैंने उसकी गालियां सुनीं, पर रुकी नहीं। भय से मैं पीली पड़ रही थी। आकर मैंने अपने पति से सब बातें कह दीं।

गंगाराम से मैंने यह बात तो न बताई, पर इतना संकेत कर दिया कि बालक राजा खतरे में है और अब मैं उसकी रक्षा की जिम्मेदारी नहीं उठा सकती, वह कोई दूसरा प्रबन्ध कर ले।

मैंने उसका भेद नहीं खोला था, इससे वह मुझपर प्रसन्न था। अब वह सब बातें समझ गया था। उसने मुझसे बहुत अनुनय-विनय की कि मैं बालक का ध्यान रखूं। इसके बाद रानी से उसकी खूब लड़ाई हुई। यद्यपि मैंने देखा नहीं, पर मैं समझती हूं कि उसने उस दिन रानी को मारा-पीटा भी।

मेरी बुद्धि चकरा रही थी। यह नीच गोला इतने अधिकार से यहां कैसे रह रहा था? यहां तक उसका साहस था कि रानी से मार-पीट तक करे? पर कैसे आश्चर्य की बात थी कि रंगमहल में यह हुड़दंग हो रहा था और उसे कोई देखने, समझने, रोकने वाला न था।

दूसरे ही दिन मैंने सुना, रानी अपने मायके चली गई है। गंगाराम अब प्रसन्न था। उसने मुझसे कहा, "अब तू चलकर महल में अपने कमरे में रहकर बालक को पाल-पोस। चली गई वह डायन रानी, तेरी दुश्मन।" पर मुझे इस पशु पर तनिक भी भरोसा न था। फिर मेरे पति की दशा ठीक न थी। मैं अपने बच्चों के लिए भी चिन्तित थी। मैंने उसी गन्दी कोठरी में रहने का संकल्प किया। गंगाराम का अनुरोध नहीं माना।

किसुन का देहान्त

रानी के चले जाने से मुझे बहुत राहत मिली। गंगाराम अब हमारा हुत ख्याल रखता था। भोजन भी हमारे लिए रनवास के रसोड़े से आता ा। बच्चा अब डेढ़ वर्ष का हो गया था। पर अभी से इस बालक में बहुत- दोष उत्पन्न हो गए थे। देखने में वह सुन्दर और सुरूप न था। जिद्दी भी ा। कदाचित् पिछली धाय ने ये दोष उत्पन्न किए थे, या माता के दोष । मैं तो स्वभाव से ही बच्चों से प्रेम रखती थी। प्रेम मेरा इस बच्चे पर ी था, पर न जाने क्यों ममता नहीं उत्पन्न होती थी। फिर यह तो मेरे ऊपर जबर्दस्ती का एक भार लादा गया था। फिर भी मैं उसका लालन- ालन यत्न से करती थी। आखिर वह हमारा राजा था, अन्नदाता था, वामी था।

एक दिन मेरे पति ने रात के समय मुझे जगाया। उसकी दशा एकाएक बिगड़ चली थी। उसे निरन्तर दस्त लग रहे थे। उसने मेरे दोनों हाथ अपने सीने पर रखकर मन्द स्वर में कहा, "अब मैं जा रहा हूं चम्पा, मेरे गुलाम जीवन का यह अन्त है। तुम हिम्मत न हारना। भगवान पर भरोसा रखना। यहां से कभी तुम्हारी मुक्ति हो जाए तो बच्चों को अच्छी राह पर लगाना। मैं भगवान के दरबार में अरदास करूंगा कि वह तुम- पर और तुम्हारे बच्चों पर रहम करे।"

आंसू उसके गालों पर ढरक आए। मेरे मुंह से बड़ी देर तक बोली न निकली। बड़ी कठिनाई से मैंने कहा, "ऐसी बातें क्यों करते हो, तुम बहुत जल्द अच्छे हो जाओगे।" इसका उसने केवल एक फीकी मुस्कान में जवाब दिया। मैंने उसका बिछौना साफ किया, उसका शरीर साफ किया और दौड़कर मैं गंगाराम को बुला लाई। गंगाराम ने कहा, "ठहरो, मैं वैद्यराज को लाता हूं।"

परन्तु वैद्यराज नहीं आ पाए और थोड़ी देर बाद मेरे प्रियतम चल बसे—सेवा, धैर्य और तप का आजीवन उद्यापन करके। मेरा हाथ उनकी छाती पर ही रहा। उन्होंने दो हिचकियां लीं और आंखें उलट दीं। मेरा

एकमात्र सहारा टूट गया। मेरी जिन्दगी अंधेरी हो गई। मैं हाय कर
उनकी छाती पर गिर गई। मेरे दुःख का आज कोई साथी न था।
अकेली ही अपने दुःख में डूब-उतरा रही थी। मेरा दुःख इस रंगमहल
केवल मुझे ही छू रहा था। मैं याद कर रही थी उस दिन को, जिस दि
मेरा व्याह हुआ था। झूठ-मूठ का। केवल दिखावे के लिए। पर वह मे
लिए कैसा सच्चा पति प्रमाणित हुआ। उसने मुझे संसार के सभी पतिय
से अधिक प्यार किया। सब कुछ मुझे दिया, मुझसे लिया कभी कुछ नहीं
धन्य था वह पुरुष-रत्न और धन्य थी मैं अभागिन गोली, जिसे इस नर-रत
की पत्नी कहलाने का गर्व प्राप्त हुआ।

वड़ी देर तक मैं उनके वक्ष पर सिर धरे रोती रही। फिर मैंने अप
मन को ढाढ़स दिया। मैंने सोचा, अच्छा ही हुआ, इस दासता से उनक
मुक्ति हो गई। अब कोई उन्हें वहां परलोक में गोला-गुलाम नहीं क
सकता था। वह अब भगवान के दरबार में पहुंच चुके, जो दीन-वत्सल है
दीन-दयालु है, दीनानाथ है।

मैंने आंसू पोंछ लिए। दिन निकल आया था। गंगाराम वैद्यराज क
ले आया था। पर अब क्या काम था?

मैंने अकेले ही उनके शरीर को भली भांति साफ किया। मेरे पा
एक ही धुली साड़ी थी। उसीसे मैंने उनके शरीर को लपेट लिया। रंग
महल के सभी गोले-गोलियां वहां आ जुटे। पर सभी तमाशाई थे, वे अ
भी अपनी-अपनी आलोचना कर रहे थे। गंगाराम ने अवश्य इस सम
मेरी मदद की। मेरे पति की शव-यात्रा हुई और चिता भी जली। मेर
मन हुआ मैं चिता में कूदकर सती-धर्म का पालन करूं, परन्तु फिर सोच
यह तो महा-पाखण्ड होगा। मैंने अपने अतीत-कुत्सित जीवन पर नज
डाली। बच्चों का ध्यान किया। कदाचित् मुझे बच्चों के बीच रहने क
अवसर मिल जाए। मैंने अभी तक हिम्मत नहीं छोड़ी थी। जब तक चित
जलती रही, मैं एकटक उसे देखती रही। फिर धरती पर माथा टेकक
मैंने उस जाने वाले देवता को विदा किया और लौट आई उस सूनी कुटिय
में, जहां तब भी उनकी वेदनाएं मूर्त्त हो रही थीं।

मुक्ति

और भी कुछ दिन वीते। एक दिन ऐसा भी आया कि आंसू सूख गए और मेरे प्रियतम की एक स्मृति ही मेरे साथ रह गई। मैं कभी अपनी मां को, कभी कुंवरी को, कभी केसर को, कभी वासुदेव महाराज को, कभी अपने प्रियतम और कभी राजा को याद कर लेती थी और वहुधा विचार में मग्न हो जाती थी। परन्तु सव सूना, सव कुछ असार ही दिखाई देता था। कैसा विचित्र था यह संसार का खेल! जीवन समाप्त हो रहा था, पर गुलामी के वन्धन थे कि टूट नहीं पाते थे। मुझे अपने वच्चों की कोई खोज-खवर नहीं मिलती थी। उन्हें छोड़कर जिस प्रियतम की खोज में आई थी, वह भी विछुड़ गया था। रह गई थी यह दासता, जो मेरे रक्त के साथ थी। अव तो मेरा सारा ही प्यार, सारा ही रस इस एक वालक राजा पर केन्द्रित हो गया था, जिसके पालन-पोपण का भार मेरे ऊपर था। धीरे-धीरे उसपर मेरी ममता भी उत्पन्न होती चली जा रही थी। संक्षेप में अव वही मेरे जीवन का सहारा था।

उधर दुनिया में नई-नई घटनाएं घट रही थीं। महाराज्यों की सीमा-रेखाएं खंडित हो रही थीं। यूरोप का राष्ट्रवाद कराह रहा था। आसमान तक चढ़ी हुई अंग्रेजों की मूंछें नीचे झुक गई थीं। वे भारत को छोड़कर जा रहे थे। भारत में अव अपना ही—भारतीयों का राज्य होने वाला था और सव मुसलमान पाकिस्तान जा रहे थे। भांति-भांति की वातें सुनने में आ रही थीं, जिन्हें मैं गोली ठीक-ठीक नहीं समझ पाती थी। मैं तो यही चाहती थी कि अंग्रेजों का राज्य चला जाए, इन सव राजाओं को भी वे अपने साथ-साथ समुन्दर पार ले जाएं, तो हम गोली-गुलामों को मुक्ति मिले।

कुछ दिनों वाद सचमुच ही अंग्रेज भारत छोड़ गए। गांधी जी का भगीरथ-प्रयत्न सफल हुआ। मुसलमानों ने भी पाकिस्तान वना लिया। यह अफवाह जोरों पर थी कि पाकिस्तान से सव हिन्दू निकाले जा रहे हैं। लाहौर जल रहा है, मगर दिल्ली के घंटाघर पर सतरंगी रोशनी हो रही

है। फिर सुना, दिल्ली में भी मारकाट मची है। भगदड़ मची हुई है, कि
की जान-माल की खैरियत नहीं है। अपने बच्चों के लिए मैं छटपट
लगी। न जाने उनका क्या होगा। मैं केवल भगवान से प्रार्थना कर
थी। मारकाट और खून-खराबी की घटनाओं की खबरें पंजाब, सि
और राजस्थान के भिन्न-भिन्न अंगों से विकृत होकर रंगमहल में आ र
थीं जिन्हें सुन-सुनकर मेरा कलेजा कांप जाता था। लेकिन मैं कहां त
रोती! कहां तक कलपती! किन-किन बातों पर विचार करती। मैंने
अब अपने को भगवान के ही अर्पण कर दिया था। 'निर्धन के धन र
धनी रे' मैं गाती और आंसू बहाती। बालक राजा की सेवा मेरा व्रत थ
गंगाराम मेरे ऊपर सदय था। फिर भी मैं उसपर विश्वास नहीं कर
थी। कौन जाने कब यह पशु क्या करे। यद्यपि रंगमहल में वह बहु
धींगामुश्ती करता था, पर रानी की गैर-हाजिरी में उसकी जोत भी फीक
पड़ गई थी। रियासत के सब काम नया अंग्रेज दीवान कर रहा थ
जिसने शायद उसके काले कारनामे सुने थे और उसकी तम्बीह भी क
थी। इसीसे वह अब अधिक नम्र बन गया था—खासकर मेरे साथ, चूं
बालक-राजा मेरे ही हाथों पल रहा था।

एक दिन एक सर्वथा अनहोनी बात हुई। वासुदेव महाराज का पु
और मेरा बड़ा लड़का दोनों ही एक दिन सुबह दिन निकलते ही रंगमह
में अनपेक्षित रूप में आ धमके। मेरे बेटे ने मेरे चरणों की रज ली
वासुदेव महाराज के लड़के ने भी प्रणाम किया। उनके साथ और भ
अनेक कांग्रेसी जन थे। तभी मुझे ज्ञात हुआ कि पुण्य-प्रताप सरदार पटे
ने सब देशी राज्यों का विलय कर लिया है। अब भारत में कोई राज
नहीं है। अखण्ड भारत में अब जन-राज्य की स्थापना हुई है। इस विल
ने अब हम जन्म-जन्म के गुलाम-गोलियों को भी मानवीय अधिकारों
सम्पन्न कर दिया है। अब हम भी अपनेको मनुष्यों में गिन सकते हैं।

मैंने भूमि पर सिर टेककर देवता-स्वरूप उस सरदार पटेल के पुण्य
नाम को नमस्कार किया। दुनिया ने तो यही जाना कि देशी राज्यों
विलय के साथ वहां की सरकार भी प्रजातन्त्री हो गई। लोग जानते हों
कि मैं और मेरे जैसे हजारों गुलाम गोली-गोले भी उसके पुण्यहस्त से सद

के लिए स्वतन्त्र होकर मानवीय अधिकारों से सम्पन्न हो गए।

मेरे पुत्र ने हंसकर कहा, "चलो मां, हम सब तुम्हें लेने आए हैं।" मेरी आंखें तो आंसुओं से अन्धी हो रही थीं। चुपचाप मैंने बालक-राजा को एक बार चूमकर उसे गंगाराम के हवाले किया। उस निर्मम पशु के भी नेत्रों में जल भर आया। उसने हाथ जोड़कर मुझे प्रणाम किया।

मैं वहां से चल दी। अपने जन्म-जन्म की दासता को वहीं झाड़-पोंछ कर।

वासुदेव महाराज के घर आकर हमारा नहाना-धोना, खाना-पीना हुआ। तभी मुझे ज्ञात हुआ कि वासुदेव महाराज का यह सुशील पुत्र अब मिनिस्टर बन गया है। राजस्थान में भी अब जन-राज्य का श्रीगणेश हो गया है।

मैं अपने बच्चों के देखने के लिए अधीर हो रही थी। उसी दिन मैं अपने पुत्र के साथ दिल्ली चली आई। उन्हें अपनी छाती से लगाकर मैंने बहुत आंसू बहाए। पर ये सुख के आंसू थे। बच्चों ने भी अपने पिता, मेरे पति के लिए रुदन किया। अन्त में दुःख के बीते हुए दिनों को एक ओर धकेलकर हम अपने नये जीवन में प्रविष्ट हुए।

शेष जीवन

मेरा वकील बहुत सज्जन पुरुष था। उसने मेरी सम्पत्ति की बहुत उत्तम व्यवस्था कर दी थी तथा मेरे बच्चों की भी अच्छी देखभाल की थी। मेरा पुत्र उन्हींके साथ दिल्ली कोर्ट में प्रैक्टिस करने लगा था। अपनी प्रखर बुद्धि, कठोर श्रम और मिलनसारी से वह इसी अल्पकाल में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था। उसकी प्रैक्टिस चमक उठी थी और कोर्ट में उसका नाम आदर से लिया जाने लगा था।

केसरीसिंह एक प्रकार से मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ था। उसने

पिता की भांति मेरे बच्चों की रक्षा की थी। हम लोग भी उसे नौकर नहीं, अपने परिवार का एक सदस्य ही समझते थे।

अब तो हमारे सामने कोई विघ्न-बाधा नहीं थी। मैंने अपने सब फालतू हीरे-जवाहरात बेच दिए और पृथ्वीराज रोड पर यह कोठी खरीद ली। कोठी बहुत शानदार है। उसे मैंने अपनी रुचि के अनुसार सजाया है। अब आस-पास के सभी भद्रजन मुझे एक भद्र महिला के रूप में जानते हैं। यह कौन जानता है कि मैं जन्म-जन्म की गोली, अधम स्त्री-जाति की कलंक गोली 'चम्पा' हूं।

मेरा बंगला बहुत प्रसिद्ध हो गया है। वास्तव में मुझे फूलों से बहुत प्रेम है। दूर-दूर देशों के विदेशी दुर्लभ फूलों के पौधे मैंने अपने यहां लगाए हैं। मेरे गुलाब लोगों को बहुत पसन्द हैं। इन फूलों के कारण राजधानी के अनेक गण्य-मान्य महापुरुषों से मेरा सौहार्द है। ये लोग मुझे चम्पा कहते हैं। पुण्यश्लोक सरदार पटेल की पूरे कद की संगमरमर की मूर्ति मैंने अपने बंगले के प्रांगण में स्थापित की है। प्रति दिन ताजे फूलों से मैं उनका शृंगार करती हूं।

जैसे वे दिन बीत गए, उसी भांति ये दिन भी बीतते चले जा रहे हैं। मेरी लड़की ने एम० बी० बी० एस० पास कर लिया है, और मैंने उसका विवाह उसीकी पसन्द के एक दक्षिणात्य कुल के ब्राह्मण से कर दिया है। यह तरुण सुशील और मेधावी है। चरित्रवान है, पर दरिद्र परिवार का है। वह मेरी लड़की के ही साथ चिकित्सा शास्त्र पढ़ता था। विवाह करके मैंने दोनों को अमरीका भेज दिया था, वहां से वे दोनों उच्च शिक्षा प्राप्त कर लौट आए हैं और अब एक बड़े अस्पताल के संचालक हैं। दूसरी लड़की ने भी साहित्यरत्न और एम० ए० कर लिया है। उसका विवाह हाल ही में मैंने पदच्युत राजा से कर दिया है, जिसके अहसान के भार से मैं दबी हुई हूं। ये दोनों मेरे साथ ही रहते हैं। मेरे पुत्र का विवाह भी एक बड़े अफसर की विदुषी पुत्री से हुआ है। वे कुछ दिन पूर्व तक मेरे पड़ोस ही में रहते थे। अब अपनी यह कोठी पुत्री और दामाद को देकर मंसूरी की अपनी कोठी में चले गए हैं। मेरी छोटी लड़की दिल्ली विश्वविद्यालय में तथा छोटा पुत्र घर पर पढ़ रहा है।

अब मेरी यह अकथ कहानी समाप्त ही हो गई थी। हमारे सुख के दिन बीत रहे थे। पुरानी स्मृतियां कभी-कभी अवश्य चोट कर जाती थीं, पर मैं एक निर्लिप्त वीतराग पुरुष की भांति सन्तोष से अपने जीवन का शेष भाग व्यतीत कर रही थी। मेरी पुत्री के पुत्र हुआ था, और पुत्र के पुत्री। इससे मेरे सुख में और भी वृद्धि हो गई थी। मैं चाहती थी कि अब मैं अपनी कलम रख दूं कि अकस्मात् एक अद्‌भुत घटना घट गई। अब मैं आपको बिना उसे सुनाए तो लेखनी रखूंगी नहीं।

नई रानी की करुण कहानी

इस नई कोठी में आए मुझे सात बरस बीत चुके थे। मैं अपने नये जीवन की इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि पुरानी बातों को लगभग भूल ही गई थी। पदच्युत राजा अब मेरे साथ ही मेरी कोठी में रहते और मेरी स्टेट की देखभाल करते थे। अब तो वह मेरे दामाद थे। मेरा काम तो अब अपनी बेटी के बेटे को गोद में खिलाना-उछालना ही था। मेरा बेटा पड़ोस की कोठी में रहता था। दिन में कचहरी चला जाता तो बहू बच्चों को लेकर मेरे पास चली आती थी; मुझे अपने बच्चों को खिलाने का सौभाग्य तो प्राप्त नहीं हुआ था। अब मैं अपने बच्चों के बच्चों को खिला-कर स्वर्गीय सुख की अनुभूति पाती रहती थी।

दिन अपनी राह जा रहे थे कि एक दिन दीन-हीन मुफलिस-सी वृद्ध स्त्री मेरे सम्मुख आ खड़ी हुई। केसरीसिंह उसे ले आया था। वह बहुत डरी हुई थी और घबरा रही थी। केसरीसिंह ने मुझे बताया कि वह सुबह से ही धरना दिए बैठी है, आपसे मिलने का हठ किए है। मैंने उसकी ओर देखा और पूछा, "तुम्हारा किससे काम है बूढ़ी मां?" उसने कहा "चम्पारानी से।" इतने दिन बाद अपना पुराना नाम सुनकर मैं चौंक उठी। सब लोगों को वहां से हटा दिया। एकान्त होने पर मैंने उससे पूछा

'कहो, मेरा ही नाम चम्पा है, तुम्हारा मुझसे क्या काम है ?"

उसने कहा, "आप मेरे साथ चलिए। वह मर रही है और आपको याद कर रही है। मैं बड़ी कठिनाई से यहां आ पाई हूं। उसकी हालत बहुत खराब है।"

"वह कौन ? तुम किसकी बात कह रही हो ?"

"उसका नाम चन्द्रमहल है, रानीजी ! वह कहती है कि आप उसे जानती हैं। वह आप ही के देश की रहने वाली है।"

चन्द्रमहल का नाम सुनकर मैं जड़ हो गई। तो क्या चन्द्रमहल रानी यहां आई है ?

मैंने उससे पूछा, "वह कहां है ? और किस हालत में है ?"

उसने कहा, "पहाड़गंज में है, मेरे ही घर में रहती है, डेढ़ बरस ह गया। आदमी उसका मर गया है और उसके पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। और अब तो वह कुछ घड़ी की ही मेहमान है। आपसे मिलने को उसकी आत्मा तरस रही है, आप चलकर उससे मिल लीजिए।"

मैंने धड़कते कलेजे से कहा, "उसका आदमी क्या करता था ?"

"जी, हमारे यहां नगीने घिसे जाते हैं। उसका आदमी हमारे यहां सान खींचने की नौकरी करता था। तनखा पाता था तीस रुपए, पर दमा का बीमार था। पहले तो वह दूसरे मुहल्ले में रहती थी। अपने आदमी के लिए रोटी लेकर आती थी तो दोपहरी में मेरे पास बैठती थी। इससे उसके साथ मेरा मोह हो गया। मैंने एक कोठरी अपने घर में खाली कर दी थी तब से वह उसीमें रहने लगी थी। पर छः महीने हुए उसका आदमी म गया। वह बहुत रोई, कलपी। मुझे तरस आ गया। आखिर रानी जी आदमी ही आदमी के काम आता है। सो मैंने उसे वहीं रहने दिया किराया कुछ नहीं लेती। अब वही अपने आदमी की जगह सान खींच है। पर तुम जानो रानी जी, यह तो कसाले का काम है। वह बीमार प गई। हकीम कहते हैं, हड्डियों में बुखार बैठ गया है।"

मैं कुछ समझ नहीं पा रही थी। मैंने उससे और दो-चार प्रश्न पू और अब मुझे भरोसा हो गया कि यह अवश्य ही रानी चन्द्रमहल हैं। मैं उस औरत को दासी के साथ कुछ खाने-पीने के लिए भेज दिया अ

केसरीसिंह से गाड़ी निकालने को कहा। फिर मैंने अपने दामाद को बुलाकर संक्षेप में सारी बातें कहीं और उसे संग लेकर मैं बुढ़िया के साथ चल दी।

चन्द्रमहल रानी ही थी वह। अथवा यों कहिए कि वह चन्द्रमहल का कंकाल था। एक रत्ती-भर भी मांस उसके अंग पर न था। एकदम सूखकर कांटा हो गई थी। वह धरती पर एक टाट के टुकड़े पर पड़ी थी। बदन पर कहने को एक चिथड़ा था। मुझे देखकर उसने बड़े कष्ट से दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया। फिर उसकी दोनों आंखों से आंसुओं की धारा बह चली। उसके मुंह से शब्द नहीं निकले। देखकर मेरा कलेजा मुंह को आने लगा। मैं वहीं गन्दी धरती पर बैठ गई और उसका सिर उठाकर मैंने अपनी गोद में रख लिया। अपने आंचल से उसके आंसू पोंछे। न जाने कब मेरी आंखों से भी गंगा-जमुना की धारा बह चली। बुढ़िया को मैंने टरका दिया। मेरा दामाद भी मेरे पास बैठ गया। मैंने कहा, "रानी जी, यह आपकी कैसी हालत हो गई है? और यहां आप इस हालत में कैसे आ पड़ीं?

वह बड़ी देर तक रोती ही रही। मैंने उसे बहुत ढाढ़स बंधाया। पानी उसके मुंह में डाला, तब उसने अपनी अकथ कहानी आरम्भ की, जिसे सुनकर मेरी हड्डियां भी ठण्डी पड़ गईं।

उसने बताया, "दो बरस हुए तब मैंने एक दिन तुम्हें चांदनी चौक में देखा था। राजा तुम्हारे साथ था और शायद तुम्हारी लड़की भी थी। मैंने तुम्हें पहचान लिया और फिर तुम्हारी कोठी का भी पता लगाया। बहुत बार चाहा कि तुमसे मिलूं। अपनी पाप कथा तुमसे कहूं, शायद माफ कर दो, पर हिम्मत नहीं हुई। कैसे मैं तुम्हें अपना काला मुंह दिखाती, कैसे अपनी पाप-कथा तुम्हें सुनाती? क्या दुनिया में मुझ जैसी पापिन कोई दूसरी भी पैदा हुई है?"

मैं चुपचाप सुनती रही। विघ्न डालना मैंने ठीक नहीं समझा। कुछ दम लेकर उसने फिर कहा, "तुम बड़ी तेजवती हो, उदार हो, तुमने दुःख सहे हैं, दर्द झेले हैं। दुःख-दर्द का मर्म समझती हो। फिर स्त्री हो। शायद तुम माफ कर देतीं। पर राजा को मैं कैसे मुंह दिखा सकती थी। मेरा जुल्म, मेरा पाप क्या साधारण था? मैंने ही राजा को राज-सिंहासन से

उतारा। उसके भाग्य का सितारा अस्त कर दिया। उसी पाप का यह दण्ड भोग रही हूं।"

वह मेरे दामाद की ओर देखकर झर-झर आंसू वहाने लगी। मेरे दामाद ने आदरपूर्वक उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, "माता जी, आपने तो मेरा कुछ अपराध किया नहीं। आपके पुत्र का गद्दी पर हक था। उसके लिए गद्दी छोड़ने में मुझे क्या उज्र हो सकता था ?"

रानी ने कहा, "झूठ, झूठ, झूठ ! मेरा कोई पुत्र नहीं था। मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ ही नहीं। सब जाल था, जाल। कोरी धोखेबाजी। वह मेरा पुत्र नहीं, हर्गिज नहीं, कभी नहीं।" आवेश में आकर उसका सर्वांग कांपने लगा। मैंने दामाद की ओर देखा, उसने भी आंखों ही के संकेत से कहा, "कदाचित् रानी का दिमाग खराब हो गया है।"

पर रानी ने दृढ़ किन्तु धीमे स्वर में कहा, "तुम समझते हो कि मैं पागल हूं और मेरा दिमाग खराब हो गया है ? पर मैं बिलकुल होश में हूं। मैं सच कह रही हूं। बड़ा भारी कुचक्र चला था चम्पा ! एकदम जाल, वह लड़का मेरा नहीं, उस पतित, पापी, कुमार्गी गुलाम गंगाराम का था।"

इतना कहकर रानी हांफने लगी। हम दोनों की हालत ऐसी हो गई थी, जैसे रगों में खून सर्द होकर जम गया हो। मुझे वे सब बातें अब याद आ रही थीं। रानी का उस बालक के प्रति विराग, उसे मार डालने की चेष्टा और गंगाराम का उस बालक के प्रति आकर्षण। उसके कारण मेरे प्रति सदय भाव। बहुत-सी बातें जो तब समझ में नहीं आ रही थीं, आज साफ हो रही थीं। पर अभी मैं सत्य बात समझ नहीं रही थी, मैं कुछ हत-बुद्धि-सी रानी की ओर देखने लगी।

मैंने कहा, "रानी जी, आपका जी इस समय ठीक नहीं है। आप अपना मन शान्त कीजिए।"

"मेरा मन तभी शान्त होगा, जब सब बातें सच-सच तुम्हें बता दूंगी। देखो, यहां कलेजे में मेरे आग धधक रही है। मैं उसमें जली जा रही हूं। वह तभी ठण्डी होगी जब सब बातें तुम्हें बता लूंगी। तुम जो दण्ड दोगी, वह मैं सहर्ष स्वीकार करूंगी। तुम्हारा दण्ड स्वीकार करके मेरा पाप हल्का हो जाएगा।"

मैंने कहा, "खैर, आप जो कुछ कह रही थीं, वही कहिए।"

उन्होंने कहा," उस पतित गंगाराम से मेरा बचपन से ही सम्बन्ध था। वह हमारे घर का गोला था। एक गोली से उसका व्याह मेरे पिता ने कर दिया था। पर उसकी मुझपर शुरू से ही बुरी नजर थी । मैं कच्ची उम्र की अज्ञान लड़की उसके फन्दे में फंस गई और उसने मुझे उसी उम्र में भ्रष्ट कर दिया जिस उम्र में लड़कियां इन बातों को समझती भी नहीं हैं। फिर उसने लाल जी खवास से मिलकर एक बड़ी रकम ऐंठी और राजा से मेरा व्याह हो गया। खवास ने और इस गंगाराम ने राजा को तुम्हारे विरुद्ध खूब भड़काया और मेरे रूप की बढ़-बढ़कर तारीफ की। मेरे बाप का ठिकाना कर्जदार था। तीन लाख रुपया लेकर मेरे बाप ने बूढ़े राजा के साथ मुझे व्याह दिया। उस समय तुम आबू में थीं। वहां से तुम लौट-कर आओगी, इसका किसीको विश्वास न था, क्योंकि तुम्हें जान से मार डालने का सारा प्रबन्ध लाल जी खवास और गंगाराम ने कर डाला था। राजा को भी यह भरोसा दे दिया गया था कि मरने पर तुम्हारा सारा धन राजा को वापस मिल जाएगा तथा मेरे साथ मौज-मजा करने में कोई बाधा न रहेगी।

"पर तुम न केवल बच गई, बल्कि तुमने उनका भण्डाफोड़ ही कर दिया। लाल जी जेल गया, पर राजा को तुमने बचा लिया। अब हमने राजा की हत्या करने की ठान ली। इस समय गंगाराम की औरत को गर्भ था। हमने यह योजना बनाई कि राजा की हत्या कर डाली जाए, फिर गंगाराम के लड़के को अपना लड़का कहकर उसे राजा बना, उसकी आड़ में रियासत में मौज-मजा किया जाए।

"राजा को जहर देने में हमें कुछ भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। उसे हमने शराब में मिलाकर जहर दे दिया। राजा मर गया। हमारे ऊपर किसीने सन्देह नहीं किया। राजा के मरने पर नये राजा गोद आए। गद्दी-नशीन हुए। उस समय हम चुप रहे। हमें डर था कि कहीं हमारा खेल न बिगड़ जाए पर बाद में मैंने अपनेको गर्भवती प्रसिद्ध कर दिया और भेद खुल जाने के भय से रंगमहल से हटकर मायके चली आई। वहां बालक होने का पूरा नाटक खेला गया। लेडी डाक्टर को

उसकी फीस देने के लिए अवश्य मुझे अपने सारे जेवर बेचने पड़े, पर अब मुझे इसकी परवाह न थी। मैं तो अब राज्य की मालकिन ही होने वाली थी। हमें एक यह अन्देशा अवश्य था कि कहीं गंगाराम की औरत के लड़की न पैदा हो जाय। इसके लिए हमने दो-तीन और ऐसी औरतें जुटा ली थीं, जिनको उन्हीं दिनों बच्चा होने वाला था। परन्तु गंगाराम की औरत के लड़का ही हुआ। उस औरत को हमने डाक्टर की मदद से जचकी में ही खत्म कर दिया, और तब यह प्रसिद्ध कर दिया कि मेरे बच्चा हुआ है, जो राज्य का उत्तराधिकारी है।

"सब काम ठीक-ठाक हो गया था और गंगाराम का लड़का राजा स्वीकार कर लिया गया था। उस पाप का मतलब पूरा हो चुका था। अब मैं उसकी आंखों का कांटा बन गई थी। क्योंकि मैं ही अकेली इस मामले की राजदां थी। अब वह मुझे दबाने लगा। मैं भी उससे दबती थी। उससे मिलकर मैं बड़े-बड़े अपराध कर चुकी थी। मुझे अपने भी फंसने का भय था। उसीने मुझे मजबूर किया कि मैं तुम्हें और तुम्हारी लड़की को उसके हवाले कर दूं। उसने मुझे इस बात के लिए मजबूर किया कि मैं तुम्हारे पति को फंसाकर उससे तुम्हारी सब रकम वसूल करके उसे दे दूं। पर तुम्हारा पति तो मर-मिटा, लेकिन उसने मेरी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। मैं जवान थी, रानी थी, सुन्दर भी थी। तुम्हारा जैसा जीवन गया था, वह मैं जानती थी, मुझे आशा थी कि वह मेरे हत्थे चढ़ जाएगा। पर इसमें मुझे सफलता नहीं मिली। बहुत बार हमने उसे जहर देने की सोची, पर हमें अभी उससे कोई बड़ी रकम मिलने की आशा थी। उसे जितनी यातना दे सकते थे, हमने दी। उसने जान दे दी, पर आन न छोड़ी। ऐसे कांटे का था तुम्हारा पति!"

रानी फिर कुछ देर को चुप हो गई। हमारी हालत विचित्र हो रही थी। मैं नहीं जानती थी कि अब आगे और क्या सुनने को मिलेगा। रानी ने फिर कहना शुरू किया, "जब तुम्हारे पति से हमें कोई आशा न रही तब हमने तुम्हारी खोज-ढूंढ़ की। पर तुम न जाने कहां जा छिपी थीं। अगर दुर्भाग्य से तुम और तुम्हारी लड़की उस समय हमें मिल जातीं तो न जाने क्या होता।

"उस दिन जब अकस्मात् तुम मेरे सामने आ खड़ी हुई, तब मेरा मन
उठा। मैं तुम्हारे सामने ही तुम्हारे पति को गिराना चाहती थी, पर
सफलता नहीं मिली। इसी समय गंगाराम के मन का भाव बदल
। उसने अब तुम्हें अपना साधन बनाकर मुझे दूध की मक्खी की भांति
ाल फेंकना चाहा। अपना लड़का उसने तुम्हारे सुपुर्द कर दिया। जब
सरकारी कागज-पत्र दुरुस्त नहीं हुए और बड़े लाट ने जब तक उसे
ा स्वीकार नहीं किया, तब तक तो वह इधर-उधर करता रहा। पर
जी० जी० का हुक्म आते ही तो वह मेरी जान का गाहक बन बैठा।
 वह मुझे जहर देकर मार डालेगा, इसका कोई भरोसा न था। अतः
रंगमहल से भाग निकली। पीहर आई तो यहां का भी रंग ठीक न था।
छ लोग तो ऐसे थे ही, जो सच्ची बात जानते थे। अतः मेरे वहां जाते ही
ांव-कांव मच गई।

"इसी समय भाग्य ने मुझे एक ठोकर दी। एक ठाकुर बाबू रियासत
कहीं बाहर से सर्वे करने को आया हुआ था। एक-दो बार गंगाराम ने
 मुझसे उसका परिचय कराया था। ठाकुर पढ़ा-लिखा सुन्दर जवान
ा। इन दिनों वह यहीं मेरे पीहर में ठहरकर सर्वे कर रहा था। यहां
री-उसकी और भी घनिष्ठता हो गई। अब मैं अधिक अपनी लाज उघा-
ना नहीं चाहती। संकेत ही से समझ लो। मेरी जैसी मूढ़-पतिता स्त्री
ो गिरने में देर क्या लगती थी! उसने मुझे बड़े-बड़े सब्जबाग दिखाए।
ब इधर मुझे अपनी जान का खतरा था, सो सब माया मोह छोड़ मैं
ुपचाप उस बाबू के साथ भाग खड़ी हुई। वह मुझे यहां अपने गांव
 आया। मेरठ के निकट उसका गांव था। गांव में उसका छोटा-
ा कच्चा छप्पर वाला घर था, जिसमें एक अन्धी बुढ़िया उसकी मां
ा दादी थी। उसने मुझे अपनी ब्याहता जोरू कहकर सबको मेरा
परिचय दिया। पर यहां का वातावरण तो मुझे भाया ही नहीं। यहां
मुझे दूर कुएं से पानी भरकर लाना पड़ता। रोटी पकानी पड़ती, बर्तन साफ
करने पड़ते। ये काम तो मैंने कभी जीवन में किए न थे। पर अब क्या हो
सकता था! मैं घर छोड़ चुकी थी और मेरा खुल्लमखुल्ला मुंह काला हो
चुका था। इससे तो उस पतित गंगाराम की गुलामी करना या उसके हाथ

से जान खो देना लाख अच्छा था। पर अब तो तकदीर मुझे यहां खींच लाई थी। जैसे-तैसे दिन काटने आरम्भ किए, पर यहां तो खाने का भी ठिकाना न था। उसने मुझे झूठे ही सब्ज बाग दिखाए थे।

"मैंने उससे काम-धन्धा-रोजगार करने को कहा और वह मुझे लेकर रोजगार की तलाश में दिल्ली आया। दरीबे में हमने बारह रुपये माहवार पर एक छोटा-सा घर किराये पर लिया। पर वह आदमी, जो मेरा पति बनता था, किराया भी न दे सकता था। एक दिन वह दो दिन के लिए गांव गया और फिर लौटकर नहीं आया।

"अब मैं सोलह आना उस घर के मालिक की कृपा पर निर्भर थी। उसकी दरीबे में पीतल के जेवरों की एक दुकान थी। उसने अब मुझे उस मकान से हटाकर पहाड़गंज के एक मकान में रख दिया। वह मुझे तीस रुपए माहवार देता था और दूसरे-तीसरे दिन मेरे पास आता था। तीस रुपये में बड़े कष्ट से मेरा निर्वाह होता था, परन्तु मेरी तकदीर देखिए कि कुछ दिन बाद वह भी मर गया और मैं निपट निरीह हो गई।

"इसी मकान में मेरा परिचय एक और आदमी से हुआ। वह जात का मुसलमान था, नीचे की एक कोठरी में रहता था। वह इन लोगों के यहां सान खींचने का काम करता था। कभी-कभी वह मेरा कुछ सौदा-सुलफ ला देता था और मैं उसे बचा-खुचा खाना दे देती थी। बनिये के मरने पर मेरी हालत देख उसने मुझे अपने घर में डाल लिया और खाने के खर्च से मैं बेफिक्र हुई। पर उसे तनख्वाह में सिर्फ तीस रुपये मिलते थे। हमें उसी तनख्वाह में गुजर करनी थी। मैं उसीकी गन्दी कोठरी में आ रही। वह सुबह ही सान खींचने चला जाता और मैं रोटियां लेकर दोपहर को वहां जाती। शाम तक सान वाले की बीवी से बातें करती। बुढ़िया भलीमानस है। कुछ न कुछ देती रहती थी। पर अभी तो मेरी किस्मत को चार चांद लगने थे, एक दिन वह भी चार दिन की बीमारी में मर गया।

"अब तो मुझे इन्हीं लोगों का आसरा था। उसकी जिन्दगी में ही हम यहां आ रहे थे। बुढ़िया ने दया करके मुझे निकाला नहीं और अब मैं ही सान खींचने का काम करने लगी। बड़े कसाले का काम था। मैं तो पहले

से ही बीमार और कमजोर थी। शीघ्र ही मैं खाट से लग गई। कुछ र
मेरा टूटता ही न था। जब तक हड्डियां चलीं, मैंने काम किया। अब तो
चला-चली की वेला है बहन, माफ कर सको तो माफ कर दो, वरना
खैर! इसलिए मैंने तुम्हें बुलाया है। तुम आ गईं, बड़ी बात हुई। मरते
हुए को आराम देने का बड़ा सवाब है बहन! मुझे जो कहना था, कह
चुकी। अब तुम्हें जो जंचे सो करो, जो सजा मुनासिब समझो, दो।"

रानी को विश्वास न हुआ। उसने भर्राए गले से कहा, "क्या कहूं!"
मैंने उसकी गर्दन में अपनी बांहें डालकर उठा लिया। मेरे खाविंद ने भी
सहारा दिया। हम उसे मोटर में डाल अपने घर ले आए। केवल दो दिन
वह और जीवित रही। उसे बचाने के सभी उपाय व्यर्थ प्रमाणित हुए।

बस मुझ अभागिन की पाप-कथा समाप्त हो गई। पर अभी मेरा
जीवन तो शेष है ही और उसमें वे सब अच्छी-बुरी स्मृतियां गुंथी हुई हैं,
जो मेरे ऊपर गुज़री थीं।

मुझ अभागिन की पाप-कथा समाप्त हो गई। अभी मेरा जीवन शेष है। और उनमें वे सब अच्छी-बुरी स्मृतियां गुंथी हुई हैं, जो मेरे ऊपर गुजरी थीं। पर अब तो मैं सब सह गई हूं। अब तो दर्द ही मेरा शृंगार है। जब दर्द का मैंने प्यार में विसर्जन किया—तो यह दर्द तो पीड़ानन्द का रूप धारण कर गया। पीड़ानन्द दुनिया का सबसे गहरा आनन्द है, इसे मुझ अभागिनी से बढ़कर कौन जान सकता है ?

अब मैं आपसे बिछुड़ रही हूं, मेरा मन छटपटा रहा है, न जाने मेरी पाप-कथा सुनकर कितनी बहनों ने आंसू बहाए होंगे, कितने भाई गुस्से से तलमला उठे होंगे। परन्तु अब तो हंसने का दिन है। हंसकर ही मैं अपने दिन काट रही हूं। अब मैं जन्म-जात दुखिया हंस सकती हूं। आप भला क्यों न हंसें ! किसी दिन आइए, मेरे घर, मेरे गुलाब देखने। देखिए और दाद दीजिए। कितने ही किस्म के गुलाब हैं। इनमें कुछ मैंने पैदा किये हैं। अपने बच्चों ही की तरह मैं उन्हें पालती-पोसती हूं, प्यार करती हूं। फूलों को कौन प्यार न करेगा भला ? और अब तो मिसेज कृष्ण के गुलाब राजधानी में प्रसिद्ध हो गए हैं। मैंने बताया न कि इन फूलों के कारण राजधानी के अनेक गण्य-मान्य महापुरुषों से मेरा सौहार्द स्थापित हो गया है। वे मेरे फूलों की बहार का आनन्द लेने आते ही रहते हैं। पर लाल गुलाब मैं किसीको देती नहीं। आपको भी नहीं दूंगी, कहे देती हूं। लाल गुलाब तो प्रधानमन्त्री नेहरू के लिए हैं। हर सोमवार को मैं और मेरी लड़की एक टोकरी लाल गुलाब लेकर प्रधानमन्त्री के घर खूब भोर ही में पहुंच जाते हैं। बहुत खुश रहते हैं वे मेरे फूलों से। मेरी दुःख-गाथा सुनकर वे भी आंखें गीली कर लेते हैं। पर अब तो देखते ही हंसते हैं। और जब मेरी बेटी एक लाल फूल अपने हाथ से उनकी शेरवानी में लगा देती है तो वे उसकी ठोड़ी पकड़कर उसका दुलार करते हैं। क्या कहूं, बिना चाय पिलाये आने ही नहीं देते।

... ...

कदाचित् किसी दिन आप मेरे यहां आएं, जब मन हो आए, ४२० पृथ्वीराज रोड, नई दिल्ली। कृपया ४२० को न भूलिये।

०००